आचार्य भामह-विरचित

काव्यालङ्कार

भाष्यकार

देवेन्द्रनाथ शर्मा

हिन्दी-विभागाध्यक्ष, बिहार-विश्वविद्यालय

मुजफ्फरपुर

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

२०१९ विक्रमाब्द; १८८४ शकाब्द; १९६२ खृष्टाब्द

मुद्रक
तपन प्रिंटिंग प्रेस
पटना



स्व० पं० श्री शिवशरण शर्मा

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र

कथाशेष

पूज्य पितृपाद

पं० श्रीशिवशरण शर्मा

काव्य-सांख्य-वेदान्ततीर्थ

को

सादर, सभक्ति

'त्वदीयं वस्तु हे देव तुभ्यमेव समर्पये' ।

बच्चा

वक्तव्य

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण मौलिक पाण्डुलिपियों के प्रकाशन तो होते ही हैं, दूसरी भाषाओं के बहुमूल्य ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद भी प्रकाशित किये जाते हैं। अनुवाद-कार्य के लिए ग्रन्थों का चुनाव स्वयं परिषद् करती है। अनुवाद-योजना के अन्तर्गत अभी तक हमने दस ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। भामह-कृत 'काव्यालंकार' का यह सभाष्य हिन्दी-अनुवाद ग्यारहवाँ प्रकाशन है। हमारे मौलिक ग्रन्थों की तरह अनूदित ग्रन्थों का भी देश के विद्वानों ने यथेष्ट स्वागत किया है, जिससे परिषद् को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। अभी तक परिषद् ने अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, संस्कृत और तेलुगु भाषाओं के ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित किया है। तमिल भाषा के 'कम्बरामायण' का अनुवाद भी छप रहा है।

'काव्यालंकार' के रचयिता 'भामह' के सम्बन्ध में अधिक जानकारी तो नहीं प्राप्त होती, पर ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से इतना ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम 'रक्रिलगोमिन्' था—

सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम् ।

इसके अतिरिक्त 'काव्यालंकार' में वर्णित विषयों से यह भी ज्ञात होता है कि 'भामह' वैदिक धर्मोपासक थे। **'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन'** के प्रयोग से जाना जाता है कि दिङ्नाग और वसुबन्धु के पश्चात् 'भामह' की स्थिति थी। वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है कि 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं' सिद्धान्त के प्रतिपादक दिङ्नाग थे और 'ततोऽर्थादिति' के वसुबन्धु। इसलिए, भामह का समय ५०० ई० के आस-पास माना गया है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि भामह-कृत 'काव्यालंकार' संस्कृत-साहित्यशास्त्र का अत्यन्त प्राचीन और विशिष्ट ग्रंथ है। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता प्राचीन से प्राचीन साहित्यशास्त्रज्ञों ने मानी है; 'काव्यालंकार' अनेक प्राचीन साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का आधार-ग्रन्थ है। अतः, इस महत्त्वपूर्ण संस्कृत-ग्रन्थ का सभाष्य हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करते हुए हम परम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

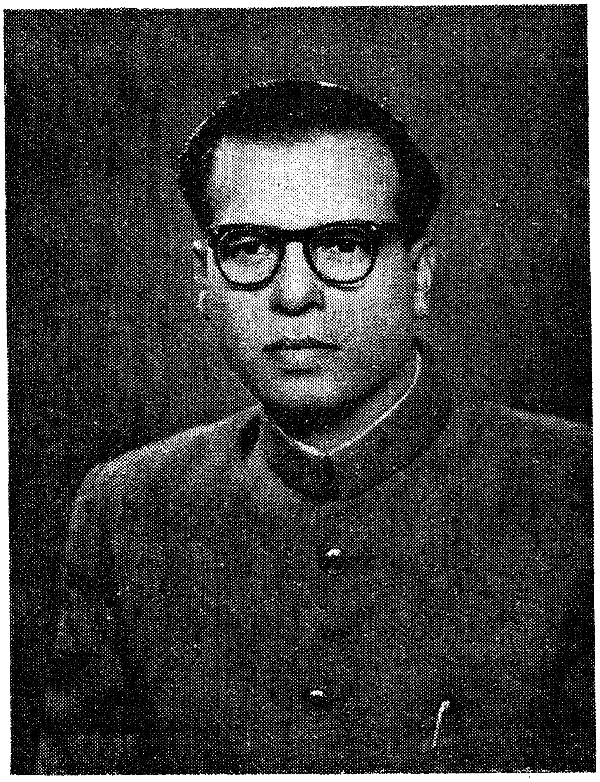
संस्कृत-ग्रन्थों में 'काव्यमीमांसा' और 'कथासरित्सागर' के मूल-सहित हिन्दी-अनुवाद हम पहले ही प्रकाशित कर चुके हैं। 'कथासरित्सागर' के दो खण्ड छपे हैं और तीसरे खण्ड की तैयारी की जा रही है। परिषद् के आग्रह पर प्रो० श्रीदेवेन्द्रनाथ शर्माजी 'सरस्वती-कण्ठाभरण' का भी हिन्दी-रूपान्तर कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के भाष्य-प्रणेता प्रो० श्रीदेवेन्द्रनाथ शर्मा हिन्दी, संस्कृत और अँगरेजी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। संस्कृत विद्या आपको आनुवंशिक रूप में प्राप्त हुई है; साथ ही रूसी, फ्रेंच, बँगला आदि भाषाओं का भी आपने सम्यक् अध्ययन किया है। विदेश में जाकर आपने अपने विद्या-वैभव से वहाँ के विद्वानों को प्रभावित किया है और अपने देश में भाषा-विज्ञान तथा ध्वनि-विज्ञान के पंडितों में अन्यतम हैं तथा आजकल आप बिहार-विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं। आप हिन्दी के सम्मान्य आलोचक, नाट्यकार और निबंध-लेखक हैं। आपके संस्कृत-काव्यशास्त्र के पाण्डित्य का उत्कर्ष सुधी पाठकों को इस ग्रंथ में सर्वत्र परिलक्षित होगा।

हमें पूरा विश्वास है कि आपके द्वारा प्रस्तुत यह सभाष्य हिन्दी-अनुवाद विद्वज्जनों में पूर्ण समादृत होगा, साथ ही इसके प्रकाशन से हिन्दी-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्त्ति भी होगी।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
श्रीरामनवमी, २०१६ वि०

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
संचालक



भाष्यकार

आमुख

यह ग्रन्थ पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण से मुक्ति पाने की दिशा में एक अत्यन्त साधारण प्रयास है। अपने संस्कृत के ज्ञान के लिए मैं एकमात्र पूज्य पितृचरणों का ऋणी हूँ। विद्वत्ता, विदग्धता और वाग्मिता के साथ आधुनिकता का वैसा स्पृहणीय समन्वय मैंने किसी संस्कृतज्ञ में नहीं देखा। उस अगाध ज्ञानराशि में से जितना पाना सम्भव था उतना मैं नहीं पा सका, कारण कि पिताजी का जीवन बड़ा ही कर्म-संकुल था : एक प्रथित संस्था के प्राचार्य; सार्वजनिक कार्यों के दिशा-निर्देशक; विपन्नों के अनन्य सहायक; साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मंचों के समादृत वक्ता। स्वभावत: उन्हें समय का सदा अभाव रहता था। फिर भी मुझे व्याकरण, साहित्य एवं दर्शन के लिये किसी दूसरे के सामने हाथ नहीं पसारना पड़ा। सब के ऊपर पिता का अमोघ आशीर्वाद! आज मेरे पास जो कुछ है वह सब उन्हीं का प्रसाद है—**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।** इच्छा रहते हुए भी, अतिशय व्यस्तता के कारण, वे लिखने का समय नहीं निकाल सके, पर मैं जो लिख रहा हूँ वह क्या उन्हीं का लिखना नहीं है? मेरी ध्वनि तो वस्तुत: उनकी प्रतिध्वनिमात्र है, क्योंकि **आत्मा वै जायते पुत्रः।**

भामह-कृत काव्यालंकार अलंकार-शास्त्र का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है किंतु अबतक उसका कोई ऐसा संस्करण नहीं निकला जो सर्वात्मना संतोषजनक हो। इस अभाव की ओर अपने संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में कणे महोदय ने भी इंगित किया है: "दुर्भाग्य से ये सभी मुद्रित संस्करण असंतोषजनक हैं। पांडुलिपि की सामग्री अत्यल्प है और संपादक न तो अनेक ग्रंथियों की व्याख्या करते हैं, न मूल ग्रंथ के विभिन्न पाठों को समन्वित करते हैं। भामह की कृति का एक विद्वत्तापूर्ण संस्करण बहुत अपेक्षित है।"*

मेरे लिए आनृण्य-प्राप्ति की भावना से कम प्रेरक कणे महोदय का यह कथन नहीं रहा। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रस्तुत संस्करण विद्वत्तापूर्ण या सभी त्रुटियों से मुक्त है। मेरा निवेदन इतना ही है कि अब यह बहुत कुछ सुपाठ्य हो गया है। मैंने ग्रंथियों की, जिनकी संख्या पर्याप्त है, यथाशक्ति व्याख्या की है और विभिन्न पाठों के समन्वय का भी

---

* Unfortunately all these printed editions are unsatisfactory. The manuscript material is meagre and the editors do not explain many knotty points, nor do they bring together all the various readings in Bhamaha's text. ...A scholarly edition of Bhamaha's work is a great desideratum.

—History of Sanskrit Poetics by P. V. Kane, P. 78.

प्रयास किया है। इसे देखकर कई मित्रों ने यहाँतक कहा कि संस्कृत के किसी भी ग्रंथ का ऐसा रूपांतर हिन्दी में नहीं हुआ है। पर मित्रों की प्रशंसा और विरोधियों की निंदा को मैं अधिक महत्त्व नहीं देता, क्योंकि दोनों की दृष्टि पक्षपातपूर्ण होती है। वही बात यदि तटस्थ आलोचक कहे तो उसका दूसरा मूल्य है। इसलिए कालिदास के शब्दों में **आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।**

इस संस्करण को तैयार करने में मैंने निम्नलिखित संस्करणों का उपयोग किया है :

(क) श्री के० पी० त्रिवेदी द्वारा संपादित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के परिशिष्ट के रूप में सर्वप्रथम मुद्रित काव्यालंकार (बंबई संस्कृत ऐंड प्राकृत सीरिज) १९०९ ई०।

(ख) श्रीनागनाथ शास्त्री द्वारा अंग्रेजी अनुवाद-सहित प्रकाशित काव्यालंकार, (तंजोर) १९२७ ई०।

(ग) श्रीवटुकनाथ शर्मा तथा श्रीबलदेव उपाध्याय द्वारा संपादित काव्यालंकार, (चौखंबा संस्कृत सीरिज) १९२८ ई०।

(घ) श्रीशैलताताचार्य द्वारा लिखित संस्कृत वृत्ति-सहित काव्यालंकार, (श्रीनिवास प्रेस, तिरुवदी) १९३४ ई०।

(ङ) श्रीशंकरराम शास्त्री द्वारा संपादित काव्यालंकार, (श्रीबालमनोरमा प्रेस, मद्रास) १९५६ ई०।

(इस अंतिम संस्करण में प्रथम तीन परिच्छेद अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणी-सहित हैं तथा शेष तीन केवल संस्कृत मूल-सहित।)

इन सभी संस्करणों का मूलाधार श्रीत्रिवेदी का ही संस्करण है। श्रीवटुकनाथ शर्मा तथा श्रीबलदेव उपाध्याय ने अपने संस्करण में श्रीत्रिवेदी के मुद्रित संस्करण के अतिरिक्त तीन पांडुलिपियों के उपयोग की भी चर्चा की है किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि उपर्युक्त तीनों पांडुलिपियाँ प्रतिलिपि-मात्र हैं और उनके स्थान या काल के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहने में वे असमर्थ हैं। श्रीत्रिवेदी ने दो पांडुलिपियों का उपयोग किया है जिनमें एक महाराज के संस्कृत पुस्तकालय, त्रिवेन्द्रम् से उपलब्ध हुई और दूसरी ओरियंटल लाइब्रेरी, मद्रास से। श्रीत्रिवेदी की धारणा है कि इनमें दूसरी पहली की प्रतिलिपि है। इस प्रकार एकमात्र त्रिवेन्द्रम्वाली पांडुलिपि ही महत्त्व की ठहरती है। ऐसी स्थिति में पाठभेद का अवसर नहीं रहना चाहिए था किन्तु प्रतिलिपिकारों के अज्ञान या अनवधान के कारण जो भूल होती हैं वे तो अप्रतीकार्य हैं। पाठ-संबंधी भ्रान्तियों के कारण काव्यालंकार में ऐसे बहुत स्थल हैं जिनका संगत और निश्चित अर्थ करने में कठिनता होती है। विभिन्न संस्करणों की तुलना के पश्चात् मैंने उन्हीं पाठों को रखा है जो अर्थ की दृष्टि से अधिक संतोषजनक प्रतीत हुए हैं। परिशिष्ट में पाठभेदों की सूची दे दी गयी है। जहाँ स्पष्टतः मुद्रण की भूल के कारण पाठभेद दिखायी देता है उसका उल्लेख नहीं किया गया है।

अन्य संस्करण तो सुगमता से मिल गये, परन्तु श्रीनागनाथ शास्त्री का संस्करण कहीं उपलब्ध नहीं था। बहुत प्रयत्न करने पर भी जब मैं उसे नहीं पा सका तब मैंने मद्रास विश्वविद्यालय के यशस्वी अध्यक्ष, अपने मित्र डॉ० राघवन से पूछा। उन्होंने बताया कि श्रीशास्त्री के सुपुत्र श्री टी० एन्० मुथुस्वामी अन्नामलइ-विश्वविद्यालय में भूगर्भशास्त्र के प्राध्यापक हैं। उनके पास वह पुस्तक हो सकती है। मैंने डॉ० राघवन के निर्देशानुसार श्रीमुथुस्वामी को पत्र लिखा। उन्होंने अविलंब पुस्तक की एक प्रति भेजकर मुझे जो उपकृत किया उसके लिए मैं हृदय से उनका आभार मानता हूँ। रास्ता बताने के लिए डा० राघवन का भी आभारी हूँ।

श्रीताताचार्य की संस्कृत टीका से मुझे पर्याप्त सहायता प्राप्त ई है। शेष संस्करण भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। मैं इन सभी सुधी सम्पादकों के प्रति अपना सम्मान और कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मैंने काव्यालंकार का केवल अनुवाद नहीं किया है, अपितु विशद व्याख्या या कहूँ कि भाष्य किया है। संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद मात्र से हिन्दी के पाठक को कुछ विशेष लाभ नहीं होता। इसके दो कारण हैं: एक तो संस्कृत की अभिव्यंजना-पद्धति की अत्यंत सूत्रात्मकता और दूसरा, अधिकारी का ध्यान। संस्कृत का लेखक यह मानकर कुछ लिखता है कि उसे समझने के लिए जो उपलब्धि अपेक्षित है उससे पाठक सम्पन्न है। उदाहरणार्थ, अन्नम्भट्ट लिखित तर्क-संग्रह का मंगलाचरण लीजिये :

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम्।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः॥

—हृदय में जगदीश को धारण कर और गुरु की वन्दना कर मैं **बालकों** के सुखपूर्वक बोध के लिए तर्कसंग्रह की रचना करता हूँ।

यहाँ 'बालानां' की व्याख्या करते हुए एक टीकाकार का कहना है कि '**अत्राधीत-व्याकरणकाव्यकोशोऽनधीतन्यायशास्त्रो बालः**' अर्थात् यहाँ **बालक** वह है जो व्याकरण, काव्य, कोश का तो पारंगत हो किन्तु न्यायशास्त्र से अपरिचित हो। जहाँ दुर्धर्ष विद्वान् भी बालक समझा जाता हो वहाँ प्रौढ कैसा होता होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अतः संस्कृत में गहन विषयों का भी सविस्तर प्रतिपादन नहीं, संकेतमात्र है। हिन्दी का पाठक उन साधनों और उपलब्धियों से प्रायः 'चित होता है जिन्हें स्वयंसिद्ध मानकर संस्कृत का लेखक कुछ लिखता है। स्वभावतः केवल अनुवाद उसके लिए पर्याप्त नहीं। यदि संस्कृत के आकर-ग्रंथों को हिन्दी के पाठकों के लिए बोधगम्य बनाना है तो व्याख्या और विस्तार का ही मार्ग अपनाना होगा।

इस बात को ध्यान में रखकर मैंने पहले मूल का अनुवाद दिया है और बाद में विषय के स्पष्टीकरण के लिए विस्तृत व्याख्या की है। अनुवाद को यथासंभव प्रामाणिक और हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल रखने का प्रयास किया है। अभी हिन्दी में अनुवाद की प्रामाणिकता का विशेष महत्त्व नहीं है और न उसकी कोई परम्परा बनी है। अतः बहुत लोग अनुवाद को बौद्धिक विलास-मात्र मानते हैं किन्तु जो भुक्तभोगी हैं उनका कुछ दूसरा

ही अनुभव है। उपयुक्त शब्द या अभिव्यंजना को ढूँढ़ने में जिस अनुवादक की कलम की स्याही सूख-सूख जाती हो वह उसे विलास मानने को सहसा कैसे तैयार होगा ?

भूमिका में भामह की काव्य-संबंधी मान्यताओं का विवेचन है। कई स्थलों पर परम्परागत विचारों से मेरा मतभेद रहा है जिसे मैंने सोपपत्तिक उपस्थित किया है। उन स्थलों पर विद्वानों की प्रतिक्रिया का मैं स्वागत करूँगा।

भामह के समय और दंडी के साथ उनके पौर्वापर्य के प्रश्न पर मैंने कुछ विस्तार से विचार करना चाहा था। विगत ५३ वर्षों में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में एतद्विषयक प्रचुर सामग्री सामने आयी है। कणे महोदय ने उसका सारांश, अपनी समीक्षा के साथ, काव्यशास्त्र के इतिहास में पर्याप्त विस्तार से प्रस्तुत किया है। अनेकत्र मैं उनके विचारों से सहमत होने में असमर्थ रहा हूँ पर सबका पूर्ण विवेचन करता तो सौ पृष्ठों से कम न लगते और जैसा मेरे एक मित्र ने कहा कि हिन्दी के पाठक को भामह के समय के विषय में उतनी अभिरुचि नहीं होगी जितनी उनकी काव्य-विषयक मान्यताओं में। मुझे उनके कथन में तथ्य दिखायी पड़ा इसलिए उस अंश को मैंने छोड़ दिया। परिशिष्ट में संक्षिप्त चर्चा कर दी है। काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं की मीमांसा करते समय मैंने **नानपेक्षितमुच्यते** को सदा ध्यान में रखा है।

इस ग्रंथ के प्रणयन में मुझे अपने दो अनन्य मित्रों—श्रीवेदप्रकाश त्रिपाठी, व्याकरण-साहित्य-वेदान्त-धर्मशास्त्र-आयुर्वेदाचार्य और श्रीरामदेव त्रिपाठी, एम्० ए०, व्याकरण-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न—से प्रचुर सहायता मिली है। दुरूह स्थलों का स्पष्टीकरण और पाठ-निर्धारण वेदप्रकाशजी की सहायता के बिना पूर्ण संतोषप्रद नहीं हो पाता। रामदेवजी ने इसका बहुलांश पढ़कर अनेक सुझाव दिये। एतदर्थ अपने इन दोनों बन्धुओं का मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ।

मैं इस प्रसंग में परम श्रद्धेय श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती (कवितार्किकचक्रवर्त्ती पंडित श्रीमहादेव पांडेयजी, साहित्य-व्याकरणाचार्य, भूतपूर्व प्राचार्य एवं साहित्यविभागाध्यक्ष, संस्कृत-महाविद्यालय, काशी-विश्वविद्यालय) का सादर स्मरण करता हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ को देखकर पूर्ण परितोष व्यक्त किया और भूरिशः प्रशंसा की।

अनेक विघ्न-बाधाओं के बीच जिन मित्रों की स्निग्ध प्रेरणा और आग्रह ने यह ग्रंथ पूरा कराया उनमें उल्लेखनीय हैं प्रो० पद्मनारायणजी आचार्य, डॉ० जयमंत मिश्र, प्रो० रतिकांत पाठक, प्रो० बम्शंभुदत्त झा, प्रो० रमाकांत पाठक, प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी और प्रो० सुरेन्द्र कुमार। पर मैं जानता हूँ कि इन्हें उपचार-वचन से अधिक प्रिय और आह्लादक इस ग्रंथ का प्रकाशन होगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने इस ग्रंथ के प्रकाशन की व्यवस्था की है जिसके लिए मैं उसका आभारी हूँ। परिषद् के संचालक बंधुवर डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के प्रति, जिनसे मुझे सदा स्नेह-सद्भावपूर्ण साहाय्य प्राप्त हुआ है, किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करूँ, नहीं समझ पाता। इस ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाश में लाने का श्रेय परिषद् के

प्रकाशनाधिकारी श्रीअनूपलालजी मंडल और श्री श्रीरंजन सूरिदेवजी को है। मैं इन मित्रों का कृतज्ञ हूँ।

भारती-भवन के श्रीमोहितमोहन बोस को भी धन्यवाद देना मैं नहीं भूल सकता जिन्होंने इस ग्रंथ के मुद्रण में श्लाघ्य सुरुचि और तत्परता दिखायी है।

परिषद् ने सरस्वतीकंठाभरण के हिन्दी-रूपांतर का कार्य मुझे सौंपा है। मैंने उसमें भी काव्यालंकार की ही सरणि रखी है। यदि बाधाएँ न आयीं तो उसे शीघ्र ही प्रस्तुत करने की आशा करता हूँ।

इस ग्रन्थ का आरम्भ पिता की पुण्य स्मृति से प्रेरित हुआ और अन्त परमपिता की असीम अनुकंपा से सम्पन्न। तदर्थ मेरी श्रद्धा-भक्ति-समन्वित प्रणति।

हिन्दी-विभाग, बिहार-विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर
श्रीरामनवमी, २०१६ वि०

देवेन्द्रनाथ शर्मा

विषय-सूची

भूमिका

पृष्ठ-संख्या

द्वितीय परिच्छेद (पृ० २९—६६)

तृतीय परिच्छेद (पृ० ६७—८६)

पृष्ठ-संख्या

षष्ठ परिच्छेद (पृ० १४३-१७९)

काव्यालंकार

आचार्य भामह-कृत काव्यालंकार अलंकारशास्त्र का प्राचीनतम ग्रंथ है। भरत का नाट्यशास्त्र यद्यपि इससे प्राचीन माना जाता है किन्तु उसका निरूप्य विषय दृश्य-काव्य है, अतः वह अलंकारशास्त्र की परंपरा-स्वीकृत श्रेणी में नहीं आता। आरम्भ में नाट्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र की स्थिति परस्पर स्वतंत्र तथा निरपेक्ष थी; नाट्यशास्त्र का सम्बन्ध दृश्यकाव्य से था और अलंकारशास्त्र का श्रव्यकाव्य से। आगे चलकर दोनों 'काव्य' की व्यापक परिधि में सन्निविष्ट हो गये और काव्यशास्त्र के नाम से अभिहित होने लगे।

संस्कृत में अलंकार-ग्रंथों की रचना तीन शैलियों में हुई है—१. कारिका; २. कारिका-वृत्ति और ३. सूत्र-वृत्ति। उदाहरणार्थ :

कारिका—काव्यालंकार (भामह); काव्यादर्श (दण्डी); काव्यालंकार (रुद्रट): काव्यालंकारसार-संग्रह (उद्भट); चन्द्रालोक (जयदेव) आदि।

कारिका-वृत्ति— ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन); वक्रोक्तिजीवित (कुंतक); सरस्वती-कण्ठाभरण (भोज); काव्यप्रकाश (मम्मट); साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) आदि।

सूत्र-वृत्ति— काव्यलंकारसूत्र (वामन); काव्यानुशासन (हेमचन्द्र); रसगंगाधर (जगन्नाथ) आदि।

काव्यलंकारसूत्र के विषय में एक विद्वान् ने लिखा है कि 'सूत्र-शैली में लिखा हुआ काव्यशास्त्र का कदाचित् यह एकमात्र ग्रंथ है।' किन्तु बात ऐसी नहीं है। जैसा हमने ऊपर निर्देश किया है, हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन' और पंडितराज का 'रसगंगाधर' सूत्र-शैली में ही रचित हैं। रुय्यक का अलंकारसर्वस्व भी सूत्र-शैली का ही उदाहरण है।

काव्यालंकार में ६ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण, भेद इत्यादि सामान्य विषय निरूपित हैं; द्वितीय में गुण और अलंकार; तृतीय में अलंकार; चतुर्थ में दोष; पंचम में न्याय-विरोधी दोष और षष्ठ में शब्द-शुद्धि। पंचम परिच्छेद का आधार तर्कशास्त्र है और षष्ठ का पाणिनीय व्याकरण। अतः, ये दोनों प्रकरण हिन्दी के विद्यार्थी के लिए क्लिष्ट हैं। न्याय-विरोधी दोष का प्रकरण क्लिष्ट होते हुए भी अनुपादेय नहीं है; शब्द-शुद्धिवाला प्रकरण असंस्कृतज्ञ के लिए क्लिष्ट तो है ही, अनुपयोगी भी है।

ग्रंथ के अंत में लेखक ने स्वयं निरूप्य विषयों की तालिका यों दी है—साठ कारिकाओं में काव्य का शरीर, एक सौ साठ में अलंकार, पचास में दोष-दर्शन, सत्तर में न्याय-निरूपण, साठ में शब्द-शुद्धि, इस प्रकार भामह ने पाँच विषयों को क्रमशः ६ परिच्छेदों में प्रतिपादित किया है।[1]

कारिकाओं की संख्या का यह निर्देश स्थूल रूप से ही समझना चाहिए, क्योंकि इसमें यत्र-तत्र अन्तर भी दीखता है, जैसे प्रथम-परिच्छेद में काव्य-शरीर का निरूपण है, जिसमें भामह के कथनानुसार साठ कारिकाएँ होनी चाहिए, किन्तु सभी मुद्रित प्रतियों में प्रथम परिच्छेद की कारिका-संख्या उनसठ है। कारिकाओं की संख्या परिच्छेदशः इस प्रकार है :

प्रथम— ५९; द्वितीय—९६; तृतीय—५८; चतुर्थ—५१; पंचम—६९; षष्ठ—६६। योग—३९९।

भामह के निर्देशानुसार यह संख्या ४०० होनी चाहिए।

इस ग्रंथ में लक्षण और उदाहरण दोनों भामह के ही रचे हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह जो लिख दिया कि 'संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे;'[2] इससे हिन्दी जगत् में भारी भ्रम उत्पन्न हो गया। संस्कृत साहित्य से अपरिचित व्यक्ति यह मान बैठे कि संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों के रचयिताओं ने स्वयं लक्षण-मात्र प्रस्तुत किये और उदाहरण दूसरों से लिये, परन्तु ऐसे आचार्यों की संख्या उपेक्षणीय नहीं है जिन्होंने लक्षण-उदाहरण दोनों की रचना स्वयं की है; जैसे, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वाग्भट, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, कृष्णदीक्षित, नरसिंह, देवशंकर, पंडितराज जगन्नाथ आदि। इसीसे सम्बद्ध एक दूसरा भ्रम यह भी है कि आश्रयदाता को उपजीव्य बनाकर लक्षण-ग्रंथ की रचना (जैसे शिवराजभूषण) रीतिकाल की अपनी विशेषता है। पर यह परम्परा भी संस्कृत में पर्याप्त लोकप्रिय थी और इसके उदाहरण हैं विद्याधर की एकावली, विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण, कृष्णदीक्षित का रघुनाथभूपालीय, नरसिंह का नञ्जराजयशोभूषण और देवशंकर की अलंकारमंजूषा। इन सभी ग्रंथों में काव्यांगों के उदाहरण अपने आश्रयदाताओं पर ही घटित किये गये हैं।

---

१. षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः॥—का० ६, ६५-६६।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास (२००२ सं०), पृ० २०२।

तो भामह ने लक्षण ही नहीं, उदाहरण भी स्वयं गढ़े हैं। हाँ, अपवाद के रूप में तीन-चार उदाहरण उन्होंने दूसरों की रचनाओं से उद्धृत किये हैं और यथास्थान तत्तत् लेखकों के नामों का निर्देश कर दिया है।

जो ग्रंथ कारिका-रूप में हैं उनके लक्षण और उदाहरण दोनों ग्रंथकर्त्ता द्वारा ही प्रस्तुत हैं। दूसरों के उदाहरण मुख्यतः उन ग्रंथों में उद्धृत किये गये हैं जो कारिका-वृत्ति या सूत्र-वृत्ति की शैली में लिखित हैं। इन दोनों श्रेणियों के ग्रंथों में स्व-रचित उदाहरण देने का आग्रह वहीं है जहाँ लेखक को अपने आश्रयदाता की स्तुति (जैसे एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण आदि में) अभीष्ट है अथवा अपनी कवित्व-शक्ति का दृप्त आत्मविश्वास है। पंडितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में जो स्वरचित उदाहरण दिये हैं वह अपने कवित्व-प्रदर्शन की भावना से प्रेरित होकर ही। जैसा उन्होंने स्वयं कहा है :

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

—मैंने उदाहरण के रूप में नयी कविता रची है; इस ग्रंथ (रसगंगाधर) में दूसरे का मैंने कुछ भी नहीं रखा है। स्वयं कस्तूरी उत्पन्न करने की क्षमता रखनेवाला मृग क्या कभी फूलों की गंध का आग्रही होता है?

काव्य-लक्षण

काव्य-लक्षणों की चर्चा के प्रसंग में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को भामह-निर्मित लक्षण कहकर उद्धृत कर दिया जाता है किन्तु वैसा करते समय दो बातें भुला दी जाती हैं। एक तो यह कि इस तथाकथित लक्षण में काव्यत्व के व्यवच्छेदक किसी भी धर्म का निर्देश नहीं है; शब्द और अर्थ के सहभाव-मात्र को काव्य मानना वाणी के समस्त प्रपंच को काव्य मानना है और यह ऐसी अतिव्याप्ति है जिसकी आशा भामह-जैसे आचार्य से नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह कि 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' दो पूर्ववर्त्ती एवं परस्पर-विरोधी मतों का समन्वय-साधक वाक्य है।

विषय के स्पष्टीकरण के लिए पूरे प्रकरण पर ध्यान दें।

प्रथम परिच्छेद की १३वीं, १४वीं, १५वीं (पूर्वार्ध) कारिकाओं[1] में जो पक्ष उपस्थित किये गये हैं उन्हीं के समाधान के रूप में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' आया है। इन

१. रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥—१३
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥—१४
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।—१५

कारिकाओं से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भामह के पूर्व आलंकारिकों के दो वर्ग थे जिनमें एक अर्थालंकार का महत्त्व देता था, दूसरा शब्दालंकार को। इसका समर्थन कुंतक के इस कथन से भी होता है:

केषाञ्चिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यम् इति, केषाञ्चिद्वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यम् इति।

—व० जी० १।७ की वृत्ति

—कुछ लोगों का मत है कि कवि-कौशल से कल्पित सौन्दर्यातिशयशाली केवल शब्द ही काव्य है और कुछ लोगों का मत है कि रचना-वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है।

अर्थालंकारवादियों की मान्यता थी कि रूपक, उपमा आदि अर्थालंकार काव्य-शोभा के निष्पादक हैं, कारण कि काव्य-जनित आनंदानुभूति वस्तुतः अर्थप्रतीति के अनंतर ही होती है; अतः अर्थाश्रित चमत्कार ही उस आनंदानुभूति का अव्यवहित उपकारक हो सकता है। स्वभावतः अर्थालंकार का महत्त्व असंदिग्ध है।

इसके प्रतिकूल शब्दालंकारवादियों का तर्क यह कि जब शब्द श्रुति-गोचर हो लेता है तभी अर्थ-प्रतीति होती है, अतः हृदय पर पहला प्रभाव शब्द का ही पड़ता है और उसीसे हृदय आवर्जित तथा आह्लादित होता है। चूँकि अर्थालंकार की प्रतीति अर्थबोध के बाद होती है इसलिए वह बाह्य या गौण है। दूसरा, यह कि जिसे अर्थ तक पहुँचने की क्षमता नहीं है वह भी शब्द-माधुर्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अनुप्रास-बहुल रचना को सुनकर, बिना अर्थ समझे भी, लोग फड़क उठते हैं और 'वाह-वाह,' 'क्या खूब,' 'कमाल है' की झड़ी लगा देते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि काव्य के रसास्वादन की भूमिका शब्दालंकार ही प्रस्तुत करता है, अतः काव्य में उसीकी प्रमुखता स्वीकार करनी चाहिए।

भामह ने देखा कि ये दोनों मत अतिवादी तो हैं ही, एकांगी भी हैं। इसलिए उन्होंने समन्वय प्रस्तुत करते हुए कहा कि शब्द के शोभाधायक होने से शब्दालंकार और अर्थ के शोभाधायक होने से अर्थालंकार दोनों ही हमें अभीष्ट हैं, क्योंकि वे एक-दूसरे में अंतर्भुक्त नहीं हो सकते:

शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः।—१।१५

यहाँ 'नः' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है। उसके द्वारा भामह अपने मत की ग्राह्यता और श्रेष्ठता बताना चाहते हैं। शब्दालंकार और अर्थालंकार की पृथक् सत्ता प्रत्यक्ष-सिद्ध है और चमत्कार उत्पन्न करने के उनके साधन भी भिन्न हैं। शब्दालंकार **श्रवण-मात्र** से चमत्कृत करता है किन्तु अर्थालंकार से चमत्कृत होने के लिए **अर्थबोध** अनिवार्य है। जैसे:

बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगर्‌यो बसंत है।

को सुनकर ही कोई 'वाह-वाह' कर उठेगा, भले ही वह अर्थ समझे या न समझे किन्तु

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।—कामायनी: श्रद्धा

का सौन्दर्य अर्थावगति के बाद ही हृदयंगम हो सकता है। इस अन्वयव्यतिरेक से यह निष्कर्ष निकला कि जो लोग पृथक्-पृथक् केवल शब्दालंकार या केवल अर्थालंकार को काव्य के चमत्कार का हेतु मानते हैं वे खंड को ही पूर्ण मान लेने का भ्रम करते हैं।

तो 'शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः' कहकर भामह ने पूर्ववर्त्ती मतों की एकांगिता का खंडन किया और बताया कि शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की सत्ता निर्विवाद है।

काव्य में सत्ता तो दोनों (शब्दालंकार-अर्थालंकार) की सिद्ध हो गयी पर अब दूसरा प्रश्न यह है कि क्या इनमें से किसी एक के द्वारा ही उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि संभव है? भामह का उत्तर है 'नहीं'। न तो केवल शब्दालंकार के संनिवेश से काव्य में रमणीयता आती है, और न केवल अर्थालंकार के संनिवेश से। उसके लिए दोनों की अपेक्षा है और इसीको उन्होंने स्पष्टत: घोषित किया कि

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

यहाँ शब्द और अर्थ केवल शब्द और अर्थ के ही वाचक नहीं, उनके चारुत्व-हेतुओं के भी प्रत्यायक हैं।

निष्कर्ष यह कि भामह ने यहाँ दो मान्यताएँ रखीं। एक तो यह कि काव्य में (१) केवल अर्थालंकार ही रहता है, शब्दालंकार नहीं; या (२) केवल शब्दालंकार ही रहता है, अर्थालंकार नहीं; यह कहना गलत है। दोनों रहते हैं। दूसरी यह कि शब्द-अर्थ दोनों पर समान ध्यान देना चाहिए और दोनों के सहभाव या साहित्य से ही उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि हो सकती है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' का यही स्वारस्य है; वह काव्य का लक्षण नहीं है।

तब भामह-कृत काव्य-लक्षण है क्या? इस प्रश्न के साथ एक अवान्तर प्रश्न यह है कि काव्य-लक्षण में किस तत्त्व की खोज की जाती है? यदि केवल शब्द और अर्थ या उनका सामान्य सहभाव (साहित्य) ही काव्य होता तो फिर शताब्दियों की गंभीर मीमांसा की क्या आवश्यकता थी? अत: शब्द और अर्थ का सामान्य साहित्य काव्यत्व का निर्धारक नहीं हो सकता, क्योंकि (१) शब्द-अर्थ का सम्बन्ध नित्य होने से उनमें साहित्य (सहभाव) का कभी अभाव होगा ही नहीं। इस प्रकार (२) भाषा के समस्त प्रयोग काव्य की सीमा में आ जायेंगे।

तात्पर्य कि शब्द और अर्थ में या उनके साहित्य में कुछ विशिष्टता अवश्य रहनी चाहिए, तभी वह काव्य कहलायगा। जैसा कुन्तक ने कहा है :

ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद् एतयोः न कथञ्चिदपि साहित्यविरहः, सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्।—व० जी०, पृ० २५

—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सदा विद्यमान होने से उनमें साहित्य (सहभाव) का कभी अभाव नहीं होता, यह ठीक है, अतः साहित्य का अर्थ यहाँ **विशिष्ट** साहित्य ही अभिप्रेत है।

इस वैशिष्ट्य का निर्देश अलंकारसर्वस्व की टीका में समुद्रबंध ने भी किया है :

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्।—पृ० ४

सच पूछिए तो काव्यशास्त्र का समग्र इतिहास इस वैशिष्ट्य के अनुसन्धान और विश्लेषण का ही इतिहास है। रमणीयता, चारुत्व, सौन्दर्य, विच्छित्ति, चमत्कार आदि उस वैशिष्ट्य के पर्याय-मात्र हैं और अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस, औचित्य आदि उसी के रूपभेद।

भामह की दृष्टि में वह वैशिष्ट्य क्या है? अर्थात् चमत्कार का निष्पादक तत्त्व कौन-सा है? वह जहाँ निर्दिष्ट हो उसे ही काव्य का लक्षण मानना न्याय्य होगा। इस प्रकार

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। —१।३६

भामह-सम्मत काव्य-लक्षण ठहरता है।

वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का अलंकार माना जाता है। यहाँ अलंकार शब्द शोभा या चमत्कार का वाचक है। तात्पर्य यह कि शब्द और अर्थ की वक्रता से वाणी में चमत्कार आता है। वाणी का चमत्कार, अर्थात् चमत्कारपूर्ण वाणी ही तो काव्य है और उसका निष्पादक तत्त्व है शब्द-अर्थ की वक्रता। तो परिनिष्ठित लक्षण हुआ कि वक्रता-समन्वित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। काव्य के प्राणभूत इस तत्त्व का निर्देश भामह ने अनेकत्र (२।८५, ५।६६) किया है। पूर्वापर के सम्यक् परिशीलन के अभाव के कारण लक्षण-विषयक जो भ्रम एक बार हो गया उसे गतानुगतिकता ने बद्धमूल कर दिया। इस भ्रम का परिहार उचित भी है, आवश्यक भी।

काव्य-प्रयोजन

ग्रंथ के आरम्भ में उसके प्रयोजन, विषय, अधिकारी आदि का लेखक द्वारा निर्देश संस्कृत साहित्य की प्रचलित परिपाटी रही है। आजकल इनका समावेश भूमिका में हुआ करता है। भामह ने भी उसका अनुसरण करते हुए मंगलाचरण के बाद अपने ग्रंथ का प्रयोजन इन शब्दों में प्रतिपादित किया है :

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्त्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।।—१।२

—सत्काव्य का निर्माण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं कलाओं में निपुणता, आनन्द तथा यश प्रदान करता है ।

[साहित्यदर्पण तथा ध्वन्यालोकलोचन में 'साधुकाव्यनिबन्धनम्' के बदले 'साधुः काव्यनिषेवणम्' पाठ मिलता है । 'निबन्धनम्' का अर्थ है रचना या निर्माण जिसका सम्बन्ध केवल कवि से है, किन्तु 'निषेवणम्' निर्माण और श्रवण दोनों का वाचक है, अत: उसका सम्बन्ध कवि और भावक दोनों से है । इस प्रकार 'निषेवणम्' अधिक व्यापक है, परन्तु काव्यालंकार के सभी उपलब्ध संस्करणों में 'निबन्धनम्' पाठ ही दीखता है ।]

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि भामह ने जो प्रयोजन गिनाये वे काव्य के हैं और काव्यालंकार काव्य नहीं, काव्याङ्गनिरूपक ग्रंथ है । फिर, काव्य के प्रयोजन बताने से क्या लाभ ? इसका समाधान विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में यों किया है :

अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह ।

—इस प्रसंग में काव्य के प्रयोजनों के निर्देश का कारण यह है कि लक्षण-ग्रंथ काव्याङ्ग-निरूपणपरक होते हैं, अत: उनके भी वे ही प्रयोजन सिद्ध होते हैं जो काव्य के ।

वस्तुत: काव्य और लक्षण-ग्रंथ का सम्बन्ध इतना संश्लिष्ट है कि एक के प्रयोजन में भी दूसरे का प्रयोजन भी गतार्थ हो जाता है । यही कारण है कि लक्षण-ग्रन्थों में सर्वत्र काव्य के प्रयोजन ही निर्दिष्ट हुए हैं । विश्वनाथ ने तो स्पष्ट ही लक्षण-ग्रंथ को काव्य का अंग कहा है और अंग का प्रयोजन अंगी से भिन्न नहीं हुआ करता ।

भारतीय भावधारा मूलत: अध्यात्मवादी रही है । इसलिए यहाँ काव्य को भी, भौतिकवादी पश्चिम की नाईं, केवल आनन्द या उपदेश का साधन न मानकर परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का साधन भी माना गया । भारतीय दृष्टि से काव्य का प्रयोजन प्रेय ही नहीं, श्रेय भी है; लौकिक ही नहीं, आमुष्मिक भी है । इसकी पुष्टि रस-निष्पत्ति सम्बन्धी जो चार प्रसिद्ध मत हैं उनसे भी होती है, जिनके प्रतिष्ठापकों ने रस की व्याख्या के लिए मीमांसा, न्याय, सांख्य और वेदांत को अपना आधार बनाया । यदि काव्य का उद्देश्य लौकिक मात्र ही होता तो तज्जनित आनन्द की व्याख्या के लिए दर्शनों को आधार बनाने की कोई आवश्यकता न थी ।

काव्य के प्रयोजन के रूप में चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—का उल्लेख करनेवाले प्रथम आलंकारिक भामह हैं । बाद में उसकी आवृत्ति रुद्रट,[1] कुन्तक,[2] विश्वनाथ[3] आदि ने की ।

---

१. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ।।—का०, अ० १२।१ ।

२. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ।।—व० जी० १।३ ।

३. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।—सा० द० १।१ ।

विश्वनाथ ने यह स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है कि काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति कैसे होती है। उनका कहना है कि काव्य द्वारा भगवान् की स्तुति की तो धर्म हुआ; अर्थप्राप्ति तो प्रसिद्ध है ही; कामप्राप्ति के लिए अर्थ अनिवार्य है (बिना पैसे के कोई इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती) अतः अर्थ प्राप्त हो जाने पर काम स्वयं सुलभ हो जाता है; काव्य के द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति के ज्ञान से प्राप्त धर्म के फलभोग की इच्छा छोड़ देने से मोक्ष उपलब्ध हो जायगा, क्योंकि कर्मफल की इच्छा ही बंधन का कारण है और उसका त्याग ही मोक्ष का, जैसा गीता में कहा है :

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।। —५।१२

—कर्मयोगी कर्मफल का त्याग कर पूर्ण शान्ति (मुक्ति) पाता है और जो योगयुक्त नहीं है वह कामना (इच्छा) के द्वारा कर्मफल में आसक्त होकर बंधन में पड़ता है।

किन्तु विश्वनाथ की इस विवृति में एक शंका का अवकाश रह जाता है और वह यह कि सभी काव्य तो भगवत्स्तुतिपरक नहीं होते; मेघदूत या अमरुशतक किस देवता की स्तुति है? उद्दाम श्रृंगार की असंख्य रचनाएँ, जिनसे केलि-विलास की मादकता छलकती है, धर्म की परिधि में कैसे सन्निवेशित होंगी।

रति की जागी प्रभात उठी अँगरात जँभात लजात लगी हिये।

जैसी पंक्तियों में कौन-सा आध्यात्मिक संकेत है? यदि कहें कि श्रृंगार जीवन का प्रवृत्तिमूलक नैसर्गिक क्रम है, अतः उसे धर्म का अंग मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए तो परकीया-गत या सामान्या-गत रति की क्या स्थिति होगी? सुवर्ण की प्रतिमा से अर्धाङ्गिनी का अभाव पूरा कर एकपत्नीव्रत का निर्वाह करनेवाले कितने उदाहरण हैं संसार में? काव्य तो परकीया-गत रति के चित्रों से भरा पड़ा है और जहाँ स्वकीया-गत रति है वहाँ भी अधिकतर स्थलों में मर्यादा का बन्धन टूट गया है। फिर, काव्य-मात्र को धर्म का साधक मानना कहाँतक संगत है?

इसका उत्तर विश्वनाथ शायद यह देते कि ऐसे वर्णनों से भी व्यंजना के द्वारा कार्य-अकार्य अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति का उपदेश प्राप्त होता ही है, जैसे रामायण पढ़ने पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का नियामक यह निष्कर्ष अनायास निकल आता है कि राम के समान आचरण करना चाहिए, न कि रावण के समान। चतुर्वर्ग को काव्य का प्रयोजन मानने में कुछ ऐसी ही शंका रुद्रट को हुई जिसका समाधान उन्होंने इन कारिकाओं में दिया :

नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः ।
कर्त्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः ।।
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति ।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र ।।

—अ०का० १४।१२-१३

तात्पर्य कि कवि जो कुछ वर्णन करता है वह निर्लिप्त होकर; वह जो देखता है उसे तटस्थ भाव से ज्यों-का-त्यों अंकित कर देता है, अतः उसके सामने धर्माधर्म का प्रश्न ही नहीं है ।

उपर्युक्त शंका जो उत्पन्न हुई वह इसलिए कि विश्वनाथ ने मुख्यतः देवस्तुतिपरक काव्य को धर्म-प्राप्ति का साधन मान लिया । अतः अतिव्याप्ति दुर्निवार हो गयी । भामह के कथन में इस शंका का अवसर ही नहीं था, क्योंकि वह निर्भ्रान्त रूप से कहते हैं कि चतुर्वर्ग का साधन वही काव्य हो सकता है जो साधु हो । **'साधुकाव्यनिबन्धनम्'** उनकी स्पष्टोक्ति है । एक बार 'साधु' के प्रयोग से विचिकित्सा भी हो सकती थी पर उन्होंने बार-बार इस पर बल दिया है । चौथी कारिका की **'रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता'** में कवित्व के साथ 'सत्' विशेषण लगा है; फिर, छठी कारिका में निबन्ध के पहले 'सत्' शब्द जुड़ा हुआ है (सन्निबन्धविधायिनाम्) । इस प्रकार साधु, सत् आदि विशेषणों के पुनः-पुनः प्रयोग के द्वारा उन्होंने सर्वथा स्पष्ट कर दिया है कि सत्काव्य ही कवि का ध्येय होना चाहिए, क्योंकि वही जीवन का उन्नयन कर सकता है और उसीसे चतुर्वर्ग की उपलब्धि हो सकती है । कहने की आवश्यकता नहीं कि भामह का अभिमत आदर्शवादी अधिक है और वह यह बताना चाहते हैं कि काव्य कैसा होना चाहिए ।

इस दृष्टि से वामन अधिक यथार्थवादी हैं । उन्होंने धर्म, अर्थ, मोक्ष को सर्वथा छोड़ दिया और काव्य में काम की प्रधानता स्वीकार की । काव्याङ्गों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि कवि को काम-सम्बन्धी व्यवहार का परिज्ञान कामशास्त्र से प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि काव्य का विषय कामोपचारबहुल[1] होता है, अर्थात् उसमें कामशास्त्र से संबद्ध व्यवहार का बाहुल्य रहता है । संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन काव्य इस कथन के समर्थक हैं । नायक-नायिका का नख-शिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, चाहे जहाँ भी देखिए, कामशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है ।

काव्य के प्रयोजन के रूप में चतुर्वर्ग का उल्लेख करनेवाले प्रथम आचार्य तो भामह हैं ही, आनन्द का सर्वप्रथम समावेश करनेवाले व्यक्ति भी वही हैं । उनके पहले केवल भरत ने काव्य (नाट्य)-प्रयोजनों की विस्तृत चर्चा की थी ।[2] किन्तु इसमें कहीं भी आनन्द का निर्देश नहीं है । रसवाद के परम प्रतिष्ठापक आचार्य के द्वारा आनन्द का नामग्रहण परिगणित प्रयोजनों में न हो, यह आश्चर्यकर है । किसी अन्य प्रयोजन में उसका अन्तर्भाव भी सुकर नहीं है । धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश काव्य के प्रयोजन माने जायँ और आनन्द, जो उपनिषद्भूत सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है, वहीं छूट जाय, यह विचित्र असंगति है । यदि कहें कि भरत को आनन्द अभिमत अवश्य रहा होगा तो यह केवल संभावना की बात हुई और अभिमत रहने पर उसके उल्लेख में क्या हानि थी ? नाट्य को आयु का साधक मानना सर्वथा दूरारूढ है । इसी तरह हित,

---

१. (क) कामशास्त्रतः कामोपचारस्य ।—का० सू० १।३।८ ।

(ख) कामोपचारस्य संवित् कामशास्त्रत इति । कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्येति ।

२. नाटयशास्त्र, १।१०९—२२२ ।

बुद्धि और उपदेश में अनुपक्षणीय सांकर्य है। ऐसे गौण प्रयोजनों की तुलना में आनन्द तो अनायास गृहीत होना चाहिए था। इस पूर्वागत त्रुटि का भामह ने जो परिहार किया उसके लिए उन्हें अवश्य श्रेय देना होगा।

भामह के अनुसार काव्य से कलाओं में निपुणता की प्राप्ति होती है। इसके प्रतिकूल वामन ने कलाओं को ही काव्य-रचना का उपयोगी अंग माना है।[1] हमारे विचार से वामन की ही मान्यता अधिक युक्तिसंगत है। काव्य से कला-सम्बन्धित निपुणता तभी सुलभ होगी जब काव्य में कलाओं का प्रचुर प्रयोग एवं संनिवेश हो। किन्तु वैसा होने पर काव्य का क्षेत्र अनिवार्यतः संकीर्ण हो जायगा और वह सस्ते मनोरंजन का साधन भी बन जायगा। कला के जो चौंसठ भेद गिनाये गये हैं उनकी अन्तर्निहित विशेषता, किसी न किसी रूप में, कौशल का प्रदर्शन और मनोरंजन ही है; भावगत उदात्तता या गंभीरता जैसी कोई चीज उनमें नहीं है। अतः कला भले ही काव्य का साधन हो, काव्य कला का साधन नहीं हो सकता और काव्य से कला-वैचक्षण्य की प्राप्ति होती है, यह कहना काव्य को ही कला का साधन मान लेना है। फिर स्वयं भामह की उक्तियों में ही वदतोव्याघात दिखायी देता है। आगे उन्होंने ही कला को काव्य का अंग माना है :

न स शब्दो न तद् वाच्यं न सो न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥ —५।४

इस प्रकार वही कला एक जगह काव्य का साध्य बतायी गयी और दूसरी जगह साधन! यह परस्पर-विरोध अव्याख्येय है। यों, जहाँतक ग्राह्यता का प्रश्न है अवश्य ही कला को काव्याङ्ग माननेवाला यह दूसरा पक्ष अधिक ग्राह्य है।

काव्य कीर्त्ति का साधक है, इसमें किसी की विमति नहीं है। फिर भी भामह ने इस पर जितना जोर दिया है उतना किसी दूसरे ने नहीं दिया। सूत्र रूप से द्वितीय कारिका में उसका निर्देश करके ६ठी, ७वीं, और ८वीं कारिकाओं में उन्होंने उसे पूरी तरह पल्लवित किया है तथा काव्य को कीर्त्ति का सर्वश्रेष्ठ हेतु माना है।

निष्कर्ष यह कि (क) भामह ने काव्य के चार प्रयोजन माने : (१) चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, (२) कला-वैचक्षण्य; (३) आनन्द एवं (४) कीर्त्ति। (ख) प्रेय के साथ श्रेय (मोक्ष) को भी काव्य का साध्य बताकर उन्होंने उसमें लोकोत्तर उदात्तता का आधान किया। काव्य को इस उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करने का यह प्रथम प्रयास था, जैसा कि द्वितीय कारिका के 'निबन्धनम्' पद या आगे के प्रकरणसे स्पष्ट है। (ग) उन्होंने काव्य-प्रयोजनों पर मुख्यतः कवि की दृष्टि से विचार किया किन्तु प्रयोजन को अधिकारी से असंपृक्त रखना असंभव है, अतः सहृदय भी (जो काव्य का अधिकारी है) अनायास उसका भागी बन जाता है। तब अर्थ और कीर्त्ति ये दो ही पूर्णतः कवि के प्राप्य बचते हैं; शेष धर्म, काम, मोक्ष, कला-वैचक्षण्य और आनन्द उभयनिष्ठ हैं। धर्म, काम, मोक्ष समानतः उभयनिष्ठ हैं तथा कला-वैचक्षण्य और आनन्द में

---

१. कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित्।—का० सू० १।३।७।

सहृदय का भाग अधिक होता है। (घ) काव्य-प्रयोजनों में आनन्द का स्पष्ट एवं प्रथम उल्लेख भामह ने ही किया। उनके प्रयोजन-निर्देश ने निःसंदेह उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों के लिए आधार का काम किया और उसी में थोड़ा-बहुत जोड़-घटाव होता रहा।

मम्मट ने पूर्ववर्त्ती आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों का समाहार-सा करते हुए छह प्रयोजन गिनाये :—(१) यश; (२) अर्थ; (३) व्यवहार-ज्ञान; (४) अमंगल-निवृत्ति; (५) लोकोत्तर आनन्द और (६) कान्ता-सम्मित उपदेश। यह सूची पर्याप्त व्यापक होने पर भी बाद के आलंकारिकों को पूर्णतः ग्राह्य नहीं हुई। हेमचंद्र ने मम्मट का खंडन करते हुए तीन ही प्रयोजन[1] माने: (१) आनन्द; (२) यश और (३) कान्ता-सम्मित उपदेश। इनमें भी आनन्द को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। फिर, उन्होंने आनन्द को कवि-सहृदय उभयगत बताया, यश को केवल कविगत और उपदेश को केवल सहृदयगत। उनके अनुसार काव्य धन का अनैकांतिक हेतु है, अर्थात् काव्य से धन हो ही, यह आवश्यक नहीं। न जाने कितने सत्कवि धनाभाव से पीडित रहे हैं। व्यवहार-ज्ञान शास्त्रों से भी होता है और अमंगल-निवृत्ति के भी पूजा-पाठ आदि अनेक अन्य उपाय प्रसिद्ध हैं अतः उन्हें काव्य का प्रयोजन कहना विशेष महत्त्व का नहीं है।[2] अनैकांतिकता का आधार लेकर हेमचंद्र द्वारा स्वीकृत यश का भी खंडन किया जा सकता है, क्योंकि यश का एकमात्र हेतु काव्य नहीं है। शास्त्र भी प्रभूत यश देता है। पतंजलि या शंकराचार्य का यश किस कवि से कम है? परिशेषात् अलौकिक आनन्द और कांता-सम्मित उपदेश ये दो ही प्रयोजन ऐसे हैं, जो काव्य से उपलब्ध होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों में भी प्रधानता आनन्द की ही है।

काव्य-हेतु

भामह ने काव्य-हेतु कहकर किसी वस्तु का निर्देश नहीं किया है किन्तु काव्य-रचना के लिए कौन-से उपादान आवश्यक हैं, इसकी चर्चा अवश्य की है। उसी का विश्लेषण और विवेचन करके उत्तरवर्त्ती अलंकारिकों ने काव्य-हेतु शब्द चलाया। इस प्रसंग में भामह की निम्नलिखित कारिकाएँ ध्यातव्य हैं :

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥—१।५
शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी॥—१।९
शब्दभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियाहरः॥—१।१०

---

१. काव्यमान्दाय यशसे कान्तातुल्योपदेशाय च।—का०, पृ० ३।

२. धनमनैकान्तिकं, व्यवहारज्ञानं शास्त्रेऽप्यो पि, अनर्थनिवारणं प्रकारान्तरेणापि इति न काव्य-प्रयोजनतया अस्माभिरुक्तम्।—का० शा०, पृ० ५।

जिसे प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास कहते हैं, उसका उद्धृत कारिकाओं में क्रमशः संकेत है। प्रथम कारिका में भामह ने प्रतिभा का संकेत ही नहीं किया, वरन् उसकी उत्कृष्टता और विरलता भी बतायी। गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जडबुद्धि भी कर लेते हैं किन्तु काव्य करने की शक्ति किसी (विरल) प्रतिभाशाली को और वह भी कभी-कभी प्राप्त होती है। यहाँ 'जातु' और 'कस्यचित्' ये दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। तात्पर्य कि भामह के अनुसार प्रतिभा काव्य का अनिवार्य हेतु है, साथ ही वह अत्यन्त विरल भी है। प्रतिभा की इन दोनों विशेषताओं का आनन्दवर्धन ने भी स्पष्ट उल्लेख किया है :

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।—ध्व० १।६

—आस्वादयुक्त उस (ध्वनिरूप) अर्थ-तत्त्व को प्रवाहित करनेवाली महाकवियों की वाणी अलौकिक, स्फुरणशील प्रतिभा के वैशिष्ट्य को व्यक्त करती है, अर्थात् महान् कवियों की प्रतिभा अलोक-सामान्य—असामान्य (विरल) होती है। अग्निपुराण का यह अतिप्रसिद्ध श्लोक भी प्रस्तुतोपयोगी है :

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा ।।

प्रतिभा की अनिवार्यता घोषित कर भामह ने द्वितीय कारिका में अध्ययन-जन्य व्युत्पत्ति पर बल दिया। ज्ञान की दृष्टि से उन्होंने शास्त्र, लोक और कला तीनों को उपयोगी ठहराया। अन्त में दूसरों की रचनाओं को देखकर किसी काव्यज्ञ की उपासना करते हुए काव्य-निर्माण में प्रवृत्त होने का विधान किया जो अभ्यास का ही रूपान्तर है। काव्यज्ञ की उपासना अभ्यास के लिए ही आवश्यक है; उसके मार्ग-दर्शन से यह मालूम होता रहता है कि रचना में क्या त्रुटि है और उसे कैसे दूर किया जा सकता है।

भामह की इन कारिकाओं का महत्त्व बहुत बड़ा है, क्योंकि इनमें पहले-पहल इस विषय का विचार हुआ है कि काव्य-रचना के क्या-क्या अपेक्षित साधन हैं। यों, मार्ग-दर्शक में जो त्रुटियाँ रहती हैं वे भी यहाँ हैं, क्योंकि उसका ध्यान नवीन वस्तुओं की उद्भावना पर रहता है, विशकलन, नामकरण आदि पर नहीं, जो बाद की चीजें हैं। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की आपेक्षिक उपादेयता पर आगे चलकर जो भी विचार-विमर्श हुआ उसका आधार प्रस्तुत करने का श्रेय भामह को ही है।

भामह ने काव्य के एक ऐसे पक्ष पर भी ध्यान दिया जिस पर किसी दूसरे ने ध्यान नहीं दिया है और वह है उसका प्रेरणा-पक्ष। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास से समन्वित होकर भी कवि जब चाहे, जिस विषय पर चाहे, काव्य लिख डाले, यह संभव नहीं। जबतक प्रेरणा की लहर नहीं उठती तबतक ये सब निष्क्रिय पड़े रहते हैं।

प्रतिभा को शक्ति और व्युत्पत्ति को निपुणता भी कहते हैं। अभ्यास का कोई अन्य पर्याय प्रचलित नहीं है।

भट्ट तौत ने 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' को प्रतिभा कहा है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' प्रतिभा है। यह प्रतिभा जन्मान्तर का संस्कार है और इसलिए सहज है। रुद्रट ने प्रतिभा को सहज के साथ उत्पाद्य[1] भी माना है। उनका अनुसरण करते हुए हेमचन्द्र भी प्रतिभा के दो भेद मानते हैं—सहज और औपाधिक[2]। उत्पाद्य या औपाधिक प्रतिभा मंत्र, देवानुग्रह आदि का परिणाम मानी गयी है। उदाहरणार्थ, श्रीहर्ष ने अपनी समस्त उपलब्धि को चिन्तामणिमन्त्र के चिन्तन का फल बताया है। प्रतिभा के इस द्वैविध्य में भी उत्पाद्य की अपेक्षा सहज को आचार्यों ने श्रेष्ठ माना है। प्रतिभा के अभाव में काव्य या तो संभव ही नहीं है या हो भी तो अपकृष्ट होगा; अतः तीनों हेतुओं में उसका महत्त्व असंदिग्ध है।

व्युत्पत्ति का अर्थ है ज्ञान। वह दो प्रकार की है—शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय व्युत्पत्ति अध्ययन से होती है और लौकिक व्युत्पत्ति अवेक्षण से। काव्य-रचना में दोनों अनिवार्यतः उपयोगी हैं। शास्त्रीय व्युत्पत्ति अभिव्यंजना को व्यवस्थित करने के लिए आवश्यक है और लौकिक व्युत्पत्ति अभिव्यंग्य को उपस्थित करने के लिए। एक यह बताती है कि हम **कैसे** कहें, दूसरी यह कि हम **क्या** कहें। कोश, व्याकरण छंद आदि अभिव्यंजना को आवर्जक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के साधनमात्र हैं किन्तु उनकी सहायता से जिस वस्तु की अभिव्यक्ति अभिप्रेत है वह लोक से ही प्राप्त होती है। काव्य को जो जीवन की आलोचना कहा गया है, वह इसी बात को ध्यान में रखकर, क्योंकि यहाँ लोक शब्द जीवन का ही प्रत्यायक है। लोकनिरपेक्ष शास्त्रज्ञान कितना निरर्थक, घातक एवं भयावह होता है, यह पंचतंत्र आदि नीति-ग्रंथों की अनेक कथाओं से सिद्ध है। तात्पर्य कि लौकिक और शास्त्रीय असंगति को बचाना ही व्युत्पत्ति का लक्ष्य है। और, चूँकि लोक और शास्त्र दोनों असीम हैं, इसलिए व्युत्पत्ति की भी कोई इयत्ता नहीं है; **अधिकस्याधिकं फलम्**। रुद्रट के अनुसार व्युत्पत्ति प्रकारांतर से सर्वज्ञत्व[3] है, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उसके क्रोड में न आ जाय। स्वयं भामह ने भी **न स शब्दो न तद् वाच्यं न स न्यायो न सा कला, जायते यन्न काव्याङ्गम्** कहकर व्युत्पत्ति के क्षेत्र का विस्तार कितना सीमाहीन है, यह स्पष्ट कर दिया है।

अभ्यास को काव्यहेतु स्वीकार करते समय संस्कृत के आलंकारिकों ने इस बात पर सदा बल दिया है कि अभ्यास किसी काव्यज्ञ के निर्देशन में करना चाहिए और काव्यज्ञ से उनका अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जिसे काव्य करने की भी क्षमता हो और उसके गुण-दोष-विचार की भी, अर्थात् वह कारयित्री और भावयित्री दोनों शक्तियों से सम्पन्न हो। वैसा

---

१. प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥—का० १।१६।

२. सा च सहजौपाधिकी चेति द्विधा।—का० शा० पृ० ५।

३. का० १।१८।

ही व्यक्ति गुण-दोष के आधान-परित्याग का मार्ग दिखाकर सत्काव्य की सृष्टि की प्रक्रिया से परिचित करा सकता है। भामह ने इसी को 'कृत्वा तद्विदुपासनम्' कहा है।

काव्यहेतुओं के आपेक्षिक महत्त्व के सम्बन्ध में आलंकारिक एकमत नहीं हैं। इस प्रसंग में तीन मत विचारणीय हैं :

१. प्रतिभा, व्युपत्ति और अभ्यास तीनों सम्मिलित रूप से काव्य के हेतु हैं। इस मत के समर्थक हैं रुद्रट,[१] मम्मट[२] आदि।

२. काव्य का हेतु मुख्यतः प्रतिभा है; व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक, अतः अंग, हैं। राजशेखर,[३] हेमचन्द्र,[४] वाग्भट प्रथम[५] एवं द्वितीय,[६] जयदेव,[७] जगन्नाथ[८] आदि की यह मान्यता है।

३. दण्डी[९] पहले तो प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास के समुदाय को काव्य-हेतु मानते हैं, इस प्रकार वे प्रथम वर्ग में आते हैं किन्तु उसके समानान्तर ही कहते हैं कि प्रतिभा न रहने पर भी व्युत्पत्ति (श्रुत) और अभ्यास (यत्न) से काव्य-निर्माण में अवश्य सफलता मिलती है।

---

१. तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥ —का० अ०, १।१४।

२. (क) शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ —का० प्र०, १।३।
(ख) इति त्रयः समुदिताः न तु व्यस्ताः तस्य काव्यस्य....हेतुर्न तु हेतवः।—पूर्वोद्धृत कारिका की वृत्ति।

३. सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुरिति यायावरीयः।
विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्॥ —का० मी०, अ० ४।

४. प्रतिभास्य हेतुः।....अस्य काव्यस्य इदं प्रधानं कारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या। न तौ काव्यस्य साक्षात् कारणं, प्रतिभोपकारिणौ तु भवतः। दृश्येते हि प्रतिभाविहीनस्य विफलौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ। —का० आ०, पृ० ५-६।

५. प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा॥ —वा० अ० १।३।

६. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः। —का० अ० पृ० २।

७. प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥ —च० लो०, १।६।

८. तस्य (काव्यस्य) च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुष-प्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ। —र० गं०, पृ० ८।

९. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥ —का० द० १।१०३।
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ —वही, १।१०४।
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥ — वही, १।१०५।

काव्य का प्रधान हेतु प्रतिभा है, इसमें किसीको आपत्ति नहीं है; व्युत्पत्ति और अभ्यास की आवश्यकता भी, पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर, सभी स्वीकार करते हैं; जो कुछ मतभेद है वह उनके आपेक्षिक महत्त्व को लेकर। प्रथम एवं द्वितीय पक्षों में अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम पक्ष प्रतिभा के समान व्युत्पत्ति और अभ्यास की स्वतंत्र सत्ता अंगीकार करता है, वहाँ द्वितीय पक्ष उन्हें प्रतिभा का परिष्कारक और उपकारक बतलाता है। अतः प्रश्न केवल प्रमुखता और गौणता का है।

पंडितराज का कथन कि काव्य का हेतु केवल प्रतिभा है, अतिवादी है। एक तो प्रतिभा[1] का उन्होंने जो लक्षण किया, वही अत्यंत संकीर्ण है। क्या काव्य-रचना के अनुकूल शब्द-अर्थ की उपस्थिति-मात्र करानेवाली क्षमता को ही प्रतिभा कहते हैं ? प्रतिभा का यह लक्षण केवल काव्य के लिए ही सही हो सकता है और वहाँ भी अव्याप्ति से मुक्त नहीं है। क्या काव्य में शब्दार्थ की उपस्थिति ही सब कुछ है ? काव्य-वस्तु के चयन, निरूपण, विकास, विस्तार आदि का कोई महत्त्व नहीं ? यदि कहिए कि ये काव्य-रचना के अनिवार्य अंग हैं अतः उसीमें गतार्थ हो जाते हैं और इनका पृथक् निदश अनपेक्षित है तो शब्द-अर्थ क्या काव्य के अंग नहीं हैं ? पर उनका तो आपने निर्देश किया ही। वस्तुतः प्रतिभा का चमत्कार और प्रभाव काव्य-वस्तु के चयन से लेकर परिसमाप्ति-पर्यन्त परिलक्षित होता है। यह अव्याप्ति भट्ट तौत[2] या अभिनवगुप्त[3] के लक्षणों में नहीं है। उनमें प्रतिभा का सार्वभौम प्रपंच समाहित हो जाता है। पंडितराज की मान्यता की दूसरी निर्बलता है काव्य में व्युत्पत्ति और अभ्यास का कोई योग स्वीकार न करना। प्रतिभा बहुत बड़ी वस्तु है सही, पर वही सब कुछ नहीं है। प्रतिभा की उपमा अनगढ़ हीरे से दे सकते हैं। हीरे में स्वाभाविक सौंदर्य और चमक की कमी नहीं रहती, पर तबतक उसमें पूरा निखार नहीं आता जबतक वह खराद पर नहीं चढ़ता। खराद पर चढ़ जाने के बाद उसका सौंदर्य निखर उठता है, चमक चकाचौंध पैदा करनेवाली हो जाती है, मूल्य बढ़ जाता है। यही स्थिति प्रतिभा की है। जबतक वह व्युत्पत्ति से शाणित नहीं होती तबतक उसकी संभावनाएँ दबी-छिपी रहती हैं; व्युत्पत्ति का योग पाकर वह जगमगा उठती है। और, खराद पर चढ़ाने के बाद भी जैसे हीरे को माँजते-पोंछते रहना पड़ता है, नहीं तो उसपर गंदगी जम जाती है, वैसे ही अभ्यास प्रतिभा को कुंठित होने से बचाता है। काम में नहीं आने से हर चीज की तेजी और ताजगी जाती रहती है; प्रतिभा भी इसका अपवाद नहीं है। पंडितराज की विचार-सरणि में एक तीसरी असंगति भी है और वह है व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को प्रतिभा का कारण मानना। प्रतिभा को सबने जन्मान्तरीय संस्कार ही माना है या अधिक-से-अधिक मंत्र, देवानुग्रह आदि का परिणाम, क्योंकि अतिलौकिक या आध्यात्मिक विभूतियों में आस्था रखनेवालों के लिए यह द्वितीय कोटि

१. सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। —र० गं०, पृ० ६।

२. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

३. प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। —ध्व० लो०, पृ० ३४।

विप्रतिपत्ति का विषय नहीं है। किंतु व्युत्पत्ति और अभ्यास जैसे आहार्य धर्मों से प्रतिभा जैसी सहज वस्तु की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, यह समझ में नहीं आता।

दंडी मुख्यतः प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को समुदित रूप से काव्य का कारण मानते हैं, उन्हें प्रतिभा का प्राधान्य भी अभीष्ट है (जैसा कि प्रथम अध्याय की कारिका १०४ से स्पष्ट है) किन्तु आगे चलकर उन्होंने प्रतिभा को बिलकुल छोड़ दिया है और केवल व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी काव्य का समर्थ कारण स्वीकार किया है। काव्य-शास्त्र की संपूर्ण परंपरा में किसी दूसरे ने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास पर उतना बल नहीं दिया जितना दंडी ने। इसका प्रत्याख्यान करते हुए हेमचंद्र ने कहा कि

न तौ (व्युत्पत्त्यभ्यासौ) काव्यस्य साक्षात् कारणं, प्रतिभोपकारिणौ तु भवतः, दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ। —का० अ०, पृ० ६

—व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के साक्षात् कारण नहीं हैं; वे केवल प्रतिभा के उपकारक होते हैं, क्योंकि देखा जाता है कि जो प्रतिभाहीन है उसकी व्युत्पत्ति और अभ्यास भी निष्फल हो जाते हैं, अर्थात् प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति-अभ्यास से कोई लाभ नहीं होता। प्रतिभा नहीं रहने से भले ही कोई प्रथम श्रेणी का कवि न हो किंतु व्युत्पत्ति तथा अभ्यास सर्वथा निरर्थक हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और, दंडी ने भी नहीं कहा है कि वे प्रथम श्रेणी के काव्य के कारण हैं; उन्होंने इतना ही कहा है कि शास्त्रानु-शीलन और श्रम से मनुष्य विदग्ध-गोष्ठी में सम्मान पाने का अधिकारी बन जाता है। अभ्यास श्रम का ही दूसरा नाम है और उसकी महिमा को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। संस्कृत के एक कवि ने तो यहाँतक कहा है कि—

दैवानि यान्ति वैफल्यं नाभ्यासस्तु कथञ्चन।

दंडी के कथन का अभिप्राय प्रतिभा की तुच्छता बताना नहीं, बल्कि व्युत्पत्ति और अभ्यास का महत्त्व प्रमाणित करना है।

दंडी की उद्धृत तीन कारिकाओं में एक बात और ध्यान देने की है। उन्होंने कहीं भी व्युत्पत्ति और अभ्यास शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। व्युत्पत्ति के बदले श्रुत और अभ्यास के बदले अभियोग, यत्न तथा श्रम शब्द आये हैं। भामह ने भी अभ्यास के लिए 'यत्न' का ही प्रयोग किया है। वामन ने व्युत्पत्ति को विद्या और अभ्यास को अभियोग कहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वामन के समय तक व्युत्पत्ति और अभ्यास के लिए अनेक शब्द चल रहे थे जिनमें पारिभाषिक निरूढ़ता का अभाव था। इन दोनों शब्दों का पहले-पहल प्रयोग रुद्रट के काव्यालंकार[1] में मिलता है।

वामन की धारणा सबसे भिन्न है। काव्य-हेतुओं[2] में उन्होंने प्रथम स्थान दिया लोकज्ञान को, दूसरा शास्त्रज्ञान को और तीसरा प्रतिभा को और उसे भी स्वतंत्र न रख-कर प्रकीर्ण[3] में डाल दिया। इस स्थापना में न अपेक्षित औचित्य है, न संतुलन। उन्होंने

१. त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः। —का०, १।१४।
२. लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्याङ्गानि। —का० सू० १।३।१।
३. लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्।—वही।

परंपरानुमोदित हेतु माने सभी, किन्तु उन्हें व्यर्थ उलट-पलट दिया। यही कारण है कि वामन का अनुगमन किसी ने नहीं किया।

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के समुदाय को काव्य-हेतु मानना व्यावहारिकता की दृष्टि से अधिक संगत है। जैसा हमने देखा है, इनमें प्रतिभा की प्रधानता सबने मुक्तकंठ स्वीकार की है। सचमुच वह ऐसा तत्त्व है, जिसका स्पर्श पाकर पुरानी वस्तुएँ भी नयी दीखने लगती हैं; मिट्टी भी सोना बनकर चमक उठती है। आनंदवर्धन इसे एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट करते हैं। जिस प्रकार वे ही वृक्ष, जिन्हें हम न जाने कितनी बार देखे होते हैं, वसंत ऋतु में कुसुम-किसलयों का परिधान धारण कर आँखों को बिलकुल नये लगने लगते हैं, उसी प्रकार पूर्व-परिचित भी विषय, रस का योग पाकर, अपूर्व रमणीयता से मंडित हो नवीन बन जाते हैं।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि नवीनता का यह आरोप प्रतिभा के द्वारा ही निष्पन्न होता है। आगे चलकर वह फिर कहते हैं कि यदि प्रतिभा हो तो काव्य-विषयों का कोई अंत नहीं है।[2] इस पृष्ठभूमि में गुप्तजी का यह कथन कि

राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है;

एक भक्त-हृदय का उद्गार-मात्र सिद्ध होता है। इसमें राम के चरित्र की उदात्तता एवं महनीयता का संकेत भले ही हो, यथार्थता की अभिव्यक्ति नहीं है, कारण कि इससे प्रतिभा का मूलोच्छेद हो जाता है। गुप्तजी के कथन का खंडन तो स्वयं रामकाव्य की परम्परा ही कर देती है। वही रामकथा वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, केशवदास, राधेश्याम और मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा कही जाकर परस्पर कितनी भिन्न हो गयी है। यह अन्तर क्या कथा का है? कथा तो एक ही है; अन्तर है कहनेवाले की प्रतिभा का!

काव्य-दोषों पर ध्यान दीजिए तो व्युत्पत्ति की उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। बहुसंख्य दोष ऐसे हैं जो केवल व्युत्पत्ति के अभाव के परिणाम हैं। देशविरोधी, काल-विरोधी, कलाविरोधी, लोकविरोधी, न्यायविरोधी, आगमविरोधी आदि दोष तो साक्षात् अव्युत्पत्ति-प्रसूत हैं; पद, वाक्य, अर्थ आदि के दोष भी किसी-न-किसी प्रकार अव्युत्पत्ति के ही विजृंभण हैं। उनके निराकरण के लिए व्युत्पत्ति अनिवार्य साधन है। उसके बिना अभिव्यंजना कभी पूर्णतः निर्दोष नहीं हो सकती।

किसी कार्य के सम्यक् संपादन के लिए अभ्यास वांछनीय है, परन्तु काव्य-हेतुओं में उसके स्पष्ट निर्देश का एक ऐतिहासिक कारण भी है। प्राचीन समय में काव्य पाठ्य कम,

---

१. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥— ध्व० ४।४।

२. न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः।—ध्व० ४।६।

श्रव्य अधिक था और उसके संवर्धन के लिए राजाश्रय आवश्यक था। राजसभाओं में तबतक न तो स्थान मिल सकता था, न सम्मान, न दान, जबतक आशु-कवित्व न हो। वहाँ की प्रतियोगिता में जिसने चमत्कृत कर दिया वह बाजी मार ले गया। किसी वस्तु का तत्काल वर्णन करने को कह दिया जाता, पूर्ति के लिए कोई समस्या दे दी जाती। अब उन्हें कोई इतमीनान से सोच-विचार कर घर पर करे, इसका अवसर न था। सैकड़ों व्यक्तियों के बीच, भरी राजसभा में, जिसने अपनी रचना से श्रोताओं को मुग्ध कर लिया वह अवाप्तकाम हो गया; वाहवाही भी मिली, द्रव्य भी मिला, अन्यथा लज्जा, निन्दा, अप्रतिष्ठा हाथ लगी। स्वभावतः कवि को इस कठोर परीक्षा के लिए सदा प्रस्तुत रहना पड़ता था जो सतत अभ्यास से ही सम्भव था।

जिन्हें काव्य-हेतु कहा गया है वे वस्तुतः काव्य के निमित्तकारण हैं, उपादानकारण नहीं। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्योत्पत्ति के सहायक मात्र हैं, वह तत्त्व नहीं जिससे काव्य उत्पन्न होता है। हेतु-विचार के प्रसंग में निमित्तकारणों के समान उपादानकारणों की भी चर्चा होनी चाहिए थी पर किसी भी आलंकारिक ने वैसा नहीं किया। हेतु शब्द एक प्रकार से निमित्त-हेतु में रूढ हो गया है। काव्य के उपादानकारणों का, अर्थात् उन तत्त्वों का जिनसे काव्य उत्पन्न होता है, विचार नहीं हुआ है ऐसा नहीं, विचार हुआ है पर काव्यस्वरूप के अन्तर्गत। उदाहरणार्थ, मम्मट का यह कथन—**एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह** : पहले काव्य के निमित्तकारणों की चर्चा, उसके बाद उपादानकारणों की। उपादानकारण के बदले स्वरूप शब्द का परिग्रह अपेक्षाकृत अधिक व्यापक माना गया, क्योंकि उसमें काव्य के उपादान भी आ जाते थे और काव्य के स्वरूप (लक्षण) का भी निर्धारण हो जाता था।

भामह उन आलंकारिकों में हैं जो प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्य का हेतु मानते हैं। पंचम कारिका में प्रतिभा का स्पष्ट उल्लेख है; अष्टम कारिका में **यत्नो विदितवेद्येन विधेयः** कहकर उन्होंने व्युत्पत्ति और अभ्यास का निर्देश कर दिया है। जैसा हम देख चुके हैं, यत्न अभ्यास का वाचक है और विदितवेद्येन (जो ज्ञातव्य है उसे जानकर) व्युत्पत्ति का। इस कारिका के बाद ही नवम कारिका में उन विषयों के नाम हैं जो भामह के अनुसार कवि के ज्ञातव्य (वेद्य), अर्थात् व्युत्पत्ति के साधन हैं। अगली कारिका में **कृत्वा तद्विदुपासनम्** के द्वारा उन्होंने काव्यज्ञ की शिक्षा का महत्त्व भी प्रतिपादित कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने बातें सब कह दी हैं किन्तु उनमें क्रमबद्धता का अभाव है; पुनरुक्ति भी अनेकत्र है जो प्राचीनों की विशेषता है, जैसे नवम कारिका में ज्ञातव्य विषयों के बीच शब्द-अर्थ की गणना करके दशम कारिका में फिर **शब्दाभिधेये विज्ञाय** कहना; अथवा अष्टम कारिका में **यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः** कहकर दशम कारिका में **विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः** का उल्लेख। मम्मट ने भामह के ही विचारों को सुलझाकर प्रस्तुत किया है।

काव्य-भेद

भामह ने काव्य का विभाजन चार प्रकार से किया है :

१. छन्द के अभाव और सद्भाव के आधार पर दो :
(क) गद्य; (ख) पद्य ।

२. भाषा के आधार पर तीन :
(क) संस्कृत; (ख) प्राकृत; (ग) अपभ्रंश ।

३. विषय के आधार पर चार :
(क) ख्यातवृत्त; (ख) कल्पित; (ग) कलाश्रित; (घ) शास्त्राश्रित ।

४. स्वरूपविधान के आधार पर पाँच :
(क) महाकाव्य; (ख) रूपक; (ग) आख्यायिका; (घ) कथा; (ङ) मुक्तक ।

प्रथम आधार

संस्कृत साहित्य के आलोचकों ने काव्यत्व की दृष्टि से गद्य और पद्य में मौलिक अन्तर नहीं माना । उनकी एक ही कसौटी थी सरसता या रमणीयता, जिसके रहने पर गद्य भी काव्य है और न रहने पर पद्य भी काव्य नहीं । यही नहीं, उन्होंने गद्य के द्वारा काव्यत्व-निष्पत्ति को अतिशय कठिन व्यापार माना जो **गद्य कवीनां निकषं वदन्ति** इस प्रसिद्ध उक्ति से स्पष्ट है । गद्य और पद्य का भेदक है छन्द का अभाव तथा सद्भाव । धदण्डी के अनुसार 'पाद-रहित 'पद-सन्तान (शब्दसमूह) को गद्य[1] कहते हैं तथा जिसमें चार पाद (चरण) हों वह पद्य[2] है । पद्य में चार चरणों का विधान उपलक्षण-मात्र है', क्योंकि चार से कम (जैसे तीन चरणों की गायत्री) और चार से अधिक चरणों के (जैसे छप्पय) छन्द भी पाये जाते हैं । वस्तुतः पद्य का नियामक चरणों की संख्या नहीं, बल्कि छन्द और लय का अस्तित्व है ।

भामह ने गद्य-पद्य की व्याख्या नहीं की, केवल उनका नाम्ना निर्देश कर दिया । दंडी ने स्थूलतः व्याख्या भी की और भेद भी दो से तीन बताये—गद्य, पद्य तथा मिश्र[3] आगे चलकर यही विभाजन ग्राहय हुआ ।

वामन ने गद्य के तीन अवांतर भेद किये—(१) वृत्तगंधि; (२) चूर्ण; (३) उत्कलिका । विश्वनाथ ने इनमें मुक्तक नाम का एक और प्रभेद जोड़ा, जिसे मिलाकर गद्य-प्रभेदों की संख्या चार हो गयी ।

१. **वृत्तगंधि** गद्य वह है जिसमें किसी छंद की गंध आ जाय । गद्य के प्रवाह में कभी-कभी कोई अंश अनायास ऐसा आ जाता है जो किसी छंद का एक चरण बन जाता है । जैसे, **समरकण्डूयननिविडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जनीटङ्कारोज्जागरित-**

---

१. अपादः पदसन्तानो गद्यम् ।—का० द० १।२३ ।

२-३. पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥—का० द० १। १४ ।

वैरिनागर... । यहाँ 'कुण्डलीकृतकोदण्ड' अनुष्टुप् का एक चरण हो जाता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भेद अकिंचित्कर है, क्योंकि न तो कवि का रस पर ध्यान रहता और न इसका कोई महत्त्व है । यदि समग्र गद्य-बंध में किसी छंद के एक-दो चरण निष्पन्न ही हो गये तो उससे क्या बन गया ? और सच पूछिए तो उसे गद्य कह भी नहीं सकते, क्योंकि गद्य का लक्षण ही है छंद के बंधन से मुक्त और यहाँ वह बंधन आ जाता है ।

शेष तीनों भेद समास के तारतम्य पर निर्भर हैं :

१. **मुक्तक**—जिसमें समास का सर्वथा अभाव हो ।

२. **चूर्णक**—जिसमें समास हों पर कम ।

३. **उत्कलिका**—जिसमें समास लम्बे भी हों और अधिक भी ।

मुक्तक और चूर्णक में स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं है । एक तो संस्कृत में सर्वथा समास-रहित रचना संभव नहीं है; दूसरे, अल्पता की सीमा का निर्धारण भी कठिन है । यही कारण है कि रीतियों में वैदर्भी और गौडी का अन्तर तो सुकर रहा, किन्तु लाटी या पांचाली का नहीं । मुक्तक, चूर्णक और उत्कलिका के वैदर्भी लाटी तथा गौडी से सांकर्य का भ्रम नहीं होना चाहिए, क्योंकि मुक्तक आदि केवल गद्य के रूप हैं पर वैदर्भी आदि रीतियाँ गद्य तथा पद्य दोनों से संबद्ध हैं, साथ ही गुण-सापेक्ष भी हैं ।

पद्य के भेदों की चर्चा आगे है ।

द्वितीय आधार

काव्य के विभाजन का दूसरा आधार है **भाषा** । भामह ने इस प्रसंग में तीन भाषाओं का उल्लेख किया है; वे हैं संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश । दंडी ने मिश्र[1] नाम से चौथे भेद की भी कल्पना की है । भामह को 'मिश्र' भेद अभिमत था या नहीं इसका कोई संकेत नहीं है, नाम-निर्देश तो अमिश्र का ही है किन्तु दंडी के अनुसार संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाएँ मिश्रित रूप से सर्वथा ग्राह्य थीं । भाषा-मिश्रण के उदाहरण नाटकों में तो सर्वत्र विद्यमान हैं ही, संभव है काव्य के अन्य प्रकारों में भी वैसा होता रहा हो । पर उसकी लोकप्रियता के प्रमाण नहीं मिलते ।

विभाजन के इस आधार से एक बात स्पष्ट है कि काव्य-भाषा के रूप में प्राकृत और अपभ्रंश का संस्कृत के समान समादर था । इसका प्रमाण यह भी है कि आलंकारिकों ने लक्षण-ग्रंथों में निस्संकोच भाव से उन भाषाओं की रचनाओं को संस्कृत के समकक्ष स्थान दिया है । यह स्थिति कितनी महत्त्वपूर्ण थी, यह इस बात पर ध्यान देने

१. तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्यश्चतुर्विधम् ॥— का० द० १।३२ ।

से स्पष्ट हो जायगी कि लोक-भाषाओं के प्रति अतिशय जागरूकता दिखानेवाले इस युग में भी हिन्दी के विद्वान् वह उदार दृष्टि नहीं अपना सके हैं ।

भामह ने इन भाषाओं का केवल नाम लेकर छोड़ दिया, उनके सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहा; दंडी ने उनके स्वरूप का निर्धारण भी कर दिया है ।[1]

तृतीय आधार

विषय के अनुसार भामह ने काव्य के चार भेद माने हैं—ख्यातवृत्त, कविकल्पित कलाश्रित और शास्त्राश्रित । प्रथम दो भेद तो बहुत प्रसिद्ध रहे हैं किन्तु अन्तिम दो उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों द्वारा नहीं स्वीकार किये गये । कला और शास्त्र को प्रतिपाद्य बनाकर काव्य-रचना हो भी नहीं सकती, कारण कि वे काव्य के उपकारक मात्र हैं, स्वयं विषय नहीं । संगीत अथवा वेदान्त पर कोई महाकाव्य (या खंडकाव्य भी) कैसे लिखा जा सकता है ? यदि वैसा मानें तो संस्कृत में आयुर्वेद, ज्यौतिष आदि विषयों पर लिखे गये सभी पद्यात्मक ग्रंथ काव्य की कोटि में आ जायँगे । कलाश्रित काव्य से वस्तुतः भामह का क्या तात्पर्य है यह भी स्पष्ट नहीं है । कुछ लोगों ने भरत के नाट्यशास्त्र को कलाश्रित काव्य का उदाहरण बताया है किन्तु नाट्यशास्त्र में काव्यत्व की छाया भी है क्या ? शास्त्र-काव्य का एक ही उल्लेखनीय उदाहरण है और वह है भट्टिकाव्य जिसमें पाणिनीय व्याकरण के नियमों को प्रयोग द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास पाया जाता है किन्तु इस सम्बन्ध में भी दो-एक बातें ध्यान में रखने की हैं । पहली तो यह कि अन्य शास्त्रों के समान व्याकरण काव्य-बाह्य नहीं; शब्द और अर्थ का नियामक होने से वह काव्य का अत्यन्त उपजीव्य, अतः घनिष्ठ उपकारक, है । दूसरी बात यह कि भट्टिकाव्य का विषय राम-कथा है, व्याकरण नहीं; व्याकरण तो वहाँ केवल पद-प्रयोग की पटुता का प्रदर्शक मात्र है । उतना तो नहीं पर यत्र-तत्र उसी तरह का प्रयास माघकृत शिशुपालवध में भी दिखायी पड़ता है । इस दृष्टि से केशवदास की रामचंद्रिका को छंद-काव्य कहेंगे, क्योंकि उसमें छन्दःशास्त्र का अनुगमन है । तीसरी बात यह कि भट्टिकाव्य में भी काव्यत्व का रूप वहीं निखरा है जहाँ व्याकरण अपेक्षाकृत गौण पड़ा है; जहाँ कवि का ध्यान व्याकरण पर केन्द्रित हुआ है वहाँ काव्यत्व उपेक्षित हो गया है ।

कहने का तात्पर्य यह कि कला या शास्त्र को जहाँ भी प्रमुखता प्राप्त होगी वहाँ उसी अनुपात में काव्यत्व में बाधा पड़ेगी । इन दो को काव्य का आधार स्वीकृत करने के पीछे भामह का क्या उद्देश्य था यह स्पष्ट नहीं है । हाँ, वस्तु की ख्यातवृत्तता और कल्पितता तर्क से भी समर्थित है और परंपरा से भी ।

चतुर्थ आधार

स्वरूप-विधान की दृष्टि से भामह ने काव्य के पाँच भेद किये हैं— (१) सर्गबन्ध; (२) अभिनेयार्थ; (३) कथा; (४) आख्यायिका और (५) अनिबद्ध ।

१. का० द० १। ३३-३६ ।

ये पाँचों भेद आरम्भ में निर्दिष्ट गद्य और पद्य के प्रभेद मात्र हैं। पद्य के दो प्रभेद—सर्गबन्ध और अनिबद्ध, गद्य के दो— कथा और आख्यायिका तथा मिश्र का एक— अभिनेय। अभिनेय मिश्र का उदाहरण है इसलिए कि उसमें गद्य-पद्य दोनों का मिश्रण रहता है। इनमें सर्गबन्ध महाकाव्य का पर्याय है और अनिबद्ध मुक्तक का। अभिनेय नाटकादि रूपकों का बोधक है। भामह ने महाकाव्य का तो उल्लेख किया किन्तु खंडकाव्य के विषय में कुछ नहीं कहा। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं : या तो खण्डकाव्य का प्रचलन नहीं था या वह प्रकार भामह को अभिमत नहीं था। प्रथम विकल्प सम्भव नहीं जान पड़ता। अयुक्तिमत् दोष[1] के निरूपण के प्रसंग में उन्होंने तीन कारिकाएँ लिखी हैं जिनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि दूत-काव्य के कई उदाहरण उनके सामने थे पर वे भामह को अभिमत न थे, कारण कि उनमें उन्हें युक्तिमत्ता का अभाव खटकता था। जिसे वाणी ही न हो, जैसे मेघ, चन्द्र आदि अथवा जिसे वाणी हो तो, पर व्यक्त न हो, जैसे हंस, भ्रमर आदि, वह दूतकर्म कैसे कर सकता है ? सन्देश-कथन, जो दूत का प्रधान कार्य है, इनमें किसी के लिए सम्भव नहीं। इसलिए भामह ने ऐसे काव्य के प्रति अपनी निश्चित अरुचि दिखायी है। फलतः उन्होंने खण्डकाव्य की चर्चा ही नहीं की।

अनिबद्ध (मुक्तक) का उन्होंने लक्षण नहीं दिया। अभिनवगुप्त के अनुसार मुक्तक उसे कहते हैं जो पूर्वापरनिरपेक्ष होकर भी रसास्वादन कराने में समर्थ हो।[2]

वामन ने प्रबन्ध की अपेक्षा अनिबद्ध (मुक्तक) को हीन कोटि का काव्य माना है। उनका कहना है कि जैसे अग्नि का एक कण नहीं चमकता वैसे ही मुक्तक भी अकेला नहीं शोभता।[3] इसके प्रतिकूल आनन्दवर्धन मुक्तक में भी प्रबन्ध के समकक्ष रसोद्‌बोध की क्षमता स्वीकार करते हैं।[4] अभिनवगुप्त ने मुक्तक का जो लक्षण दिया है उससे भी आनन्दवर्धन का समर्थन होता है। मुक्तक में रसोद्‌बोध की योग्यता नहीं होती, ऐसा नह कह सकते। वस्तुतः मुक्तक के द्वारा रस-संचार कराना अधिक कठिन व्यापार है, क्योंकि प्रबन्ध में विभावादि की योजना जितनी सुकर है उतनी मुक्तक में नहीं। दूसरी बात यह कि प्रबन्ध का कथा-प्रवाह भी रसानुभूति में सहायक होता है पर मुक्तक का रचयिता उस सुविधा से वंचित रहता है। जहाँतक रसानुभूति का प्रश्न है, दोनों में कोई अन्तर नहीं किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रभाव की गम्भीरता, व्यापकता तथा स्थायिता की दृष्टि से प्रबन्ध का पलड़ा भारी पड़ता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध को जो श्रेष्ठ माना है, वह इसीलिए। भामह ने अनिबद्ध में संस्कृत के समानान्तर ही प्राकृत की

१. काव्यालंकार।—१।४२-४४।

२. पूर्वापरनिरपेक्षेणाऽपि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। —ध्व० लो०, पृ० १७५।

३. नानिबद्धं चकास्ति एकतेजः परमाणुवत्। —का० सू० १।३।२९।

४. मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा हि अमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव। —ध्व०, पृ० १७५।

रचनाओं का भी महत्त्व स्वीकार किया है। समापिका क्रिया की अन्विति को ध्यान में रखकर मुक्तक के भी अनेक भेद किये गये हैं पर उनका निर्देश भामह में नहीं है। उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों के अनुसार वे भेद निम्नलिखित हैं :

१. **मुक्तक**— यदि एक छन्द में वाक्य समाप्त हो जाय।

२. **सन्दानितक**— यदि दो छन्दों में वाक्य समाप्त हो। विश्वनाथ ने सन्दानितक के बदले युग्मक[1] शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु अभिनवगुप्त,[2] हेमचन्द्र आदि ने इसे सन्दानितक ही कहा है।

३. **विशेषक**— यदि तीन छन्दों में वाक्य समाप्त हो। विश्वनाथ इसे ही सन्दानितक[3] कहते हैं।

४. **कलापक**— यदि चार छन्दों में वाक्य समाप्त हो।

५. **कुलक**— यदि पाँच या उससे अधिक छन्दों में वाक्य समाप्त हो।

कुछ आचार्यों ने छह छन्दों से वाक्य की समाप्ति में 'करहाटक' नामक प्रभेद की कल्पना की है— **षड्भिस्तु करहाटकः।**

६. **पर्यायबन्ध**— बीच में वाक्य-समाप्ति हो जाने पर भी यदि वसन्त आदि एक विषय का वर्णन हो तो अभिनवगुप्त उसे पर्यायबन्ध[4] की संज्ञा देते हैं।

इसी प्रकार कोश या संघात-काव्य आदि और भी अनेक प्रभेद हैं जिनकी चर्चा अनपेक्षित है।

अभिनवगुप्त ने इस प्रसंग में एक रोचक प्रश्न उठाया है कि स्वतंत्र रूप से रचित, परस्पर-निरपेक्ष छन्द को ही मुक्तक कहेंगे या प्रबन्ध में भी उसकी स्थिति मानेंगे ? उनका कथन है कि प्रबन्ध में भी यदि ऐसा छन्द आता है जो अर्थ की दृष्टि से अपने-आप में पूर्ण और पूर्वापर-निरपेक्ष हो तो उसे भी मुक्तक कहेंगे।[5] मुक्तक की कसौटी एक ही है, वह यह कि प्रकरण-ज्ञान के बिना भी जिससे आनन्दानुभूति हो जाय। इस कसौटी पर प्रबन्ध-स्थित भी अनेक छन्द खरे उतरते हैं; जैसे, **रामचरितमानस** के ये दोहे :

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।।
या
रामनाम मनिदीप ध जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जो चाहसि उजियार।।

---

१. द्वाभ्यां तु युग्मकम्।—सा० द०, पृ० ४२१।

२. द्वाभ्यां क्रियासमाप्तौ सन्दानितकम्।—ध्व० लो०, पृ० १७४।

३. सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते।—सा० द०, पृ० ४२१।

४. अवान्तरक्रियासमाप्तावपि वसन्तवर्णनाद्येकवर्णनीयोद्देशेन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः।
—ध्व० लो०, पृ० १७४।

५. यदि वा प्रबन्धेष्वपि मुक्तकस्यास्ति सद्भावः। —ध्व० लो०, पृ० १७४।

प्रसंग का ज्ञान नहीं रहने पर भी इन दोहों के अर्थबोध या आनन्दबोध में कोई बाधा नहीं पड़ती।

महाकाव्य

महाकाव्य का भामह-कृत लक्षण इस प्रकार है :

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालङ्कारं सदाश्रयम् ।।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ।।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।।

महाकाव्य का यह प्राचीनतम उपलब्ध लक्षण है, साथ ही संक्षिप्ततम। फिर भी इसमें महाकाव्य सम्बन्धी कोई भी मौलिक और आधारभूत विशेषता छूटी नहीं है, न इसमें उत्तरवर्त्ती लक्षणों की कठोरता तथा रूढिबद्धता ही है। इसकी व्यापकता और उन्मुक्तता महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप है।

भामह के अनुसार महाकाव्य उसे कहेंगे जो (१) सर्गबद्ध; (२) महान् चरित्रों से संबद्ध; (३) आकार में बड़ा; (४) ग्राम्य शब्दों से रहित; (५) अर्थसौष्ठव से संपन्न; (६) अलंकार से युक्त; (७) सदाश्रित; (८) मंत्रणा, दूतप्रेषण, अभियान, युद्ध, नायक के अभ्युदय तथा (९) नाटकीय पंच सन्धियों से समन्वित; (१०) अनतिव्याख्येय एवं (११) ऋद्धिपूर्ण हो; (१२) यों निरूपण उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों का हो परन्तु प्रधानता अर्थ की ही रहे; (१३) लौकिक व्यवहार का अतिक्रमण न हो तथा (१४) सभी रस असंकीर्ण रूप से वर्त्तमान हों।

अब उपरिनिर्दिष्ट विशेषताओं का विश्लेषण करें। इनमें १ और ३ का सम्बन्ध बंध तथा आकार से; २ और ६ का नायक से; ४, ५, ६, १० का अभिव्यंजना से; ८, ११, १२, १३ का वर्ण्य से; ९ का रचना-विधान से; १३ का औचित्य से तथा १४ का आस्वाद्यता से है।

आकार के विषय में भामह ने कोई सीमा निर्धारित नहीं की, केवल 'महत्' कह दिया। आगे चलकर 'महत्' की अधोवर्त्ती सीमा निर्दिष्ट कर दी गयी—सर्ग आठ से कम न हों; अधिक हों पर कितने अधिक हों यह अनिर्दिष्ट ही रहा। ऐसी स्थिति में अधोवर्त्ती सीमा बाँधने का कोई विशेष अर्थ नहीं हुआ। यदि कहें कि अतिसंक्षिप्तता के निवारण के लिए वैसा किया गया, क्योंकि महाकाव्य की पटभूमि जैसी व्यापक रहती है उसका सम्यक् निर्वाह संक्षेप में नहीं हो सकता तो प्रश्न है कि क्या अतिसंक्षिप्तता ही दोष है, अतिविस्तार नहीं? और, सर्ग की संख्या नियत कर देने से भी तो काम नहीं चलता

जबतक प्रत्येक में छंद-संख्या नियत न हो। कहने को श्रीहर्ष का नैषधीय चरित बाईस सर्गों का ही महाकाव्य है पर उसका प्रत्येक सर्ग किरातार्जुनीय ग्रादि काव्यों के सर्गों की तुलना में प्रायः दुगुना है। इसलिए सर्ग-संख्या २२ होने पर भी परिमाणतः वह ४४ सर्गों का काव्य हुग्रा। तात्पर्य कि ग्रन्ततः कवि की ग्रनुपात-बुद्धि का नियमन ही मान्य ठहरता है। इस दृष्टि से भामह का 'महत्' कहीं ग्रधिक उपादेय है।

नायक के सम्बन्ध में भी भामह ने यह नहीं कहा कि देव हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय! उन्होंने इतना ही कहा कि महाकाव्य का वर्णनीय पात्र महान् हो ग्रौर सत् हो। इन दो विशेषणों में नायक-सम्बन्धी सारी ग्रभिलषणीय विशेषताएँ उन्होंने समाहित कर दी हैं। इन दो ही शब्दों की व्याख्या में विश्वनाथ ने ढाई पंक्तियाँ[1] खर्च कीं फिर भी बात कुछ बनी नहीं। विश्वनाथ के ग्रनुसार नायक या तो देव हो या क्षत्रिय। इस दृष्टि से संस्कृत के 'शंकर-दिग्विजय', 'दयानन्द-दिग्विजय' ग्रादि या हिन्दी की 'नूरजहाँ', 'एकलव्य' ग्रादि महाकाव्य कहला ही नहीं सकते, क्योंकि उनके नायक न तो देव हैं, न क्षत्रिय। पर भामह के 'महत्' ग्रौर 'सत्' की कसौटी पर वे पूरी तरह खरे उतरते हैं।

ग्रपने विस्तृत लक्षण में भी विश्वनाथ ने ग्रभिव्यंजना के विषय में कुछ नहीं कहा। दंडी ने केवल 'ग्रलंकृत'[2] कहकर छुट्टी पा ली। विद्यानाथ[3] ने नगर, पर्वत ग्रादि १८ वस्तुग्रों के वर्णन को ही महाकाव्य बता दिया ग्रौर ग्रन्य विषयों की चर्चा तक न की। महाकाव्य का ऐसा ऊटपटाँग ग्रौर ग्रपूर्ण लक्षण किसी दूसरे ने नहीं किया। भामह ने ग्रभिव्यंजना-पक्ष में चार बातों का विचार किया है—शब्द, ग्रर्थ, ग्रलंकार ग्रनति-व्याख्येयता। यहाँ कह सकते हैं कि जिस शब्द-सौष्ठव, ग्रर्थ-रमणीयता तथा ग्रलंकार-योजना का उन्होंने विधान किया वे सभी रस के अंग हैं ग्रतः उनके पृथक् उल्लेख की कोई ग्रावश्यकता न थी। बहुत दूर तक यह कथन ठीक है फिर भी उनका स्पष्ट उल्लेख कर भामह ने उनके प्रति ग्रधिक सतर्कता बरतने का इंगित किया, क्योंकि रस की निष्पत्ति के शब्द-ग्रर्थ साधन हैं ग्रौर साधन में त्रुटि ग्रा जाने पर साध्य निर्दोष नहीं रह सकता। ग्रभिव्यंजना के सम्बन्ध में भामह ने एक बड़े मार्के की बात कही ग्रौर वह है ग्रनति-व्याख्येयता। यदि काव्य भी ग्रतिव्याख्यापेक्षी हो गया तो उसमें ग्रौर शास्त्र में ग्रन्तर क्या रहा? उसकी सार्थकता तो यही है कि शास्त्र-निहित, कष्टलभ्य ज्ञान को सुगम-सरस बनाकर प्रस्तुत कर दे, ग्रतः प्रसाद-संपन्नता उसकी ग्रतिशय ग्रभिलषणीय विशेषता है जिसे भामह ने 'ग्रनतिव्याख्येय' के द्वारा व्यक्त किया है।

---

१. तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपा कुलजा बहवोऽपि वा॥—सा० द० ६। ३१६।

२. का० द० १।१८।

३. प्रतापरुद्रीय, काव्यप्रकरण, ६८—७०।

वर्णनीय विषयों में उन्होंने मंत्रणा, दूत-संप्रेषण आदि की चर्चा की और 'ऋद्धिमत्' के द्वारा उन समस्त वैभवों (नागरिक एवं प्राकृतिक) का द्योतन कर दिया जो काव्य में वर्णन की दृष्टि से उपयोगी हैं। विश्वनाथ ने इनकी सूची दो कारिकाओं[1] में गिनायी है। प्रकृति-वर्णन आदि विभाव के रूप में रसोत्पत्ति के साधक होने से वर्णनीय माने गये। भले ही प्रकृति-वर्णन आगे चलकर रूढ और निष्प्राण हो गया किन्तु काव्य में उसका संनिवेश कोरे वर्णन के लिए ही नहीं था। सच पूछिए तो इस देश का जीवन प्रकृति के क्रोड में ही विकसित हुआ था और प्रकृति से उसका ऐसा अभिन्न तथा अंतरंग सम्बन्ध था कि उसे छोड़कर जीवन की कल्पना ही नहीं हो सकती थी। भारत और अन्यत्र की सभ्यता में बहुत बड़ा मौलिक अन्तर है। यहाँ की सभ्यता, संस्कृति या ज्ञान का निर्माण-विकास वनों के निभृत, उन्मुक्त सुषमाशाली वातावरण में हुआ और वहाँ से वह नगरों में आया। इसके प्रतिकूल अन्यत्र उनका विकास नगरों में हुआ। स्वभावतः प्रकृति से जिस सान्निध्य का अनुभव यहाँ के कवि ने किया वह आरोपित नहीं, सहज था। महाकाव्य में सामान्यतः चतुर्वर्ग का प्रतिपादन रहने पर भी प्रधानता भामह ने बतायी अर्थ की। इसके दो कारण हैं: एक तो काव्य निवृत्ति-परक नहीं, प्रवृत्ति-परक थे, लौकिक आनन्द और अभ्युदय के साधक। और इसके लिए अर्थ की काम्यता असंदिग्ध है। दूसरा यह कि महाकाव्यों की रचना मुख्यतः सामन्ती व्यवस्था और दरबारी वातावरण में हुई जिनसे उसका प्रभावित होना अनिवार्य था। प्रमाण-स्वरूप अधिकतर काव्यों के नायक राजा हैं। महाकाव्य के लक्षण में ही **मन्त्रदूतप्रयाणाजि-नायकाभ्युदयैश्च यत्** का ग्रहण हुआ है और वह किसी राजा के अतिरिक्त और किसमें संभव है? राज्य-विस्तार, जिसे दिग्विजय जैसे सुन्दर नाम से अभिहित किया गया है, राजा का धर्म था। इस पृष्ठभूमि में **भूयसार्थोपदेशकृत्** का स्वारस्य स्पष्ट है। वर्णन कवि सबका करे पर प्रधानता अर्थ की—लौकिक लाभ की—अक्षुण्ण रखे।

महाकाव्य को लोकस्वभाव से युक्त होना चाहिए यह कहकर भामह ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंश को प्रस्तुत किया। यहाँ **लोक-स्वभाव** केवल लौकिक आचार-व्यवहार का बोधक नहीं, उस तत्व का भी व्यंजक है जिसे आनन्दवर्धन ने **औचित्य** कहा। सच तो यह है कि लोक-स्वभाव और औचित्य इतने संश्लिष्ट हैं कि उन्हें पृथक् करके देखना कठिन है। लोक-स्वभाव के पालन को ही औचित्य कहते हैं और उल्लंघन को ही अनौचित्य। जो जैसा है या जैसा होना चाहिए, उससे भिन्न वर्णन में अनौचित्य आता है और वह रस-भंग का अनन्य हेतु[2] है। इस विशेषण के द्वारा भामह ने अपनी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है।

---

१. सा० द० ६।३२२—३२३।

२. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥—ध्व०, पृ० १८०।

परन्तु इससे भी उल्लेखनीय है भामह का यह कथन कि महाकाव्य में सभी रसों की असंकीर्ण स्थिति रहनी चाहिए। यह बात उन्होंने तब कही जब रस की प्रतिष्ठा केवल दृश्यकाव्य में थी और श्रव्यकाव्य के प्राणभूत तत्त्व का विवेचन चल ही रहा था। ऐसा करके उन्होंने अपनी मौलिकता का तो परिचय दिया ही, आनंदवर्धन का पथ भी प्रशस्त कर दिया। भामह ने रसों की स्थिति मानकर भी उनके अंगांगिभाव का निर्देश नहीं किया—यह नहीं बताया कि रसों में परस्पर प्रधानता-गौणता भी रहनी चाहिए या सब समकक्ष ही रहें। तो याद रखना चाहिए कि अंगांगिभाव का निर्णय भरत ने भी नहीं किया है। भामह ने रस को श्रव्यकाव्यगत स्वीकार किया, इसी के लिए उन्हें श्रेय देना चाहिए। 'पृथक्' पद के प्रयोग से उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि चाहे जितने भी रस रहें, असंकीर्ण रूप से रहें—ऐसा न हो कि एक रस दूसरे का प्रभाव नष्ट कर दे। इस एक शब्द के द्वारा उन्होंने अकांडप्रथन, अकांडच्छेदन, परिपन्थिरसाङ्गपरिग्रह आदि रसदोषों के परिहार की आवश्यकता पर बल दिया। इस पृष्ठभूमि के प्रस्तुत हो जाने पर आनंदवर्द्धन के द्वारा अंगांगिभाव का निर्धारण सुकर हो गया। उन्होंने कहा कि यद्यपि प्रबन्धों में अनेक रसों की योजना प्रसिद्ध है तथापि किसी एक रस को अंगी बनाने से रचना में उत्कर्ष आता है।[1] एक रस की प्रधानता तक की बात तो ठीक थी परन्तु विश्वनाथ ने यह कहकर कि शृंगार, वीर, शांत में से कोई एक ही रस अंगी होना चाहिए, उसे और भी जकड़ दिया। उनके समय तक जितने महाकाव्य लिखे गये थे उन्हें ध्यान में रखें तो यह निर्धारण प्रायः संगत है पर बाद में ऐसे महाकाव्य भी आये जिनकी रसस्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है। कठिनाई संस्कृत में भी है, हिन्दी की तो कहनी ही नहीं है। रघुवंश में कौन-सा रस निर्भ्रान्त रूप से अंगी मानेंगे? हिन्दी में साकेत या कामायनी की भी यही अवस्था है। इस दृष्टि से विश्वनाथ का नियमन विशेष सार्थक नहीं प्रतीत होता। आनंदवर्धन का कथन एक हद तक ठीक था कि किसी एक रस को अंगी बनाना चाहिए, क्योंकि वह काव्य के प्रभाव की व्यापकता और स्थायिता का साधक होता है।

आख्यायिका और कथा

भामह के अनुसार **आख्यायिका** का लक्षण है :

संस्कृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना ।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता ।।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च ।।
कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता ।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता ।। —१।२५-२७

१. प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
एको रसोऽङ्गीकर्त्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ।।—ध्व० ३।२१ ।

तात्पर्य कि **आख्यायिका** की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

१. संस्कृत गद्य में हो।

२. शब्द, अर्थ और पद-संघटना (समास आदि) अक्लिष्ट और श्रुतिसुखद हों।

३. विषय उदात्त हो।

४. कथानक का विभाजन 'उच्छ्‌वास' नाम से किया गया हो।

५. अपना वृत्तान्त नायक स्वयं कहे।

६. समय-समय पर वक्त्र एवं अपरवक्त्र छंदों के द्वारा भावी घटनाएँ सूचित हों।

७. कवि के अभिप्रायविशिष्ट किन्हीं कथनों से चिह्नित हो।

८. कन्याहरण, युद्ध, विप्रलंभ शृंगार, नायक के अभ्युदय आदि से समन्वित हो।

अब **कथा** का लक्षण देखिए :

> **न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्‌वासवत्यपि।**
> **संस्कृताऽसंस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा॥**
> **अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते।**
> **स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥**—१।२८-२९

कथा की विशेषताएँ :

१. वक्त्र-अपवक्त्र छंद न हों।

२. उच्छ्‌वास न हो।

३. संस्कृत में या असंस्कृत (संस्कृतभिन्न), अर्थात् प्राकृत अथवा अपभ्रंश में रचित हो।

४. कहानी स्वयं नायक नहीं, कोई दूसरा कहे।

इस प्रकार आख्यायिका और कथा में निम्नलिखित अंतर है :

आख्यायिका	**कथा**
१. संस्कृत में रचित।	१. संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में रचित।
२. वक्त्र-अपवक्त्र छंद हों।	२. वक्त्र-अपवक्त्र छंद न हों।
३. उच्छ्‌वास-युक्त।	३. उच्छ्‌वास-रहित।
४. नायक के द्वारा स्वचरित-वर्णन।	४. किसी अन्य के द्वारा नायक का चरित-वर्णन।

ये सभी **अन्तर बाह्य** और **अकिंचित्कर** हैं। कोई रचना संस्कृत में हो या प्राकृत अथवा अपभ्रंश में इससे क्या आता-जाता है? वक्त्र-अपवक्त्र छंदों की स्थिति का भी वही हाल है। एक तो गद्य-काव्य में पद्य की कोई सार्थकता नहीं है, विशेषतः तब जब वह अत्यंत विरल हो और केवल भावी घटनाओं की सूचना के लिए प्रयुक्त हो। वैसे ही कथानक का विभाजन उच्छ्‌वास में रहे या न रहे, उसे लगातार कहते चलें या खंडों में बाँट दें, बात बराबर है। एक अंतिम भेद ही कुछ महत्त्व का है। यदि नायक स्वयं अपनी कहानी कहता है तो उत्तमपुरुष के प्रयोग के कारण उसमें अधिक आत्मीयता की छाप

रहेगी; किसी दूसरे के कहने पर अपेक्षाकृत तटस्थता का भान होगा। इससे श्रोता की मानसिक प्रतिक्रिया में थोड़ा-बहुत तारतम्य आ जाता है।

कथा में शब्द-अर्थ कैसे हों, विषय कैसा हो, वर्ण्य क्या हो आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में भामह ने कुछ नहीं कहा; आख्यायिका से उसके स्थूल भेदक तत्त्वों का निर्देश मात्र करके छोड़ दिया। इससे स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है कि इनकी स्थिति कथा में भी वैसी ही अभीष्ट है जैसी आख्यायिका में।

कथा के स्वरूप-निरूपण के प्रस्ताव में भामह ने एक विचित्र बात कह दी है। कथा में अपना चरित नायक स्वयं नहीं कहता, क्योंकि कोई कुलीन व्यक्ति अपने गुणों और व्यापारों को स्वयं कैसे कह सकता है! बड़ा लचर तर्क है यह। यदि कथा का नायक अपने गुणों का उद्घाटन आप नहीं कर सकता तो आख्यायिका का नायक ही वैसा क्यों करने लगा? वह भी तो कुलीन ही होता है। जो संकोच कुलीनता के कारण कथा के नायक को होगा उससे आख्यायिका का नायक कैसे मुक्त हो जायगा? वस्तुतः इसमें नायक की कुलीनता-अकुलीनता का प्रश्न ही नहीं उठता, यह केवल कवि की कहानी कहने की कला का प्रकार-भेद है। आज भी उपन्यास कई रूपों में लिखे जाते हैं; कभी लेखक स्वयं द्रष्टा बनकर कहानी कहता है, कभी कोई पात्र (नायक) उत्तम पुरुष में कहानी कह जाता है, कभी पूरी-की-पूरी कहानी पत्रों द्वारा कह दी जाती है।

दंडी[१] ने आख्यायिका और कथा के भेद को अमान्य सिद्ध करते हुए भामह द्वारा निर्धारित एक-एक वैशिष्ट्य का खंडन किया है।

१. नायक के वृत्तांत का वर्णन नायक स्वयं करे या कोई दूसरा, यह भेदक लक्षण कैसे होगा? दूसरी बात यह कि अपना गुण आप कहने का दोषारोपण नायक पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका उद्देश्य गुण-कथन नहीं, आप-बीती सच्ची घटना का वर्णन होता है। यदि कोई आप-बीती सुनाता है तो इसमें क्या हानि है? तीसरी बात यह कि सदा इस नियम का पालन होता ही हो, सो भी नहीं। ऐसी आख्यायिकाएँ भी देखी जाती हैं जिनमें नायक का वृत्तांत किसी दूसरे ने कहा है, स्वयं नायक ने नहीं।

२. कथा में वक्त्र-अपवक्त्र छंद भले न हों, आर्या आदि छंद तो रहते ही हैं। तब आर्या के समान वक्त्र-अपवक्त्र के रहने में भी क्या क्षति है? अमुक छंद ही रहे, अमुक न रहे, इस नियमन का न तो कोई स्वारस्य है, न कोई तर्कसंगत आधार। इसलिए छंद को लेकर जो भेद प्रस्तावित है वह व्यर्थ है।

३. जिस तरह आख्यायिका का प्रकरण-विभाजन 'उच्छ्वास' में होता है उसी तरह कथा का 'लंबक' में। अतः यह तो नाम-मात्र का भेद हुआ। दिनकर कहिए या दिवाकर क्या अंतर हो गया? लंबक के बदले कथा में भी उच्छ्वास का प्रयोग हो सकता है या आख्यायिका में भी उच्छ्वास के बदले लंबक का।

---

१. का० द० १।२४—३०।

४, कन्याहरण, युद्ध आदि भी आख्यायिका में ही वर्णनीय माने जायँ, यह आवश्यक नहीं। वे तो महाकाव्य में भी वर्णित होते हैं। फिर, कथा में उनके समावेश पर प्रतिबन्ध क्यों? ये तो सामान्य धर्म हैं जो सभी कोटि के काव्यों में रह सकते हैं।

५. इसी प्रकार कवि के अभिप्रायगर्भित चिह्न का प्रयोग आख्यायिका के समान कथा में भी हो तो क्या दोष है? कवि के भावकृत या अभिप्रायगर्भित चिह्न से तात्पर्य किसी ऐसे शब्द-प्रयोग आदि से है जिसे कवि ने अपनी रचना में इच्छानुसार यत्र-तत्र व्यवहृत किया हो। यह एक प्रकार की मुद्रा या मुहर है जो यह प्रमाणित करती है कि अमुक रचना अमुक कवि की है। जैसे भारवि ने अपने किरातार्जुनीय के प्रत्येक सर्ग के अंतिम छंद में 'श्री' शब्द का या माघ ने अपने शिशुपालवध में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। यदि ये चिह्न आख्यायिका के ही विशिष्ट धर्म हैं तो महाकाव्य में कैसे प्रयुक्त हुए? और यदि महाकाव्य में प्रयुक्त हो सकते हैं तो कथा में क्यों नहीं?

इस तरह विचार करने पर आख्यायिका और कथा में कोई सुनिश्चित भेदक तत्त्व नहीं दिखाई पड़ता। फिर उन्हें एक ही जाति की रचना क्यों न मानें? गद्यकाव्य के अन्य भेद भी इन्हीं में गतार्थ हो जाते हैं। अतः उनके अलग-अलग भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दंडी के तर्क का यही सारांश है।

आख्यायिका और कथा के अतिरिक्त गद्यकाव्य के कुछ और प्रभेदों की चर्चा आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा हेमचन्द्र ने की है। अग्निपुराण में भी कतिपय प्रभेदों का उल्लेख है।

आनन्दवर्धन ने **परिकथा**, **सकलकथा** और **खंडकथा** का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने इन्हीं की परिभाषा मात्र दे दी है, किसी अन्य भेद की चर्चा नहीं की। भेदों की सबसे बड़ी संख्या हेमचन्द्र ने प्रस्तुत की है। वे हैं **आख्यान**, **निदर्शन**, **प्रवह्लिका** **मतल्लिका**, **मणिकुल्या**, **परिकथा**, **खंडकथा**, **सकलकथा**, **उपकथा**, **बृहत्कथा**। आनन्दवर्धन-निर्दिष्ट तीनों भेद इनमें परिगणित हैं। हेमचन्द के अनुसार इनके लक्षण इस प्रकार हैं। उन्होंने लक्षण के साथ प्रत्येक का उदाहरण भी दिया है।

१. **आख्यान**— प्रबन्ध के बीच दूसरे को समझाने के लिए नल आदि के उपाख्यान के समान किसी उपाख्यान को अभिनय, पाठ या गान के द्वारा ग्रंथिक कहे तो उसे आख्यान[1] कहते हैं; जैसे, गोविन्द।

२. **निदर्शन**— जहाँ पशु-पक्षियों अथवा उनसे भिन्न जीवों की चेष्टाओं से कार्य-अकार्य का निर्णय कराया जाय वह निदर्शन[2] कहलाता है; जैसे, पंचतंत्र आदि।

---

१. प्रबन्धमध्ये परप्रबोधनार्थं नलाद्युपाख्यानमिवोपाख्यानमभिनयन् पठन् गायन् यदैको ग्रन्थिकः कथयति तद् गोविन्दवदाख्यानम्।—का० शा०, पृ० ४०६।

२. तिरश्चामतिरश्चां वा चेष्टाभिर्यत्र कार्यमकार्यं वा निश्चीयते तत् पञ्चतन्त्रादिवत धूर्त्तविट-कुट्टिनीमतमयूरमार्जारिकादिवच्च निदर्शनम्।—वही, पृ० ४०५।

३. **प्रवल्लिका**— प्रधान पात्र को लेकर जहाँ दो व्यक्ति विवाद करें और जिसका आधा प्राकृत में रचित हो वह प्रवल्लिका[१] है; जैसे, चेटक आदि।

४. **मतल्लिका**—प्रेतभाषा या महाराष्ट्र-भाषा में रचित छोटी कहानी मतल्लिका[२] है; जैसे, गोरोचना या अनंगवती। जिसमें नीच पुरोहित या अमात्य आदि कोई कार्य आरंभ करें पर उसे समाप्त नहीं करने से उपहास का अवसर आ जाय वह भी मतल्लिका है। मतल्लिका के बदले मंथल्लिका शब्द भी मिलता है।

५. **मणिकुल्या**— जिसमें पहले तो वस्तु दिखायी न पड़े पर पीछे प्रकाशित होने लगे उसे मणिकुल्या[३] कहते हैं; जैसे, मत्स्यहसित।

६. **परिकथा**— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक पुरुषार्थ को ध्यान में रखकर विभिन्न प्रकार से अनंत वृत्तान्तों के वर्णन की प्रधानता हो वह परिकथा[४] है; परिकथा का यही लक्षण अभिनवगुप्त ने भी किया है उसमें केवल 'प्रधाना' के स्थान पर 'प्रकारा' पाठ है और उदाहरण नहीं है।

७. **खण्डकथा**— दूसरे ग्रंथ में प्रसिद्ध कथा का, यदि बीच से या अंत की ओर से, लेकर वर्णन किया जाय तो वह खण्डकथा[५] है; जैसे, इन्दुमती।

८. **सकलकथा**— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को लेकर जो कथा वर्णित हो वह सकलकथा[६] है; जैसे, समरादित्य। परिकथा में एक ही पुरुषार्थ का वर्णन रहता है। अभिनवगुप्त और हेमचंद्र के अनुसार सकलकथा का लक्षण एक ही है।

९. **उपकथा**—प्रसिद्ध कथान्तर का किसी एक पात्र में उपनिबंध उपकथा[७] है; जैसे, चित्रलेखा।

१०. **बृहत्कथा**—अद्भुत अर्थों से युक्त, लंभ से अंकित को बृहत्कथा[८] कहते हैं; जैसे, नरवाहनदत्त आदि का चरित। भाषा के विषय में हेमचंद्र ने कुछ नहीं कहा पर

---

१. प्रधानमधिकृत्य यत्र द्वयोर्विवादः सोऽर्धप्राकृतरचिता चेटकादिवत् प्रवह्लिका।
—वही, पृ० ४०७।

२. प्रेतमहाराष्ट्रभाषया क्षुद्रकथा गोरोचनानङ्गवत्यादिवन्मतल्लिका। यस्यां पुरोहितामात्यतापसादीनां प्रारब्धनिर्वाहे उपहासः साऽपि मतल्लिका। —का० शा०, पृ० ४०७।

३. यस्यां पूर्वं वस्तु न लक्ष्यते पश्चात्तु प्रकाश्यते सा मत्स्यहसितादिवन्मणिकुल्या।
—का० शा०, पृ० ४०७।

४. एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तप्रधाना शूद्रकादिवत् परिकथा।
—वही, पृ० ४०७।

धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा।
—ध्व० लो०, पृ० १७४।

५. मध्यादुपान्ततो वा ग्रन्थान्तरप्रसिद्धमितिवृत्तं यस्यां वर्ण्यते सेन्दुमत्यादिवत् खण्डकथा।
—वही, पृ० ४०७।

६. समस्तफलान्तेतिवृत्तवर्णना समरादित्यवत् सकलकथा।—वही, पृ० ४०७।

७. एकतरचरिताश्रयेण प्रसिद्धकथान्तरोपनिबन्ध उपकथा।—वही, पृ० ४०७।

८. लम्भाङ्किताद्भुतार्था नरवाहनदत्तादिचरितवद् बृहत्कथा।—वही, पृ० ४०७।

अन्यत्र पिशाचभाषा, अर्थात् पैशाची प्राकृत का निदश है। इन भेदों का उल्लेख हेमचंद्र के अतिरिक्त और किसी लेखक ने नहीं किया है। इससे अनुमान होता है कि गद्यकाव्य के ये प्रभेद अधिक प्रचलित नहीं थे। इनका पारस्परिक सीमांकन भी बहुत स्पष्ट नहीं है। फिर भी खेद की बात यह अवश्य है कि इन प्रभेदों के उदाहरण के रूप में हेमचंद्र ने जिन ग्रंथों के नाम दिये हैं उनमें आज एक भी उपलब्ध नहीं है। इन प्रभेदों को देखने से एक बात तो स्पष्ट होती ही है कि संस्कृत में गद्यकाव्य की उपेक्षा और अल्पता की जो कल्पना की जाती है वह संगत नहीं है। यदि प्रत्येक वर्ग में तीन-चार रचनाएँ भी रही हों तो लगभग चालीस हुईं जो निःसंदेह स्पृहणीय संख्या है।

अभिनेयार्थ

भामह ने अभिनेयार्थ (दृश्यकाव्य) में नाटक, ि पदी, शम्या, रासक, स्कंधक ये पाँच नाम गिनाये, 'आदि' शब्द से इतर भेदों का परामर्श कराया और यह कहकर कि उनका सविस्तर विवेचन दूसरों ने किया है, स्वयं उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। वस्तुतः अभिनेयार्थ का जैसा व्यापक और सर्वपक्षीय निरूपण भरत के नाट्यशास्त्र में है उसे देखते हुए भामह का उस ओर उन्मुख न होना सर्वथा उचित प्रतीत होता है।

जिन पाँच अभिनेयार्थों का उन्होंने नाम्ना निर्देश किया है उनके विषय में अधिक कहने का अवकाश नहीं है, फिर भी स्पष्टीकरण के लिए दो-एक बातें प्रसंग-प्राप्त हैं। इस नाम-निर्देश में भी भामह के सामने वैसे भेद अनायास आये होंगे जो उनके समय में अधिक प्रचलित रहे होंगे। रूपकों में नाटक तो सर्वप्रमुख है ही किन्तु द्विपदी आदि अपेक्षाकृत अप्रसिद्ध, गौण भेद हैं। उनके नाम भामह ने निष्प्रयोजन ही नहीं लिये होंगे। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि इनमें शुद्ध अभिनेय रूपकों की तुलना में, गेय रूपकों का बाहुल्य है, जो इस निष्कर्ष को पुष्ट करता है कि उस समय गेय रूपक संभवतः अधिक लोकप्रिय थे। हमारा अनुमान है कि शिष्ट-रंगमंच के समानान्तर लोक-रंगमंच भी आकर्षण का केन्द्र था और दोनों के लिए जो रचनाएँ प्रस्तुत की जाती होंगी उनमें रुचिभेद के कारण तारतम्य भी रहता होगा। शिष्ट-रंगमंच के लिए लिखे गये रूपकों में; जैसा स्वाभाविक है, साहित्यिकता का अंश अधिक रहता होगा और लोक-रंगमंचोपयोगी रूपकों में मनोरंजन का। मनोरंजन का अन्यतम साधन संगीत है। निसर्गतः संगीत-बहुल या यों कहें कि गेय रूपक अपेक्षाकृत लब्ध-प्रसर रहे होंगे। जिस प्रकार प्राकृतों का प्रचलन बढ़ जाने पर रूपकों में उनका ग्रहण और प्रयोग अनिवार्य हो गया उसी प्रकार लोक-रंगमंच की दृष्टि से प्रस्तुत रचनाओं का भी, बहुलता तथा लोकप्रियता के कारण, लक्षण-ग्रंथों में समावेश अनिवार्य हो गया। द्विपदी, शम्या आदि उन्हीं लोकरंगमंचीय रूपकों के भेद मालूम पड़ते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे प्राकृतों का प्रभाव क्षीण पड़ता गया और संस्कृत का प्रभाव बढ़ता गया। संस्कृत की प्रभाव-वृद्धि का अपरिहार्य परिणाम हुआ—लोक-साहित्य का ह्रास और उपेक्षा। यही कारण है कि जहाँ नाटक,

प्रकरण आदि साहित्यिक रूपकों का प्रणयन बहुत बाद तक होता रहा, वहाँ लोक-रंगमंचीय रूपकों का प्रणयन एक प्रकार से बंद हो गया। धनंजय या विश्वनाथ ने इन रूपक-भेदों की चर्चा नहीं की है जिससे प्रतीत होता है कि उनके समय तक ये भेद लुप्तप्राय न भी हुए हों तो विस्मृत अवश्य हो गये थे अन्यथा २८ रूपक-उपरूपकों की चर्चा करनेवाले ये आचार्य इन्हें क्योंकर छोड़ देते।

रीति

भोज ने रीति शब्द की निष्पत्ति गमनार्थक 'रीङ्' धातु से बतायी है;[1] तात्पर्य कि जिससे जाया जाय या चला जाय वह रीति है। इस प्रकार रीति शब्द मार्ग का पर्याय है। रीति को लोकप्रिय बनाने का श्रेय वामन को है अन्यथा उनके पहले रीति के बदले प्राय: 'मार्ग' का ही प्रयोग देखा जाता है।

भामह ने न तो 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है, न 'मार्ग' का। वस्तुत: उन्होंने इस तत्त्व को कोई मान्यता भी नहीं दी है। बल्कि जो लोग इस आधार पर काव्य को विभिन्न वर्गों में रखते हैं, उनका, उन्होंने 'अमेधस्' (बुद्धिहीन) कहकर उपहास किया है।

भामह कहते हैं कि अमुक काव्य वैदर्भ होने से श्रेष्ठ है और अमुक गौडीय होने से हीन, ऐसा कहना गतानुगतिकता-मात्र है। नाम से क्या होता-जाता है? वैदर्भ नाम से अभिहित होनेवाला काव्य भी हीन हो सकता है और गौडीय में भी उत्कृष्टता रह सकती है। यदृच्छा से उद्भावित नाम काव्य के उत्कर्षापकर्ष के विधायक नहीं हो सकते। वैदर्भ काव्य[2] में स्पष्टता, ऋजुता, कोमलता हो ही और पुष्टार्थता तथा वक्रोक्ति न हो तो वह संगीत के समान केवल श्रुतिमधुर होगा, अर्थात् उसमें केवल बाह्य रंजकता होगी, हृदय का स्पर्श करने की मार्मिकता नहीं।

इसके प्रतिकूल वह गौडीय[3] काव्य भी कहीं अच्छा है जो अलंकारयुक्त, ग्राम्यता-रहित, अर्थवान्, न्यायसंगत और अनाकुल हो। तात्पर्य यह कि नाममात्र से किसी वस्तु को अच्छा या बुरा, उत्कृष्ट या अपकृष्ट नहीं कह सकते; उसके गुणों पर विचार करके ही कुछ कहना चाहिए। जो लोग यह मानते हैं कि वैदर्भ नाम की सभी रचनाएँ श्रेष्ठ हैं और गौड कहलानेवाली सभी हीन, वे भूल करते हैं। इन नामों से काव्य का आन्तरिक तथा तात्त्विक वैशिष्ट्य व्यक्त नहीं होता, अत: ये उपेक्षणीय हैं।

---

१. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥ —स० कं० २।५१।

२. अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥ —का० १।३४।

३. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥ —का० १।३५।

भामह के इस संक्षिप्त विवेचन में भी एक बात पर्याप्त महत्त्व की है और वह यह कि **देशभेद से शैली-भेद मानना अयुक्तियुक्त और निःसार है।** इस संकेत को कुंतक ने बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि यदि देश-भेद के आधार पर रीतियों को मानें तो देशों के अनन्त होने से रीतियाँ भी अनन्त माननी होंगी[1], दो या तीन से ही काम नहीं चलेगा। दूसरी आपत्ति यह है कि जिस देश की जो रीति है, वहाँ के सभी कवियों को उसी में रचना करनी चाहिए पर ऐसा देखा नहीं जाता। एक ही स्थान में रहनेवाले दो कवि परस्पर भिन्न शैली का प्रयोग करते हैं। इसलिए देशधर्म के रूप में किसी एक रीति को स्वीकार कर उसी में सबका काव्य रचना सम्भव नहीं है।

देश के आधार पर रीतियों को स्वीकार करने में जिस आनंत्य की शंका कुंतक ने की उसका स्पष्ट प्रमाण भोज ने दे दिया। उन्होंने ६ रीतियों का उल्लेख किया—वैदर्भी, पांचाली गौडी, आवन्ती, लाटी और मागधी।[2] नाम के लिए रीतियाँ तो ६ उन्होंने गिना दीं पर इनका पारस्परिक अंतर स्पष्ट नहीं हो सका, हो भी नहीं सकता है। रीति के प्रमुख भेदक हैं समास और वर्ण-विन्यास। इनके आधार पर वैदर्भी और गौडी का ही अन्तर पूर्णतः ग्राह्य होता है, दोनों की मध्यवर्त्तिनी पांचाली भी किसी प्रकार अंगीकार्य है पर अन्य में सांकर्य अपरिहार्य हो जाता है। यही कारण है कि दंडी ने दो का ही निर्देश किया—"परस्पर सूक्ष्म भेद रखनेवाले वाणी के अनेक मार्ग (रीतियाँ) हैं पर उनमें यहाँ वैदर्भ और गौड दो का ही वर्णन किया जाता है, क्योंकि उनका अन्तर सर्वथा स्पष्ट है (अन्य में अन्तर की वह स्पष्टता नहीं है)।"[3] दोनों का अन्तर दिखाने के लिए उन्होंने दस गुणों की चर्चा की। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति, समाधि ये दस गुण[4] वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं, अर्थात् उसमें अवश्य रहते हैं; गौड मार्ग में इनका प्रायः विपर्यय देखा जाता है, अर्थात् उसमें ये गुण या तो नहीं ही रहते या कहीं रहते भी हैं तो केवल अंशतः। तात्पर्य कि **वैदर्भ मार्ग समग्रगुणसम्पन्न** है और **गौड तद्रहित**। दंडी के मार्गों (रीतियों) को समझने के लिए पूर्वोक्त दस गुणों को हृदयंगम करना, जिनका निरूपण ६० कारिकाओं में है, आवश्यक है, क्योंकि उनके द्वारा ही रीतियों का स्वरूप स्पष्ट हो पाता है। कुंतक ने देश के आधार पर स्वीकृत रीतियों का खंडन कर उन्हें **कवि-स्वभाव** के आधार पर जो प्रतिष्ठित किया वह कहीं अधिक तर्कसंगत था पर

---

१. यस्मात् देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्याद् असंख्यत्वं प्रसज्येत। न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं.... देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यते। ....तस्मिन् सति तथाविधं काव्यकरणं सर्वस्य स्यात्। —व० जी०, पृ० ६६।

२. वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेती षोढा रीतिर्निगद्यते॥—स० कं० २।५२।

३. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥—का० द०, १।४०।

४. का० द० १।४१-४२।

गतानुगतिकता का आग्रह कुछ ऐसा प्रबल रहा कि आलंकारिकों ने उस ओर ध्यान नहीं दिया।

रीतियों के देशपरक नामकरण की अयुक्तता स्वीकार कर लेने पर भी यह प्रश्न उठता है कि क्या ये नामकरण सर्वथा यादृच्छिक थे ? देश-विशेष से क्या उनका कोई सम्बन्ध नहीं था ? इस प्रसंग में बाणभट्ट का यह श्लोक ध्यान देने योग्य है :

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः॥—हर्षचरित : १।७

—उत्तरवालों में श्लेष का प्राचुर्य, पश्चिमवालों में अर्थमात्र का आग्रह दाक्षिणात्यों में उत्प्रेक्षा का बाहुल्य और गौडों (पूर्ववालों) में शब्दाडंबर दिखायी देता है।

उद्धृत श्लोक से इस धारणा को बल मिलता है कि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की रचना-पद्धतियों की कुछ सुस्पष्ट विशेषताएँ थीं जो उस-उस क्षेत्र में लब्ध-प्रसर थीं और बहुमत उनका अनुसरण करता था। आरम्भ में उन विशेषताओं का बन्धन अपेक्षाकृत अधिक दृढ रहा होगा पर जैसे-जैसे काव्य-सरणियाँ विकसित होती गयीं और अभिव्यंजना में स्वच्छन्दता आती गयी वैसे-वैसे वे बन्धन ढीले पड़ते गये। कवियों की रुचि, शक्ति तथा प्रकृति के अनुसार वैसा होना अनिवार्य था पर परिवर्त्तन हो जाने के बाद भी नाम ज्यों-के-त्यों रह गये और अब वे देशगत विशेषताओं के बोधक न रहकर शैलीगत विशेषताओं के बोधक हो गये। वैदर्भी कहलानेवाली रीति विदर्भ तक ही सीमित नहीं रही—वह एक विशिष्ट प्रकार की असमस्त, मधुर शैली की सामान्य संज्ञा बन गयी जिसका प्रयोग कहीं भी हो सकता था। यही अवस्था गौडी आदि की भी हुई। वामन ने कहा ही है कि विदर्भ आदि देशों में पायी जाने के कारण इन रीतियों के ये नाम पड़े हैं :

विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या।—का० सू० १।२।१०

बाद में कुंतक जैसे कुछ आलंकारिकों ने इन नामों की अयुक्तता बताकर परिवर्त्तन का आग्रह किया। दूसरे आलंकारिकों ने कहा कि ये नाम अब देशविशेष से सम्बद्ध न होकर रचना-सरणि के वाचक हो गये हैं; साथ ही प्रचलित भी हो चुके हैं, अतः उन्हें परिवर्त्तित करने की आवश्यकता नहीं। इसके लिए कोई-न-कोई नाम तो रखना ही होगा। फिर जो प्रचलित है उसे ही क्यों न रखें ? इस प्रकार ये नाम चलते रहे।

दोष

कविता हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक हो, इसके लिए आवश्यक है कि वह दोषों से मुक्त हो। यही कारण है कि आलंकारिकों ने दोष-परिहार के लिए अत्यधिक सतर्कता का आग्रह किया है। दंडी ने कहा कि जिस प्रकार सुन्दर-से-सुन्दर शरीर श्वेतकुष्ठ के एक दाग से भी अपनी कमनीयता खो बैठता है उसी प्रकार काव्य कितना भी रमणीय

क्यों न हो पर उसका उत्कर्ष थोड़े-से दोष से भी नष्ट हो जाता है। अतः दोष की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।।—का० द० १।६

भामह ने एक कदम और आगे बढ़कर कहा कि एक भी सदोष शब्द का प्रयोग न हो इसका सब प्रकार से ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि दोषयुक्त काव्य कुपुत्र के समान निन्दा का कारण बनता है :

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ।।— का० १। ११

वाग्भट (प्रथम) ने गुण, अलंकार आदि के निरूपण के पूर्व दोष का ही निरूपण किया और उसके लिए तर्क दिया कि केवल दोषहीन काव्य ही कीर्त्ति को देनेवाला है। यही नहीं, वह स्वर्ग की सोपान-परम्परा भी है। अतः दोषों का परिहार सर्वथा आवश्यक समझकर मैं आरम्भ में उन्हीं का उल्लेख करता हूँ।

अदुष्टमेव तत् कीर्त्त्यै स्वर्गसोपानपङ्क्तये।
परिहार्यानितो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ।।—वा० लं० २।५

प्राचीन आलंकारिकों में भामह ने जितने विस्तार से दोषों का निरूपण किया है वैसा किसी दूसरे ने नहीं किया। संपूर्ण काव्यालंकार का लगभग आधा भाग (३९९ कारिकाओं में प्रायः १७० कारिकाएँ) दोष-निरूपण-परक है। काव्य के अन्य तत्त्वों के के समान भामह के दोष-निरूपण में भी क्रमबद्धता का अभाव है। उन्होंने तीन स्थलों पर दोषों की चर्चा की है। सबसे पहले **प्रथम परिच्छेद** में रीति की आलोचना करते समय, बिना किसी प्रक्रम के उन्होंने ६ दोषों—**नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढशब्दाभिधान**—का निर्देश किया है; इनके समनंतर ही, पर पृथक् ४ और दोषों—**श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट** तथा **श्रुतिकष्ट**—का। यहाँ न तो इन दोषों की चर्चा का कोई युक्ति-संगत आधार है, न ६ और ४ के पृथक् निर्देश का। सब के लक्षण उदाहरण भी नहीं है; जैसे, क्लिष्ट का या गूढशब्दाभिधान का लक्षण है पर उदाहरण नहीं; इसी प्रकार श्रुतिदुष्ट और श्रुतिकष्ट के उदाहरण हैं पर लक्षण नहीं। अनेक अलंकारों में भी यही बात देखने को मिलती है।

दोषों की चर्चा का दूसरा स्थल है **द्वितीय परिच्छेद** में जब उपमा अलंकार के निरूपण के बाद ७ उपमा-दोषों—**हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिकत्व और असदृशता**—का उल्लेख हुआ है जिनके लिए भामह मेधावी के ऋणी हैं।

इसके बाद पूरे **चतुर्थ और पंचम परिच्छेदों** में दोष का व्यापक वर्णन है। वस्तुतः ये परिच्छेद दोष-परिच्छेद कहे जा सकते हैं। चतुर्थ परिच्छेद के आरंभ में भामह ने ये

दोष गिनाये हैं **१. अनर्थ; २. व्यर्थ; ३. एकार्थ; ४. ससंशय; ५. अपक्रम; ६. शब्दहीन; ७. यतिभ्रष्ट; ८. भिन्नवृत्त; ९. विसन्धि; १०. देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगम-विरोधी; ११ प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टांत-हीन।** इनमें प्रथम दस दोषों का वर्णन चतुर्थ परिच्छेद में और ग्यारहवें—प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टांत-हीन—का पंचम परिच्छेद में है। अंतिम का निरूपण करनेवाले एकमात्र आचार्य भामह हैं। दंडी ने कर्कश[1] कहकर उसकी उपेक्षा की और बाद के आलंकारिकों ने भी उसे ग्रहण नहीं किया, कारण कि काव्य से उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। भामह के प्रथम निर्दिष्ट दस दोष भरत-प्रदर्शित दस दोषों[2] पर आश्रित हैं और दंडी ने[3] भी प्रायः उन्हें ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। उनमें नाम और लक्षण को लेकर कहीं-कहीं जो अन्तर दिखायी देता है वह अकिंचित्कर है; थोड़ा भी ध्यान देने पर उनके आधार की एकता स्पष्ट हो जाती है।

चूँकि प्रतिज्ञा, हेतु आदि तर्कशास्त्र से संबद्ध हैं अतः उस शास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए उनका अवगम कष्टसाध्य है। यों, कोई भी ज्ञान अनुपादेय नहीं होता, फिर भी साक्षात्-असाक्षात् का भेद तो रहता ही है। आरम्भ में न्यायाश्रित प्रतिज्ञा आदि का निरूपण कर पीछे भामह ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि काव्य में उनकी क्या सार्थकता है।

इन सुनिर्दिष्ट दोषों के अतिरिक्त काव्यालंकार में अनेक दोष यहाँ-वहाँ प्रकीर्ण रूप से भी वर्त्तमान हैं। **अपुष्टार्थता, वक्रोक्तिहीनता, ग्राम्यता, आकुलता**[4] का उल्लेख वैदर्भी-गौडी रीतियों की चर्चा के प्रसंग में हुआ है। यद्यपि आकुलता को दोषों में उन्होंने कहीं भी गिनाया नहीं है पर उसे हेय हर तरह से माना है।[5] इसी प्रकार एक स्थान पर[6] उन्होंने **अहृद्यता, असुनिर्भेदता** (जिसका अर्थ सुगमता से फूट न सके, अर्थात् असुलभार्थता) और **अपेशलता** का निर्देश किया है। इसके थोड़ा ही आगे **विरुद्धपद, अस्वर्थ** (जिसका अर्थ सुन्दर न हो), **बहुपूरण** (पादपूरण), **व्यायतता** (अनावश्यक विस्तार) की चर्चा है।[7] दोष-निरूपण के प्रसंग में इनका उल्लेख न होने से प्रायः इनकी ओर ध्यान

---

१. विचारः कर्कशप्रायः तेनालीढेन किं फलम्।—का० द० ३। १२७।

२. निगूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धिश्शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥—ना० शा० १७।८८।

३. अपार्थंव्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम्॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः।—का० द० ३।१२५-२६।

४. का० लं० २।३४-३५।

५. का० लं० ३।५४; ४।६७।

६. का लं० ५।६२।

७. का० लं० ५।६७।

नहीं जाता पर इसमें संदेह नहीं कि ये भामह की दोष-दर्शन-समर्थ प्रतिभा के प्रमाण हैं। यदि उन्होंने इन्हें भी क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया होता तो निश्चय ही अधिक श्रेय के भागी होते। फिर भी इतना निस्संदेह कहा जा सकता है कि उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों के दोष-विवेचन में इन प्रकीर्ण दोषों से भी सहायता मिली होगी।

उपर्युक्त दोषों की मीमांसा से स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध काव्य के बाह्य तत्त्वों—शब्द, अर्थ, छंद आदि—से है, आंतरिक तत्त्वों, जैसे रस या ध्वनि, से नहीं। बात यह है कि इन दोषों की उद्भावना के समय स्वयं काव्य-समीक्षा ही निर्माणावस्था में थी, स्वभावतः उसकी दृष्टि स्थूल और और बाह्य तत्त्वों तक ही सीमित थी। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा अभी हुई नहीं थी; रस-सिद्धान्त को दृश्य काव्य के बाहर मान्यता मिली नहीं थी। ऐसी स्थिति में काव्य के बहिरंग पर विचार न होता तो होता क्या? जैसे-जैसे काव्य के आंतरिक तत्त्वों का परिज्ञान होता गया वैसे-वैसे दोषों के निरूपण में भी सूक्ष्मता आती गयी और तब दोष केवल शब्द, अर्थ तक सीमित न रहकर रस-सापेक्ष बन गये। फिर तो ऐसी स्थिति आयी कि शब्द और अर्थ का स्वतंत्र अस्तित्व लुप्तप्राय हो गया, वे रस व्यंजक मात्र रह गये और उनके गुणदोष का विवेचन भी इस दृष्टि से होने लगा कि वे कहाँतक रसानुभूति के साधक या बाधक हैं।

गुण

द्वितीय परिच्छेद के आरंभ में भामह ने गुण की अत्यंत संक्षिप्त—केवल तीन कारिकाओं में—चर्चा की है। यह चर्चा इतनी अपर्याप्त है कि इससे लेखक की गुण-सम्बन्धी धारणा को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। गुण किसे कहते हैं? उसकी काव्य में क्या उपयोगिता है? काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ सका क्या सम्बन्ध है?—ऐसे मौलिक और अपेक्षित प्रश्नों का भी समाधान उन्होंने नहीं किया है। वे कारिकाएँ हैं:

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥—२।१
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका॥—२।२
श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।
आविद्वदङ्गना बालप्रतीतार्थं प्रसादवत्॥—२।३

इनमें गुण का सामान्य लक्षण कहीं निर्दिष्ट नहीं है। पहली कारिका में भामह का कहना है कि माधुर्य और प्रसाद में समस्त पदों का अधिक प्रयोग नहीं होना चाहिए। दूसरी कारिका में ओज का लक्षण और उदाहरण है परन्तु न लक्षण पूर्ण है, न उदाहरण संगत। लक्षण इतना ही है कि ओज गुण में बहुत पदों का समास रहता है (वर्णों के सम्बन्ध में कोई नियमन नहीं है)। परिणामतः जो उदाहरण दिया गया है वह समास-बाहुल्य रहने पर भी ओज के बदले माधुर्य गुण का उदाहरण हो गया है। तीसरी कारिका

में माधुर्य और प्रसाद के लक्षण हैं पर उदाहरण दोनों में एक का भी नहीं है। जो काव्य श्रव्य (सुनने में अच्छा) और अनतिसमस्त हो वह मधुर और जिसका अर्थ विद्वान् से लेकर स्त्री-बच्चे तक समझ जायँ वह प्रसादयुक्त। गुण के विषय में भामह के कथन का निष्कर्ष इस प्रकार है :

ओज—समास-बाहुल्य।

माधुर्य—श्रव्यत्व, अनतिसमस्तत्व।

प्रसाद—अर्थसुलभत्व, अनतिसमस्तत्व।

भामह का गुण-निरूपण स्थूल होते हुए भी बहुत कुछ ठीक है। उन्होंने प्रत्येक गुण के अन्तर्निहित वैशिष्ट्य को यथासम्भव देखने की चेष्टा की है। त्रुटि यह है कि उसमें सूक्ष्मता एवं गंभीरता का अभाव है, साथ ही सांकर्य भी है। हाँ, एक बात में उनका श्रेय और महत्त्व स्वीकार करना पड़ता है और वह यह कि तीन गुणों का निर्देश करनेवाले वे प्रथम आचार्य हैं। भामह के पूर्ववर्त्ती भरत ने १० गुण माने थे, उत्तरवर्त्ती दण्डी ने १०, वामन ने २०, भोज ने ४८। गुणों की यह संख्या-वृद्धि प्रायः यादृच्छिक थी, उसमें तर्क और युक्ति का अभाव था। आनन्दवधन और मम्मट ने काट-छाँटकर उसे अधिक वैज्ञानिक आधार पर खड़ा किया। भामह ने युक्तिपूर्वक अपना पक्ष भले ही प्रस्तुत नहीं किया पर गुणों की संख्या को ३ तक ही सीमित रखने में वेनिश्चय ही आनन्दवर्धन के अग्रगामी ठहरते हैं। यदि ऐसा उन्होंने समझ-बूझकर किया तो निस्सन्देह बहुत बड़े महत्त्व के भागी हैं। यह ऐसी विशेषता है जो किसी भी अध्येता का ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकती। नारायण बनहट्टी[1] और व्ही० राघवन[2] ने इस सम्बन्ध में यह कल्पना की है कि अलंकार-शास्त्र के विभिन्न स्वतंत्र संप्रदाय चल रहे थे; उनमें एक का अनुगमन भामह ने किया जिसमें गुणों की संख्या तीन थी, और दूसरे का भरत, दंडी आदि ने, जिसमें गुणों की संख्या दस थी। बनहट्टी ने इन्हें क्रमशः काश्मीर और वैदर्भ संप्रदाय कहा है। यह कल्पना असंगत नहीं जान पड़ती।

गुण शब्द का भामह ने एक और जगह प्रयोग किया है। भाविक अलंकार की चर्चा करते हुए उन्होंने उसे प्रबन्धविषयक गुण[3] कहा है। भाविक को गुण किसी आलंकारिक ने नहीं माना है, स्वयं भामह ने भी उसका निरूपण अलंकारों के प्रकरण में ही किया है। अन्तर यही है कि जहाँ और आलंकारिकों ने भाविक की स्थिति स्फुट पद्यों में मानी है वहाँ भामह ने प्रबन्धगत। भाविक का लक्षण है भूत या भावी वस्तु का प्रत्यक्षायमाणत्व जो किसी एक पद्य में भी हो सकता है और प्रबन्ध में भी। यहाँ गुण का प्रयोग वैशिष्ट्य के अर्थ में है, गुण के पारिभाषिक अर्थ में नहीं।

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह की भूमिका, पृ० ३१।

२. शृंगारप्रकाश, पृ० २६३।

३. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। —का० लं० ३।५३।

अलंकार

भामह का अलंकार-निरूपण पर्याप्त व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। सच पूछिए तो काव्यालंकार में उन्होंने दो ही विषयों का विस्तृत विवेचन किया है और वे हैं अलंकार तथा दोष। उनके द्वारा चर्चित अलंकारों का काव्यगत महत्त्व तो है ही, ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत बड़ा है, क्योंकि अलंकार-शास्त्र के वह आद्य आचार्य हैं।

भामह को अलंकारवादी कहा जाता है। वह किस रूप में अलंकारवादी हैं, इसे देख लेना अच्छा होगा। जिस प्रकार वामन ने रीति को, आनन्दवर्धन ने ध्वनि को या विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना उस प्रकार भामह ने कहीं भी अलंकार को काव्य की आत्मा नहीं कहा; उन्होंने अलंकार का स्पष्ट लक्षण भी नहीं किया। फिर भी वह अलंकारवादी हैं तो कैसे? सम्भवत: इसलिए कि उन्होंने

१. अलंकार को काव्य-शोभा का आधायक तत्त्व बताया।[१]

२. अपने ग्रंथ का बहुलांश (४०० में १५१ कारिकाएँ) अलंकार-निरूपण में व्यय किया। पर इस सम्बन्ध में स्मरण रखना चहिए कि भामह के समय में या उनके बाद भी अलंकार शब्द का प्रयोग केवल उपमा-रूपक आदि के संकुचित अर्थ में न होकर **काव्य-सौन्दर्य के निष्पादक** सभी **तत्त्वों** के लिए होता था। दंडी, वामन आदि की उक्तियों से यह स्पष्ट है। वामन ने तो **'सौन्दर्यमलङ्कार'** कहकर निर्भ्रान्त रूप से प्रतिपादित कर दिया कि अलंकार सौन्दर्यमात्र को कहते हैं। अतः काव्य-शोभा के जो भी निष्पादक हुए वे अलंकार शब्द के वाच्य बन गये। दंडी का कथन इस दृष्टि से ध्यातव्य है :

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।—का० द० २।१

उन्होंने गुण और अलंकार में भी भेद नहीं माना। यही क्यों, मुख आदि ५ संधियों, उपक्षेप आदि ६४ संध्यङ्गों, कैशिकी आदि ४ वृत्तियों, नर्म आदि १६ वृत्त्यङ्गों और भूषण आदि ३६ लक्षणों को भी उन्होंने अलंकार में गिन लिया।

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः॥—का० द० २।३६७

—आगमान्तर, अर्थात् दूसरे शास्त्र (भरत-कृत नाट्यशास्त्र) में जो सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्यङ्ग, लक्षण आदि सविस्तर वर्णित हैं उन्हें भी हम अलंकार ही मानते है।

अलंकार शब्द का प्रयोग-स्थल कितना विस्तृत था यह इससे स्पष्ट है।

इसका एक और प्रमाण यह है कि रस को भी जब श्रव्यकाव्य में स्थान मिला तब उसे रस न कहकर रसवदलङ्कार कहा गया!

---

१. रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानननम्॥ —का० लं० १।१४।

अतः भामह यदि अलंकारवादी हैं तो इसी व्यापक अर्थ में, अन्यथा उन्हें अलंकार-वादी की अपेक्षा **वक्रोक्तिवादी** कहना अधिक न्याय्य है। उनके द्वारा निर्मित काव्य-लक्षण की परीक्षा के प्रसंग में हमने दिखाया है कि वह वक्रोक्ति को ही काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं, अलंकार को नहीं। वक्रोक्ति और अलंकार दो वस्तुएँ हैं, वक्रोक्ति अलंकार (चमत्कार) का हेतु है, उससे एकरूप नहीं। बिना वक्रोक्ति के चमत्कार आ ही नहीं सकता।

भामह के अनुसार अलंकार का मूल तत्त्व है **अतिशयोक्ति** और अतिशयोक्ति का अर्थ है **लोकातिक्रान्तगोचर वचन** :

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥—२।८१

भामह की इस मान्यता का उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने भी मुक्तकंठ समर्थन किया है। दंडी ने दृढतर शब्दों में कहा कि

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥—का० द० २।२२०

—बृहस्पति द्वारा प्रशंसित यह अतिशयोक्ति अन्य अलंकारों का भी प्रधान और सर्वश्रेष्ठ आधार है।

आनन्दवर्धन ने भी उसकी उपादेयता स्वीकार की है—**प्रथमं तावदतिशयोक्ति-गर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्।**

—ध्व०, पृ० २५९

अर्थात्, पहले तो सभी अलंकारों की अतिशयोक्तिगर्भता संभव है। महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त होकर ही वह अवर्णनीय काव्यशोभा को पुष्ट करती है। विषय के औचित्य के अनुरूप अतिशयोक्ति का उपनिबन्ध काव्य में उत्कर्ष क्योंकर न लायगा?

काव्य-प्रकाश के दशम उल्लास में 'विशेष' अलंकार का निरूपण करते हुए मम्मट ने भी अतिशयोक्ति को अलंकारों का प्राण स्वीकार किया है।

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणा-लङ्कारत्वायोगात्।—का० प्र०, पृ० ७४३

यह अतिशयोक्ति **अतिशयोक्ति नामक अलंकार नहीं** बल्कि **अलंकारत्व का बीजभूत तत्त्व** है। अतिशयोक्ति नामक अलंकार में अतिशयोक्ति शब्द योगरूढ है और यहाँ यौगिक, अतः उसका सामान्य अर्थ ही अभिप्रेत है।

भामह के **'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः'** इस कथन का अर्थ करते हुए प्रायः सभी ने अति-शयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्याय बताया है पर हमारी धारणा है कि ग्रंथकार दोनों को

पर्याय रूप में उपस्थित करने के पक्षपाती नहीं हैं। पहले दोनों शब्दों के वाच्यार्थ को ही लें। अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति में जो अतिशय और वक्र शब्द हैं वे क्या एक ही अर्थ के वाचक हैं? अतिशयोक्ति का अर्थ है बढ़ा-चढ़ाकर कहना और वक्रोक्ति का अर्थ है घुमा-फिराकर कहना। फिर दोनों पर्याय कैसे हुए? **अतिशयोक्ति** का लक्ष्य है **गुणातिशययोग** और **वक्रोक्ति** का **अभिव्यंजनावैचित्र्य**। चमत्कार के लिए दोनों आवश्यक हैं। अतः इसको

अतिशयोक्ति = वक्रोक्ति = चमत्कार न कहकर

अतिशयोक्ति + वक्रोक्ति = चमत्कार कहना अधिक

संगत है। **अतिशयोक्ति** काव्य में **लोकोत्तरता**—असाधारणता लाती है और **वक्रोक्ति रमणीयता**। जैसे, किसी ने कहा कि नायिका का मुख चंद्रमा से बढ़कर सुन्दर है तो इसमें अतिशयोक्तिजन्य असाधारणता तो हुई पर रमणीयता नहीं आयी। यह कथन असाधारण होते हुए भी चमत्कारशून्य है। तुलसीदास ने सीता के मुख का सौन्दर्य-वर्णन करते समय बात यही कही कि उनका मुख चन्द्रमा से बढ़कर सुन्दर है पर वक्रोक्ति का योग हो जाने से उसमें चमत्कार आ गया।

जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक।।

इसलिए अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्याय कहना अमान्य है। 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' में भामह का तात्पर्य यह नहीं है कि अतिशयोक्तिमात्र वक्रोक्ति है बल्कि यह कि वक्रोक्ति में अतिशयोक्ति अवश्य रहती है, पर रमणीयता उत्पन्न करना अतिशयोक्ति का नहीं, वक्रोक्ति का व्यापार है। यह उन्होंने आगे अनेकधा स्पष्ट किया है।

अनयार्थो विभाव्यते—वक्रोक्ति से अर्थ विभावित होता है, अर्थात् रमणीय—आस्वादयोग्य—बनता है।

कोऽलङ्कारोऽनया विना—वक्रोक्ति के बिना कौन अलंकार संभव है, अर्थात् चमत्कार संभव ही नहीं है।

हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों के खंडन के प्रसंग में भी भामह ने अतिशयोक्ति का नाम नहीं लिया। उन्होंने कहा कि ये अलंकार इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि इनमें वक्रोक्ति नहीं रहती—**वक्रोक्त्यनभिधानतः**।

पंचम परिच्छेद में उन्होंने फिर कहा कि

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते।—५।६६

इन कथनों से निर्विवाद सिद्ध है कि भामह **वक्रोक्तिवादी थे, अलंकारवादी नहीं।**

भामह वक्रोक्तिविशिष्ट रचना को ही काव्य मानते हैं; जहाँ वक्रोक्ति नहीं वहाँ काव्यत्व नहीं। उनके अनुसार वक्रोक्तिशून्य अभिधान वार्त्ता है।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते।।—२।८७

भामह द्वारा वर्णित अलंकारों की संख्या ३८ है। भरत-निर्दिष्ट ४ अलंकारों की तुलना में यह ३८ की संख्या निश्चित प्रगति की सूचक है। इन अलंकारों में कितने पूर्वप्राप्त हैं और कितने स्वयं भामह द्वारा उद्भावित, इसका संकेत ग्रंथ में नहीं मिलता। उदाहरणों के विषय में उन्होंने यह अवश्य कहा है कि ये मेरे हैं :

स्वयं कृतैरेव निदर्शनैरियं
मया प्रक्लृप्ता खलु वागलङ्कृतिः।—२।९८

अलंकारों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि मैंने स्वयं अपनी बुद्धि से निश्चय करके इनका वर्णन किया है जिसका अर्थ यही हो सकता है कि प्रचलित अलंकारों के ग्रहण और त्याग में उन्होंने अपने विवेचकत्व तथा निर्णय से काम लिया है।

भामह द्वारा वर्णित अलंकारों में २ शब्दालंकार और ३६ अर्थालंकार हैं।

शब्दालंकार—१. अनुप्रास; २. यमक; ।

अर्थालंकार— १. रूपक; २. दीपक; ३. उपमा; ४. आक्षेप; ५. अर्थान्तर-न्यास; ६. व्यतिरेक; ७. विभावना; ८. समासोक्ति; ९. अतिशयोक्ति; १०. यथासंख्य; ११. उत्प्रेक्षा; १२. स्वभावोक्ति; १३. प्रेय; १४. रसवत्; १५. ऊर्जस्वी; १६. पर्यायोक्त; १७. समाहित; १८. उदात्त; १९. श्लिष्ट; २०. अपह्नुति; २१. विशेषोक्ति; २२. विरोध; २३. तुल्ययोगिता; २४. अप्रस्तुतप्रशंसा; २५. व्याजस्तुति; २६. निदर्शना; २७. उपमारूपक; २८. उपमेयोपमा; २९. सहोक्ति; ३०. परिवृत्ति; ३१ .ससंदेह; ३२. अनन्वय; ३३. उत्प्रेक्षावयव; ३४. संसृष्टि; ३५. भाविकत्व; ३६. आशीः।

यहाँ निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :

१. भामह ने अलंकार का कोई सामान्य लक्षण नहीं दिया है।

२. शब्दालंकार और अर्थालंकार का न तो क्षेत्र-निर्धारण है, न अलंकारों का वर्गीकरण।

३. अलंकारों के पौर्वापर्य में कोई यौक्तिक क्रम नहीं है। एक अलंकार के बाद दूसरा अलंकार यों ही रख दिया गया है।

४. अनेक अलंकारों, जैसे ग्राम्यानुप्रास, लाटानुप्रास, दीपक, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, उदात्त आदि, के लक्षण हैं ही नहीं, केवल उदाहरण हैं।

५. परम्पराप्राप्त अलंकारों में कुछ का खंडन है ,जैसे हेतु, सूक्ष्म और लेश का; कुछ का अनिच्छापूर्वक उल्लेख है, जैसे स्वभावोक्ति या आशीः का।

६. कुछ अलंकारों में इतना सांकर्य है कि उनका अंतर दिखाना सम्भव नहीं, उदाहरणार्थ श्लिष्ट और रूपक का, उपमारूपक और रूपक का अथवा उत्प्रेक्षावयव और संसृष्टि का।

उत्प्रेक्षावयव का लक्षण है :

श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वितः ।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ।।—३।४७

और संसृष्टि का लक्षण है :

वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः ।—३।४९

उत्प्रेक्षावयव में श्लिष्ट, उत्प्रेक्षा और रूपक इन तीन का मेल है और संसृष्टि वहीं होती है जहाँ अनेक अलंकारों का मेल रहता है; फिर उत्प्रेक्षावयव को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता ?

७. एक अलंकार की अपेक्षा अनेक अलंकारों की एकत्र स्थिति अधिक शोभा-जनक होती है, जैसा कि संसृष्टि को 'वरा विभूषा' कहने से स्पष्ट है। अलंकारों की वह स्थिति परस्परसापेक्ष हो या निरपेक्ष (जिसके आधार पर आगे चलकर संकर और संसृष्टि का पार्थक्य निर्धारित हुआ) इसपर भामह मौन हैं।

८. भाविक को भामह ने प्रबन्धगत ही माना पर उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने उसका अस्तित्व स्फुट पद्यों में भी दिखाया।

९. उदात्त के दो रूप भामह ने प्रस्तुत किये : एक आशय की महत्ता में; दूसरा विभूति की महत्ता में। आगे चलकर आशय की महत्तावाला पक्ष उपेक्षित हो गया और विभूति की महत्ता में ही उदात्त अलंकार माना जाने लगा।

१०. रस का रसवत् नाम से अलंकार में ग्रहण।

११. भामह में भेद-बाहुल्य की प्रवृत्ति नहीं है। उनका सिद्धान्त था—**न ज्यायान् विस्तरो मुधा ।—२।३८**

अतः उन्होंने अलंकारों का मूल रूप ही दिया है, भेदोपभेद को छोड़ दिया है जो दंडी को बहुत प्रिय है। उदाहरणार्थ दंडी ने उपमा के ३२ भेद किये जो आगे चलकर छोड़ दिये गये।

१२. भामह-कृत अलंकार-लक्षण प्रायः स्पष्ट हैं और उदाहरण लक्षणानुकूल। यह ठीक है कि उनमें अनेकत्र परिमार्जन का अभाव है जो प्राचीनता के कारण हैं।

१३. मेधावी के द्वारा निर्दिष्ट सात उपमा-दोषों को उद्धृत कर भामह ने उन पर स्वीकृति की मुहर लगायी है और इस प्रकार भंग्यंतर से अलंकार को दोष-मुक्त रखने का आग्रह किया है।

१४. भामह ने उपमा, और इस प्रकार समस्त सादृश्यमूलक अलंकारों के मूल में वर्त्तमान एक असंगति का बड़ी स्पष्टता से निवारण किया है। एक वस्तु की तुलना जब दूसरी वस्तु से करते हैं तब उनमें सर्वतोभावेन सादृश्य होना चाहिए, तभी वह तुलना उचित होगी पर किसी भी तुलना में ऐसा नहीं होता; फिर भी उपमा दी जाती है। इसके लिए

उन्होंने कहा कि गुणलेशमात्र से भी साम्य दिखायी दे तो उपमा के लिए पर्याप्त है, क्योंकि

सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित् ।
यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते ।।—२।४६।।

१५. भामह ने अलंकार और अलंकार्य का अन्तर स्पष्ट नहीं किया है किन्तु इसकी ओर संकेत अवश्य है । स्वभावोक्ति अलंकार की चर्चा करते हुए उनका यह कहना कि 'स्वभावोक्ति अलंकार है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं', बताता है कि स्वभावोक्ति की अलंकारता उन्हें मान्य नहीं है । इसको कुंतक ने अधिक विस्तार से स्पष्ट किया है । स्वभावोक्ति तो अलंकार्य है; उसे ही यदि अलंकार मान लें तो फिर अलंकार किसे कहेंगे ? कोई अपना अलंकार आप ही नहीं बन जाता; निपुण-से-निपुण व्यक्ति भी अपने कंधे पर स्वयं नहीं चढ़ सकता ।

फिर, पंचम परिच्छेद में उन्होंने कहा—

अंशुमद्भिश्च मणिभिः फलनिम्नैश्च शाखिभिः ।
फुल्लैश्च कुसुमैरन्यैर्वाचोऽलङ्क्रियते यथा ।।—५।६४
तदेभिरङ्गैर्भूष्यन्ते भूषणोपवनस्रजः ।
वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ।।—५।६६ ।

कुछ कवि भास्वर मणियों, फल से झुके वृक्षों और विकसित पुष्पों का वर्णन करके समझ लेते हैं कि वाणी में चमत्कार आ गया, कविता बन गयी, किन्तु इन उपादानों से कहीं काव्य की शोभा बढ़ती है ? ये तो आभूषण, उद्यान और माला की शोभा बढ़ाने के साधन हैं । काव्य की शोभा तो वक्रोक्ति से होती है । यहाँ भी उनका अभिप्राय यही है कि जो अलंकार्य है उसे ही लोग अलंकार मान लेते हैं । इस प्रकार उदात्त वस्तुतः अलंकार न होकर अलंकार्य ही ठहरता है ।

१६. भामह-कृत अलंकार-लक्षण में परिमार्जन भले ही न रहा किन्तु अलंकार के बीजभूत वैशिष्ट्य का निर्देश अवश्य हुआ । यही कारण है उन्होंने जितने भी अलंकारों का वर्णन किया वे प्रायः सभी उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों द्वारा स्वीकृत कर लिये गये । ३८ अलंकारों में उत्प्रेक्षावयव और उपमारूपक ही ऐसे अलंकार हैं जो स्वीकृत नहीं हुए । शेष अलंकारों के स्वरूप में भी प्रायः अन्तर नहीं हुआ है या जहाँ हुआ भी है वहाँ अत्यल्प ।

कुल मिलाकर भामह का अलंकार-निरूपण संतोषजनक कहा जायगा । उससे आगे के आलंकारिकों का पथ प्रशस्त हुआ, इसमें संदेह नहीं ।

शब्द और अर्थ

शब्द और अर्थ पर स्फुट रूप से भामह ने चतुर्थ, पंचम और षष्ठ परिच्छेदों में विचार किया है जिसका आधार व्याकरण, न्याय, बौद्धदर्शन आदि हैं । १. यह विचार अत्यन्त संक्षिप्त और अपूर्ण है । २. भामह ने जो प्रश्न उठाये हैं उनको भी, विना सम्यक्

समाधान किये, बीच में ही छोड़ दिया है। जैसे, चतुर्थ परिच्छेद में शब्द और वाक्य का निरूपण करते-करते कह देते हैं कि

अत्रापि बहु वक्तव्यं जायते तत्तु नोदितम् ।
गुरुभिः किं विवादेन यथाप्रकृतमुच्यते ।।—४।७

यदि गुरुओं से विवाद का संकोच था तो प्रश्न उठाना ही नहीं चाहिए था और जब एक बार उठाया तब उसका पूर्ण विवेचन करना उचित था।

इसी तरह षष्ठ परिच्छेद में शब्द के नित्यानित्यत्व का निरूपण भी उन्होंने बिना उपसंहृत किये ही छोड़ दिया है :

विनश्वरोऽस्तु नित्यो वा सम्बन्धोऽर्थेन वा सता ।
नमोऽस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यः प्रमाणं येऽस्य निश्चितौ ।।—६।१५

३. इस निरूपण में भामह की अपनी कोई मौलिक देन भी नहीं है। विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों का उन्होंने स्पर्श-मात्र कर दिया है। ऐसी स्थिति में उनकी सविस्तर मीमांसा से यहाँ कोई लाभ नहीं है। व्याख्या के प्रसंग में अपेक्षित चर्चा कर दी गयी है।

पंचम परिच्छेद में न्याय और षष्ठ परिच्छेद में व्याकरण की जो बातें कही गयी हैं वे हिन्दी के विद्यार्थी के लिए अनुपयोगी हैं। अतः इस पर विचार-विमर्श अनावश्यक है। काव्यशास्त्र के ग्रंथ में व्याकरण का समावेश दो ही ग्रंथों में मिलता है : एक तो प्रस्तुत ग्रंथ में, दूसरा वामन के काव्यालंकारसूत्र में। यह अंश कवि को व्याकरण की शिक्षा देने के लिए नहीं, बल्कि व्याकरण की काव्योचित बारीकियों की ओर ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से संनिविष्ट किया गया था, अतः बिलकुल निरुपयोगी था, ऐसी बात नहीं है। प्रारंभ में यदि कवि को प्रयोज्याप्रयोज्य शब्दों का संकेत मिल जाय तो निश्चय ही वह उसके लिए लाभकर होगा। फिर भी इनका सम्बन्ध काव्यशास्त्र से सीधा तो नहीं ही था, इसलिए बाद के आलंकारिकों ने अपने ग्रंथों में इस प्रकरण का समावेश बंद कर दिया, जो उचित ही हुआ।

मूल्यांकन

भामह काव्यशास्त्र के एक प्रकार से आद्य आचार्य हैं, क्योंकि उन्हीं से काव्यशास्त्र का सुसम्बद्ध इतिहास उपलब्ध है। उनके पहले भी काव्यशास्त्रीय विवेचन हुआ था, जैसा उन्हीं के लिखने से प्रमाणित है, किन्तु वह विनष्ट हो चुका है। भामहोत्तरवर्त्ती आलंकारिकों के ग्रंथों में भी उनके पूर्ववर्त्ती मतों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। इसके प्रतिकूल उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त, मम्मट, रुय्यक आदि मान्य आचार्यों ने बड़े आदर और संभ्रम से भामह की मान्यताओं को उद्धत किया है। प्रताप-रुद्रीय के प्रणेता विद्यानाथ ने तो उन्हें सादर नमस्कार करके अपने ग्रंथ का आरम्भ किया है।

पूर्वेभ्यो भामहादिभ्यः सादरं विहिताञ्जलिः ।

वक्ष्ये सम्यगलङ्कारशास्त्रसर्वस्वसंग्रहम् ।। —नायक-प्रकरण : कारिका २

यह तभी सम्भव था, जब इन आचार्यों ने भामह में कोई असुलभ वैशिष्ट्य देखा हो। वह वैशिष्ट्य क्या था ?

१. पहला तो यह कि जहाँतक प्रगति हो चुकी थी उसे भामह ने संकलित, समन्वित, विशकलित तथा शृंखलित किया और ऐसा करने में उन्होंने अपनी विवेचकता से काम लिया। जो ग्राह्य था उसे ग्रहण किया, जो त्याज्य था उसे छोड़ दिया; जहाँ संशोधन की आवश्यकता थी वहाँ संशोधन किया। वामन की बोली में वह 'अरोचकी' थे, 'सतृणाभ्यवहारी' नहीं। उन्होंने स्वयं कहा है :

गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः । —३।५८

२. काव्य के प्रयोजनों को उन्होंने विस्तृत पटभूमि पर रखकर देखा; प्रेय के साथ श्रेय का भी समन्वय किया। काव्य को अपवर्ग का साधन मानने का यह प्रथम प्रयास था। भामह काव्य में कैसी उदात्तता की कल्पना करते थे, यह उसका असंदिग्ध प्रमाण है।

३. भरत ने नाट्य को विनोदजनक माना था। भामह ने विनोद के स्थान पर आनन्द को प्रतिष्ठित कर अधिक गंभीरता और सूक्ष्मता का परिचय दिया। विनोद में अस्थायिता होती है और हल्कापन भी, किन्तु आनन्द हृदय की वह सुखात्मक वृत्ति है जिसमें स्थायिता के साथ गंभीरता भी रहती है। इस भाँति काव्य हल्के विनोद या मनोरंजन-मात्र का जनक न होकर गंभीर आनन्द का साधक हुआ। ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहलाने की क्षमता इस आनन्द में थी, न कि विनोद में।

४. भामह ने काव्यशास्त्र की परंपरा में काव्य के प्रेरणा-पक्ष की ओर पहली (और सम्भवतः अन्तिम) बार इंगित किया। यह प्रथम परिच्छेद की पाँचवीं कारिका में 'जातु' पद के प्रयोग से स्पष्ट है, इसे हम काव्य-हेतुओं की चर्चा के प्रसंग में दिखा चुके हैं। इस 'जातु' में काव्य-प्रेरणा का जो बीज निहित था उसका पल्लवन आगे चलकर होना चाहिए था पर नहीं हुआ। कितना भी प्रतिभाशाली कवि क्यों न हो, वह सदा काव्य-सृष्टि नहीं कर पाता। उसकी प्रसुप्त शक्ति क्यों कभी ही कभी जगती है, यह मनोवैज्ञानिक प्रश्न पर्याप्त रोचक और व्याख्यापेक्ष है।

५. काव्य-हेतुओं का निदश करनेवाले प्रथम आचार्य भामह हैं और उनके द्वारा निर्दिष्ट हेतु उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों द्वारा यथावत् ग्रहण कर लिये गये। अन्तर केवल शब्द का रहा, वस्तु में कोई जोड़-घटाव नहीं हुआ।

६. भरत द्वारा प्रतिपादित दस गुणों के स्थान पर प्रसाद, माधुर्य और ओज इन तीन गुणों की स्वीकृति भामह की तत्त्वग्राहिणी बुद्धि का प्रमाण है। यह गुणत्रय ही समग्र काव्यशास्त्रीय परंपरा में गृहीत रहा, यह उसकी सारवत्ता और अखण्डनीयता का द्योतक है।

आश्चर्य तो यह है कि इस तर्कसंगत संकेत को पाकर भी वामन ने गुणों की संख्या दस से तीन करने के बदले बीस कर दी। मम्मट ने पूर्ण अभिनिवेश और युक्ति से बीस का खण्डन कर भामह-सम्मत तीन गुणों की ही स्वीकार्यता सिद्ध की।

७. भामह ने जो देश-भेद से रीति-भेद मानने के सिद्धान्त का विरोध किया वह भी उनकी मौलिकता का परिचायक है। सम्भवतः रीतियों के देशाधारपरक नाम इतने प्रचलित हो चुके थे कि उत्तरवर्त्ती आलंकारिक उन्हें छोड़ नहीं सके; तथापि कुन्तक ने भामह से संकेत लेकर एक बार फिर देशाधारपरक रीतियों के खण्डन का प्रयास किया और उन्हें कवि-स्वभाव के ऊपर आश्रित बताया। भामह ने 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से चलते-चलते इतना कह दिया कि यदि कोई वैदर्भ, गौड आदि नामों के ही प्रयोग का आग्रही है तो वैसा करे पर वह सार्थक न होकर यादृच्छिक होगा। नामकरण किसी अन्तर्निहित गुण या वैशिष्ट्य के आधार पर भी होता है और कभी स्वेच्छागृहीत, अतः निरर्थक भी। दोनों ही अवस्थाओं में उससे वस्तु का बोध तो होता ही है। देशों के आधार पर रीतियों के नाम द्वितीय कोटि में आयेंगे और यदि कोई उन्हें रखना चाहता ही है तो रखे।

८. वक्रोक्ति को काव्यत्व का निष्पादक तत्त्व बताकर उन्होंने काव्य के एक अनिवार्य और व्यापक वैशिष्ट्य को प्रस्तुत किया। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के बाद भी वक्रोक्ति-सिद्धान्त को कुन्तक के जैसा कृती और विवेचनशील समर्थक मिला यह स्वयं उसकी सबलता और ग्राह्यता का प्रमाण है। वक्रोक्ति निःसन्देह ऐसा तत्त्व है जिसकी काव्य में उपेक्षा नहीं हो सकती।

९. जैसा हमने पहले कहा है, भामह में क्रमबद्धता का अभाव है, उन्होंने काव्य-लक्षण, गुण, रीति आदि पर सविस्तर विचार नहीं किया है, यह भी ठीक है, फिर भी उनकी गंभीर विद्वत्ता और सारग्राहिता ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। उनकी अभिव्यंजना मूलतः सीधी और स्पष्ट है। उन्हें जो समादर मिला है उसके वह सर्वथा अधिकारी हैं।

●

आचार्य भामह-विरचित

काव्यालङ्कार

(सभाष्य)

प्रथम परिच्छेद

मंगलाचरण

१. मानसिक, वाचिक और शारीरिक कर्मों से सर्वहितकारी एवं सर्वज्ञ (परमात्मा) को प्रणाम कर बुद्धि के अनुसार इस काव्यालंकार (ग्रन्थ) की रचना करूँगा।

महर्षि पतंजलि के शब्दों में मंगलाचरण की उपयोगिता इस प्रकार है :

मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीर पुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि च अध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति । —महाभाष्य, पस्पशाह्निक

—मंगल से आरंभ होनेवाले शास्त्र प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं, उनसे संबद्ध पुरुष वीर तथा आयुष्मान् होते हैं एवं अध्येताओं की अभिलाषा पूर्ण होती है ।

मानसिक से स्मरण-चिंतन, वाचिक से नाम-जप तथा शारीरिक से प्रणिपात आदि प्रणाम के विधान अभिप्रेत हैं ।

किसी विग्रह या उपाधि को प्रणाम न कर ग्रंथकार परमपुरुष को ही प्रणाम करते हैं और उसके दो गुणों—सर्वहितकारिता एवं सर्वज्ञता—का निर्देश करते हैं। वस्तुतः इन दो विशेषणों में परमात्मा के अधिकतर गुणों का समाहार हो जाता है ।

सर्वज्ञ शब्द के तीन अर्थ हैं : (१) सब कुछ जाननेवाला,

(२) शंकर (**कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः ।** —अमर, १।३५) और

(३) बुद्ध (**सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः ।** —अमर, १।१३)

'सार्व' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए देखिए इस ग्रंथ के षष्ठ परिच्छेद की ५३वीं कारिका ।

काव्य-प्रयोजन

२. सत्काव्य का निर्माण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं कलाओं में प्रवीणता, आनन्द तथा यश (प्रदान) करता है।

प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः ।
काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते ।।१।।
धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्त्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।।२।।

प्रीति का अर्थ यहाँ प्रेम नहीं, आनंद है। (**मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोद-संमदाः।** —अमर ४।२४)

संस्कृत की प्रणाली है कि ग्रंथ के आरंभ में लेखक उसके प्रयोजन, विषय, अधिकारी इत्यादि का निर्देश कर देता है। आजकल इनका समावेश भूमिका में रहता है।

काव्यालंकार काव्यांगनिरूपक ग्रंथ है, काव्य नहीं। फिर, काव्य का प्रयोजन बताने का क्या अर्थ? बात यह है कि इस प्रकार के लक्षण-ग्रंथ में काव्य के अंगों का ही विवेचन रहता है, जो कवि और पाठक दोनों के लिए उपयोगी है। काव्य और लक्षण-ग्रंथ का सम्बन्ध इतना संश्लिष्ट है कि एक के प्रयोजन में ही दूसरे का प्रयोजन भी गतार्थ हो जाता है। अतः जो काव्य का प्रयोजन है, वही इसका भी।

'साहित्यदर्पण' और 'ध्वन्यालोक-लोचन' में 'साधुकाव्यनिबन्धनम्' के बदले 'साधुकाव्यनिषेवणम्' पाठ मिलता है। निबंधनम् का अर्थ है रचना, जिसका सम्बन्ध केवल कवि से है किन्तु निषेवणम् निर्माण और श्रवण का वाचक है, अतः उसका सम्बन्ध कवि और पाठक दोनों से है। इस तरह 'निषेवणम्' अधिक व्यापक है। किन्तु 'काव्यालंकार' के सभी उपलब्ध संस्करणों में निबन्धनम् पाठ ही दीखता है।

कवित्व-प्रशंसा

३. जो कवि नहीं है, उसका शास्त्र-ज्ञान निर्धन के दान, नपुंसक के अस्त्र-कौशल और अज्ञ की प्रगल्भता के समान (निष्फल) है।

ऊपर जो प्रयोजन काव्य से साध्य बताये गये हैं, वे शास्त्रों से भी सिद्ध हो सकते हैं। फिर, काव्य की क्या आवश्यकता? इसी का समाधान यहाँ से ८वीं कारिका तक है।

अकवि से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है, जिसमें आत्माभिव्यंजन की शक्ति न हो। किसी ने लाख ज्ञान अर्जित किया हो किन्तु यदि उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता, दूसरों के सम्मुख रख नहीं सकता तो उससे क्या लाभ? इसी के स्पष्टीकरण के लिए तीन उपमाएँ उपन्यस्त हैं।

४. विनय के बिना संपत्ति क्या? चन्द्रमा के बिना रात क्या? सत्कवित्व के बिना वाग्विदग्धता कैसी?

सत्कवित्व से रहित वाग्विदग्धता वैसी ही अनाकर्षक होती है, जैसी विनय से रहित सम्पत्ति और चन्द्रमा से रहित रजनी।

अधनस्येव दातृत्वं क्लीबस्येवास्त्रकौशलम्।
अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम् ॥३॥

विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता ॥४॥

५. गुरु के उपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु काव्य किसी प्रतिभाशाली को कभी-ही-कभी (स्फुरित) होता है।

काव्य-प्रतिभा की दुर्लभता अग्निपुराण के इस श्लोक में बड़ी स्पष्टता से कही गई है :

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा ।। (३३७—३)

इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन का यह कथन ध्यान देने योग्य है :

अस्मिन् अतिविचित्र-कवि-परम्परा-वाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतियोः द्वित्रा पञ्चषा वा महाकवयो गण्यन्ते । —ध्वन्यालोक, १।६ की वृत्ति ।

—इस अत्यन्त विचित्र कवि-परम्पराशाली संसार में कालिदास आदि दो-तीन या पाँच-छह महाकवि माने जाते हैं।

प्रतिभा का स्वरूप

स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा ।
बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता ।
प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ।

—स्मृति का विषय अतीत है, मति का भविष्य, बुद्धि का वर्त्तमान और प्रज्ञा का त्रिकाल; प्रज्ञा ही जब नवनवोन्मेषशालिनी होती है, तब उसे प्रतिभा कहते हैं।

तात्पर्य यह कि प्रतिभा त्रिकालदर्शिनी भी है और नवनवोन्मेषशालिनी भी। प्रतिभा की इस परिभाषा में कवि के उस धर्म का सुन्दर निर्देश है, जिसे क्रांतदर्शी कहते हैं। कवि की कृति में केवल वर्त्तमान की प्रतिच्छाया ही नहीं, अतीत का आकलन और भविष्य का दिशानिर्देश भी रहना चाहिए। इसी अर्थ में कवि क्रांतदर्शी की संज्ञा पाता है।

अभिनवगुप्त ने प्रतिभा का लक्षण यों दिया है :

प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा ।

—अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। पूर्वोक्त 'नवनवोन्मेषशालिनी' की अपेक्षा 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा' विशेषण अधिक स्वारस्यपूर्ण है। नई-नई वस्तुओं का स्फुरण प्रशस्य अवश्य है किन्तु वह चमत्कारजनक भी हो, यह अनिवार्य नहीं। वस्तुएँ नई होकर भी असुन्दर हो सकती हैं। दूसरी बात यह कि नवीनता का उन्मेष (स्फुरण) ही पर्याप्त नहीं है; यदि उन्मेष हुआ ही और उसकी अभिव्यक्ति संभव न हुई तो उससे क्या लाभ ? अभिनवगुप्त के लक्षण में इन दोनों

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ।। ५ ।।

त्रुटियों का परिहार है : प्रतिभा में वस्तु की नवीनता ही नहीं, अपूर्वता भी होती है; साथ ही वह निर्माण में समर्थ होती है अर्थात् उसका अभिव्यक्ति-पक्ष भी पुष्ट होता है ।

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, काव्य के स्वीकृत त्रिविध कारण-समुदाय में यहाँ प्रतिभा का उल्लेख है; शेष दो का ९-१० कारिकाओं में ।

६. स्वर्ग जाने पर भी सत्काव्यों के प्रणेताओं का रमणीय काव्य-शरीर निर्भय ही रहता है ।

दिवंगत कवियों का भौतिक शरीर भले ही नष्ट हो जाता है, परन्तु उनका काव्यात्मक शरीर सदा जरा-मृत्यु के भय से अस्पृष्ट रहता है । उसके न तो पुराना पड़ने का भय है, न नष्ट होने का । इसी का पल्लवन अगली कारिका में है ।

७. और जबतक उस (कवि) की स्थायी कीर्त्ति पृथ्वी तथा आकाश में व्याप्त है, तबतक वह भाग्यवान् देव-पद को अलंकृत करता है ।

गीता के अनुसार 'क्षीणे पुण्ये मर्त्त्यलोकं विशन्ति' (पुण्य क्षीण हो जाने पर लोग स्वर्गलोक से मर्त्त्यलोक में लौट आते हैं), किन्तु सत्काव्य-जनित पुण्य ऐसा नहीं, जिसका प्रभाव कभी क्षीण होता हो । अतः कवि अविरत स्वर्ग का सुख भोगता है । सचमुच सुनाम और सुयश से बढ़कर दूसरा स्वर्ग है क्या ? इसी को महाभारत में कहा है—

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः ।
यावत् स शब्दो भवति तावत् स्वर्गे महीयते ।। —वनपर्व,१९९।१३

—पुण्यकर्म की ध्वनि पृथ्वी और आकाश को छूती रहती है । जबतक वह ध्वनि गूँजती है, तबतक वह पुण्यकर्मा स्वर्ग में पूजित होता है ।

रोदसी—पृथ्वी और आकाश । वैबुधं—विबुधों (देवों) का ।

८. अतः भूलोक की स्थितिपर्यन्त यश चाहनेवाले को ज्ञातव्य (सब विषयों को) जानकर काव्य-निर्माण का प्रयास करना चाहिए ।

काव्यलक्षणः यत्नः— काव्यरूप यत्न, अर्थात् काव्य-निर्माणरूप प्रयास, तात्पर्य कि काव्य-निर्माण का प्रयास ।

काव्य-रचना में यों ही नहीं प्रवृत्त हो जाना चाहिए, बल्कि उसके जो उपादान हैं उनका पहले सम्यक् अवगम कर लेना चाहिए ।

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ।। ६ ।।
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत्कीर्त्तिरनश्वरी ।
तावत्किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ।। ७ ।।
अतोऽभिवाञ्छता कीर्त्तिं स्थेयसीमा भुवः स्थितेः ।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ।। ८ ।।

कवि के ज्ञातव्य विषय

९. व्याकरण, छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोक-व्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओं का काव्य-रचना के लिए मनन करना चाहिए।

शब्द का अर्थ है शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरण। अभिधान—कोश। अर्थ—वाच्य, लक्ष्य आदि। लोक—लोक-व्यवहार। युक्ति-दर्शनमात्र का उपलक्षण है। कला—संगीत, नृत्य, वाद्य, चित्र इत्यादि। इतिहासाश्रित कथाएँ अर्थात् रामायण, महाभारत की कथाएँ। संस्कृत साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि बड़े-से-बड़े कवियों ने भी अपने काव्य या नाटक का कथानक रामायण अथवा महाभारत से लिया है; स्वयं कवि द्वारा उद्भावित कथानकों की संख्या इनी-गिनी ही है। इस प्रसंग में महाभारत की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है :

सर्वेषांकविमुख्यानाम् उपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः।। —अनुक्रमणिका पर्व, १।९२

—वस्तुमात्र के लिए मेघ के समान यह अक्षय महाभारतरूपी वृक्ष सभी महाकवियों का उपजीव्य होगा।

यही नहीं, महर्षि वेदव्यास ने यहाँतक कहा कि

अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे। —अनुक्रमणिका, १।७३

—कवि इस काव्य से बढ़कर कुछ नहीं लिख सकते।

रामायण तो आदिकाव्य ही है, अतः काव्य-परंपरा का परिज्ञान उसके बिना कैसे पूर्ण समझा जायगा ?

उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने एक शब्द में जिसे 'व्युत्पत्ति' कहा है, उसी का यहाँ भामह ने संकेत किया है।

अभ्यास

१०. शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, काव्यज्ञों की उपासना कर और अन्य (लेखकों की) रचनाओं को देखकर काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहिए।

पूर्व कारिका में शब्दार्थ-ज्ञान का उल्लेख कर चुकने के बाद यहाँ उसे दुहराने का अभिप्राय शब्द-अर्थ के विशिष्ट ज्ञान का महत्त्व सूचित करना है।

शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी ॥ ९ ॥
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥ १० ॥

केवल शब्द और अर्थ का ज्ञान ही काव्य-रचना के लिए पर्याप्त नहीं है, बल्कि काव्यज्ञों (कवियों तथा आलोचकों) के निर्देशन में अभ्यास करना भी आवश्यक है, जिससे आरम्भ से ही गुण-दोष का बोध होता चले। वह बोध गुणों के आधान और दोषों के परित्याग में सहायक होकर काव्य को अधिक-से-अधिक रमणीय बनाने में समर्थ होगा।

परन्तु काव्यज्ञों के निर्देशन से ही संतोष नहीं कर लेना चाहिए। जिस प्रकार की रचना अभिमत हो, उस प्रकार की दूसरों की रचनाएँ भी देखनी चाहिए, जिससे अपना मार्ग-निर्धारण सुगम हो। विषय की पुनरुक्ति से बचने के लिए भी यह अपेक्षित है।

निर्दोषिता की आवश्यकता

११. एक भी सदोष शब्द का प्रयोग न हो, इसका सब प्रकार से ध्यान रखना चाहिए। लक्षण-रहित काव्य से कुपुत्र के समान निंदा होती है।

जिस तरह कुपुत्र पिता की निंदा का कारण बनता है, उसी तरह कुकाव्य कवि की निंदा का। अतः एक भी सदोष शब्द न आने पाये, इसका सतत प्रयास करना चाहिए। दंडी भी कहते हैं :

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ —काव्यादर्श, १।७

—काव्य में थोड़े भी दोष की किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सुन्दर भी शरीर एक श्वेतकुष्ठ से कुरूप बन जाता है।

दोष चाहे कितना की नगण्य क्यों न हो, विरसता उत्पन्न किये बिना नहीं रहता, अतः उसके प्रति अधिक-से-अधिक ध्यान देना चाहिए। दंडी का दृष्टान्त बड़ा उपयुक्त है।

यह केवल सुभाषित नहीं, व्यावहारिक उपयोग का स्थायी सिद्धान्त है, जिसे अपना कर कोई भी कवि लाभान्वित हो सकता है।

कुकाव्य-निंदा

१२. कविता नहीं करने से न तो अधर्म होता है, न व्याधि, न दंड किन्तु बुरी कविता को विद्वान् साक्षात् मरण कहते हैं।

अधिकतर संस्करणों में 'अकवित्वमधर्माय' पाठ है, जिससे अर्थ संगत नहीं होता। 'कविता नहीं करने से अधर्म होता है···' इस कथन का औचित्य क्या होगा? अतः

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥ ११॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ १२॥

नागनाथ शास्त्री ने आरंभ में 'न' रखा है, जो सर्वथा अपेक्षित है। वामन के काव्यालंकार की कामधेनु टीका (१।३।१६) में गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल ने 'नाकवित्वमधर्माय' ही पाठ रखा है। इस प्रकार यह पाठ प्राचीनतानुमोदित भी है।

अलंकारवादियों के दो वर्ग
अर्थालंकारवादी तथा शब्दालंकारवादी
अर्थालंकारवादी का मत

१३. उस (काव्य) के अलंकार (जो) रूपक आदि हैं, उनका कुछ आलंकारिकों ने अनेक प्रकार से उल्लेख किया है। रमणी का सुन्दर मुख भी अलंकार के बिना नहीं शोभता।

इस तथा इसके बाद की डेढ़ कारिकाओं से ज्ञात होता है कि भामह के पूर्व आलंकारिकों के दो वर्ग थे। उनमें एक अर्थालंकारों को महत्त्व देता था, दूसरा शब्दा-लंकारों को।

उत्तरार्ध का दृष्टान्त उभयनिष्ठ है; वह सामान्य रूप से अलंकारवाद का समर्थन करता है। रमणी का मुख स्वतः सुन्दर भी क्यों न हो, पर अलंकार के अभाव में पूरा नहीं शोभता; उसी प्रकार काव्य में सौन्दर्य के आधायक रस, गुण आदि तत्त्वों के रहने पर भी अलंकार के बिना उसका पूर्ण चमत्कार नहीं दिखाई देता। अतः अलंकार काव्य का अनिवार्य धर्म है।

पूर्वार्ध में अर्थालंकारवादियों का मत उपन्यस्त है, जो यह कहते हैं कि रूपक, उपमा आदि अर्थालंकार ही काव्य-शोभा के निष्पादक हैं। उनका तर्क है कि काव्य-जनित आनन्दानुभूति वस्तुतः अर्थप्रतीति के बाद ही होती है, अतः अर्थाश्रित चमत्कार ही उस आनन्दानुभूति का अव्यवहित उपकारक हो सकता है। इस भाँति अर्थालंकार का महत्त्व असंदिग्ध है।

शब्दालंकारवादी का मत

१४. दूसरे (आलंकारिक) रूपक आदि अर्थालंकारों को बाह्य कहते हैं। वे संज्ञा और क्रिया के सौंदर्य को ही वाणी का अलंकार मानते हैं। वह (काव्य) वस्तुतः यह सौशब्द्य (शब्द-सौन्दर्य) है; क्योंकि अर्थ-सौन्दर्य ऐसा (चमत्कारजनक) नहीं होता।

रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्॥ १३॥
रूपकादिमलाङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्॥ १४॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।

इस दूसरे वर्ग का कहना है कि पहले शब्द श्रुतिगोचर हो लेता है, तब अर्थ-प्रतीति होती है। अतः, हृदय पर पहला प्रभाव शब्द का ही पड़ता है और हृदय उसी से आवर्जित तथा आह्लादित होता है। स्वभावतः काव्य में **प्रमुखता शब्दालंकार** की है; अर्थालंकार की प्रतीति चूँकि अर्थ-बोध के अनन्तर होती है, इसलिए वह बाह्य या गौण है। जैसे "गीतगोविंद" की इन पंक्तियों को लीजिए—

ललित-लवङ्ग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे ।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुञ्ज-कुटीरे ।

इस ललित मधुर शब्द-विन्यास को सुनते ही हृदय आकृष्ट हो जाता है, अर्थावगति तो बाद को होती है। दूसरी चीज यह कि जिसे अर्थ तक पहुँचने की क्षमता नहीं है, वह भी इस शब्द-माधुर्य से आनन्दित हुए बिना नहीं रहता।

या तुलसीदास की यह अर्धाली देखिये—

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन ।
नयन अमिय दृग दोष विभंजन ।

इसमें भी पहले अनुप्रास रसास्वादन की भूमिका प्रस्तुत कर देता है, तब रूपक अलंकार पर दृष्टि जाती है। इस प्रकार सिद्ध है कि काव्य में शब्दालंकार की ही प्रधानता है, अर्थालंकार की नहीं।

शब्दालंकार की निष्पत्ति होती है संज्ञा और क्रिया पदों की विशिष्ट उत्पत्ति (व्युत्पत्ति) के द्वारा अर्थात् अनुप्रास-विशिष्ट संनिवेश के द्वारा। संज्ञा और क्रिया यहाँ सामान्यतः शब्दमात्र के उपलक्षण हैं।

यह सौशब्द्य—शब्द-सौन्दर्य—ही काव्य है, क्योंकि अर्थ-सौन्दर्य उतना आवर्जक या चमत्कारी नहीं होता।

यहाँ व्युत्पत्ति का अर्थ है चमत्कार-विशिष्ट उत्पत्ति, अर्थात् संनिवेश। यदि चमत्कार-विशिष्ट संनिवेश शब्द का हुआ तो शब्दालंकार और अर्थ का हुआ तो अर्थालंकार।

संज्ञा-विभक्तियों को सुप् और क्रिया-विभक्तियों को तिङ् कहते हैं। इसलिए यहाँ सुप् से संज्ञा और तिङ् से क्रिया अभिप्रेत है। चूँकि वाक्य में संज्ञा और क्रिया का प्राधान्य रहता है, अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवंति' इस नियम से उन्हीं का निर्देश है, यों विवक्षित है शब्दमात्र, कारण कि शब्द या अर्थ का सौन्दर्य केवल संज्ञा और क्रिया तक ही सीमित नहीं है। विशेषण आदि अन्य शब्दकोटियाँ भी उतनी ही अपेक्षित हैं।

समन्वय

१५. शब्द और अर्थ के अलंकार-भेद से हमें तो दोनों इष्ट हैं।

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त दो अतिवादी मतों के बीच समन्वय उपस्थित करते हुए भामह कहते हैं कि शब्द के शोभाधायक होने से शब्दालंकार और अर्थ के शोभाधायक होने से अर्थालंकार, दोनों को स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वे एक-दूसरे में अंतर्भुक्त नहीं हो सकते। न केवल शब्द काव्य है, न केवल अर्थ; वस्तुतः उनका परस्पर-निरपेक्ष अस्तित्व संभव ही नहीं है। अतः कवि के लिए दोनों समान रूप से उपजीव्य हैं। जैसा प्रदीपकार ने कहा है :

शब्दवत् अर्थस्यापि कविसंरम्भज्ञाप्यत्वम्, अर्थस्य इव शब्दस्यापि रसप्रतीत्युपयोगित्वम् अत उभयाश्रितोऽपि उभयरूपोऽलङ्कार इति । —काव्यप्रकाश, षष्ठ उल्लास

—शब्द के जैसा अर्थ भी कवि संरंभगोचर होता है और अर्थ के समान शब्द भी रस-प्रतीति में उपयोगी होता है, अतः उभयाश्रित होने से अलंकार भी दो प्रकार का है।

तात्पर्य कि शब्दालंकार और अर्थालंकार का स्वतंत्र अस्तित्व है और उन्हें उसी रूप में स्वीकार करना उचित है।

काव्य का सामान्य स्वरूप और भेद

१६. शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं। उसके दो भेद हैं—गद्य और पद्य। संस्कृत, प्राकृत और फिर अपभ्रंश, इस तरह उसके तीन प्रकार हैं।

भामह न केवल शब्द को काव्य मानते हैं और न केवल अर्थ को, बल्कि दोनों के साहित्य—सह भाव—को। इस संक्षिप्त स्वरूप-निर्धारण के बाद काव्य का चार प्रकार से वर्गीकरण है।

वर्गीकरण का प्रथम आधार है रचना में **छन्द का सद्भाव** या **अभाव**। यदि छन्द का अभाव रहा तो गद्य और सद्भाव रहा तो पद्य।

दूसरा आधार है **भाषा**। उस युग में काव्य-रचना की तीन भाषाएँ प्रचलित थीं : संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। कवि इनमें से किसी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना सकता था।

दंडी ने इन दोनों भेदों में 'मिश्र' नाम का एक और भेद जोड़ा है। गद्य-पद्य अलग-अलग भी रह सकते हैं और उनका मिश्रण भी हो सकता है, जैसा चंपू में। इसी तरह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का पृथक् प्रयोग भी हो सकता है और कोई चाहे तो इनमें दो या तीन का मिश्रण भी कर सकता है, जैसा दंडी ने काव्यादर्श में किया है :

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥ १६॥

गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ।१.११
तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ।—१.३२

१७. उसके चार भेद भी होते हैं : (१) देवों आदि के इतिवृत्त का वर्णन; (२) (कविद्वारा) कल्पित वस्तु; (३) कलाश्रित और शास्त्राश्रित ।

प्रतिपाद्य **विषय** के अनुसार काव्य चार प्रकार का होता है । उनमें सबसे मुख्य है रामायण, महाभारत या पुराणों में वर्णित देवताओं अथवा राजाओं का इतिवृत्त । पूर्व प्रसिद्ध इतिवृत्त ही महाकाव्य या नाटक के लिए ग्राह्य माना गया है और संस्कृत साहित्य में इसी की प्रचुरता है । कवि चाहे तो ख्यात-वृत्त न लेकर स्वयं भी विषय की उद्भावना कर सकता है, जैसा शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' में या भवभूति ने 'मालतीमाधव' में किया है । कल्पना-प्रसूत होने से पहले प्रकार से इसका पार्थक्य स्पष्ट है । इसी तरह संगीत आदि कलाएँ अथवा व्याकरण आदि शास्त्र भी काव्य के विषय हो सकते हैं । शास्त्राश्रित काव्य का सर्वोत्तम उदाहरण है भट्टिकाव्य जो व्याकरण को आधार बनाकर रचा गया है ।

१८. उसके फिर पाँच प्रकार कहे जाते हैं : (१) सर्गबन्ध (महाकाव्य); (२) अभिनेय (नाटक आदि रूपक); (३) आख्यायिका; (४) कथा और (५) अनिबद्ध (पूर्वापर-सम्बन्ध-रहित अर्थात् मुक्तक) ।

इन पाँचों की व्याख्या आगे होगी ।

इस प्रकार काव्य के ये भेद हुए :—

(क) **छन्द** के सद्भाव और अभाव के आधार पर **दो**—

(१) गद्य, (२) पद्य ।

(ख) **भाषा** के आधार पर **तीन**—

(१) संस्कृत; (२) प्राकृत; (३) अपभ्रंश ।

(ग) **विषय** के आधार पर **चार**—

(१) ख्यात वृत्त; (२) कल्पित वस्तु; (३) कलाश्रित; (४) शास्त्राश्रित ।

(घ) **स्वरूप-विधान** के आधार पर **पाँच**—

(१) महाकाव्य; (२) रूपक; (३) आख्यायिका; (४) कथा; (५) मुक्तक ।

वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च ।
कलाशास्त्राश्रयञ्चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ॥ १७ ॥
सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।
अनिबद्धञ्च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ॥ १८ ॥

सर्गबंध

१९. सर्गबंध महाकाव्य (कहलाता है)। (वह) महान् चरित्रों से सम्बद्ध, (आकार में) बड़ा, ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थ-सौष्ठव से सम्पन्न, अलंकार से युक्त, सत्पुरुषाश्रित;

२०. मंत्रणा, दूतसंप्रेषण, अभियान, युद्ध, नायक के अभ्युदय एवं पंच सन्धियों से समन्वित, अनतिव्याख्येय, तथा ऋद्धिपूर्ण (होता है);

२१. चतुर्वर्ग का प्रतिपादन रहने पर भी उसमें प्रधानता अर्थनिरूपण की (होती है); लौकिक आचार तथा सभी रसों से स्पष्टतः युक्त (होता है)।

महाकाव्य का यह प्रथम उपलब्ध लक्षण है। भामह के इस संक्षिप्त लक्षण की उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने विस्तृत व्याख्या की है। उदाहरणार्थ, दण्डी का महाकाव्य-लक्षण ६ कारिकाओं में और विश्वनाथ का १० कारिकाओं में पूरा हुआ है।

महाकाव्य का कथानक सर्गों में विभक्त रहता है, इसीलिए प्राचीन अलंकार-ग्रन्थों में उसके लिए सर्गबंध शब्द का बहुल प्रयोग हुआ है। भामह ने सर्गों की संख्या का निर्देश नहीं किया है किंतु पीछे के ग्रंथकारों ने आठ से अधिक सर्गों का रहना अनिवार्य बताया। भामह ने इतना ही कहा कि महाकाव्य का विषय किसी महान् चरित्र से सम्बद्ध होना चाहिए पर दूसरों ने नायक का विशद विवेचन किया। चरित्र महान् होकर भी सत् हो, यह कोई आवश्यक नहीं। रावण महान् तो था पर सत् नहीं। महाकाव्य का नायक ऐसे चरित्र को नहीं बनाया जा सकता। 'सत्पुरुषाश्रित' विशेषण इसी ओर इंगित करता है। बीसवीं कारिका के पूर्वार्द्ध में निर्दिष्ट वैशिष्ट्य किसी राजा के नायक होने पर ही संभव हैं। यों अधिकतर महाकाव्यों के नायक राजा हैं भी।

पञ्च सन्धियों की कल्पना यद्यपि प्रारम्भ में रूपकों को सामने रखकर हुई किन्तु बाद में महाकाव्य की योजना के लिए भी वे उपयोगी समझी गयीं। अतः महाकाव्य के लक्षण में उनका समावेश कर लिया गया। पञ्च सन्धियाँ : मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्ष, उपसंहृति। इनकी व्याख्या यहाँ अनपेक्षित है। विशेष विवरण के लिए दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थ देखने चाहिए।

भामह ने इस पर बहुत जोर दिया है कि काव्य में अतिशय व्याख्या की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए (दे० २।२०)। यदि काव्य भी क्लिष्ट ही हो गया तो उसमें और शास्त्र में अंतर क्या रहा? उससे विद्वानों को भले ही कुछ आनन्द प्राप्त हो जाय पर सुकुमार-

---

अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालङ्कारं सदाश्रयम् ॥ १९ ॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत् ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ॥ २० ॥
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥ २१ ॥

मति पाठक तो कोरे ही रह जाएँगे। दूसरी बात यह कि क्लिष्टता निश्चित रूप से रसानुभूति की विघातक होती है जो काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है।

'ऋद्धिमत्' से भामह का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं है। नागनाथ शास्त्री ने ऋद्धिमत् का अर्थ किया है अभ्युदयपूर्ण अन्त (प्रॉस्परस एंडिंग्) से युक्त। ताताचार्य के अनुसार ऋतु, सन्ध्या, रात्रि, चन्द्रोदय, विवाह, सम्भोग, पुष्पावचय (फूल चुनना), जलक्रीड़ा, रति, पुत्रजन्म आदि के वर्णन की प्रचुरता अभिप्रेत है। शंकररामशास्त्री इसका अर्थ 'आनन्दजनक परिस्थितियों से सम्पन्न (एबाउंड इन हैपी सिच्युएशन) मानते हैं। नागनाथ शास्त्री के अर्थ में पुनरुक्ति है क्योंकि उसी कारिका के पूर्वार्द्ध में ग्रन्थकार ने 'नायकाभ्युदय' का प्रयोग किया है। फिर उसीको दुहराने में कोई स्वारस्य नहीं है। दूसरी चीज यह कि 'ऋद्धिमत्' में 'अन्त' का अर्थ कहाँ निहित है? मेरी समझ से इसका सीधा-सादा अर्थ है वैभव-सम्पन्न। राजा आदि के नायक होने से स्वभावतः महाकाव्य का वातावरण वैभव का होता है और उसका यथोचित वर्णन होना चाहिए।

यों तो काव्य को चतुर्वर्ग— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—का साधक माना गया है किन्तु उसमें प्रधानतया निरूपणीय होना चाहिए अर्थ। यहाँ अर्थ लौकिक उत्कर्ष का उपलक्षण है। अर्थ की प्राप्ति का प्रयास (युद्ध आदि के द्वारा), प्राप्त अर्थ के द्वारा सुख-भोग और अर्थ से साध्य वैभव-विलास का प्रदर्शन, ये सभी महाकाव्य के वर्णनीय विषय होते हैं। अतः अर्थ का प्राधान्य निसर्ग-सिद्ध है।

अलंकारवादी होते हुए भी भामह ने रस की उपादेयता अत्यन्त स्पष्टता से स्वीकार की है। दृश्यकाव्य में तो रस आरम्भ से ही प्रतिष्ठित था पर श्रव्यकाव्य में उसकी सत्ता के प्रतिपादन का सम्भवतः यह पहला प्रयास है।

इस तरह महाकाव्य के इस लक्षण-निर्धारण में प्रायः सभी आवश्यक उपादानों का समावेश हो गया है जिनका उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने सविस्तर उल्लेख किया है।

१९वीं कारिका में शब्द, अर्थ, अलंकार और नायक का, २०वीं कारिका में वर्ण्य वस्तुओं, रचना-विधान और शैली का तथा २१वीं कारिका में प्रयोजन का (जिसमें उपदेश, आचार-पालन और चमत्कार तीनों सम्मिलित हैं) निर्देश हुआ है।

२२. वंश, बल, ज्ञान आदि (गुणों) द्वारा नायक को पहले प्रस्तुत कर, दूसरे का उत्कर्ष कहने की इच्छा से, उसी का वध नहीं वर्णित करना चाहिए।

२३. यदि काव्य-शरीर में उसकी व्यापकता वांछित नहीं हो अथवा उसे अभ्युदय-भागी न होना हो तो आरम्भ में उसका ग्रहण और प्रशंसा व्यर्थ हैं।

नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः ।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ॥ २२ ॥
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते ।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे ॥ २३ ॥

कथा में नायक, प्रतिनायक, उपनायक और अनुनायक की योजना रहती है, जैसा सरस्वती-कंठाभरण में भोज ने कहा है:

नायकः प्रतिपूर्वोऽयमुपपूर्वोऽनुनायकः । —५।१०१

प्रत्येक का लक्षण भोज के ही अनुसार इस प्रकार है :

तेषु सर्वगुणोपेतः कथाव्यापी स नायकः ।
अन्यायवांस्तदुच्छेद्य उद्धतः प्रतिनायकः ।। —५,१०३
ततः कैश्चिद् गुणैर्हीनः पूज्यश्चैवोपनायकः ।
समो न्यूनोऽपि वा तस्य कनीयाननुनायकः ।। —५।१०४

—उनमें सभी गुणों से युक्त, कथा में आरम्भ से अन्त तक विद्यमान रहनेवाला नायक कहलाता है (जैसे राम); अन्यायकारी, उद्धत एवं नायक के द्वारा वध्य को प्रतिनायक कहते हैं (जैसे रावण); जो नायक से कुछ गुणहीन, फिर भी आदरणीय हो वह उपनायक है (जैसे सुग्रीव); गुणों में नायक के समान, या हीन भी, उसका कनिष्ठ अनुनायक कहलाता है (जैसे लक्ष्मण)।

इससे स्पष्ट है कि नायक को कथा में आरम्भ से अन्त तक रहना चाहिए और उसके द्वारा प्रतिनायक का वध होना चाहिए। स्वभावतः नायक का उत्कर्ष बताने के लिए उसके उच्च वंश, अप्रतिम बल, श्लाघ्य ज्ञान आदि का वर्णन आवश्यक होता है। यदि कोई इस रूप में नायक को कथा के आरम्भ में प्रस्तुत करके, बाद में प्रतिनायक का उत्कर्ष दिखाने के लिए उसी का वध करा दे तो यह अनुचित होगा। यदि उस व्यक्ति को कथा में आरम्भ से अन्त तक नहीं रखना हो या उसका अभ्युदय नहीं दिखाना हो तो नायक के रूप में उसका ग्रहण ही नहीं करना चाहिए; किन्तु एक बार नायक बना देने पर कवि का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह कोई घटना की ऐसी योजना न करे जो पाठक की बुद्धि को ठेस पहुँचाए।

सम्भवतः भामह के सामने कोई ऐसा महाकाव्य था जिसमें नायक का वध वर्णित हुआ था। इसी से यहाँ उन्होंने उसका स्पष्ट निषेध किया है, अन्यथा यह कहने की आवश्यकता ही क्या थी ?

नागनाथ शास्त्री तथा शंकरराम शास्त्री ने २२वीं कारिका में नायक का अर्थ प्रतिनायक किया है, जो अप्रासंगिक है। प्रतिनायक तो वध्य होता ही है अतः, भामह कैसे कहते कि 'न तस्यैव वधं ब्रूयात्'। दूसरी बात यह कि प्रतिनायक अभ्युदयभागी भी नहीं होता, अभ्युदय तो नायक को प्राप्य है, इस तरह 'प्रतिनायक' अर्थ लेने पर कई पूर्वापर विरोध आते हैं जिनका समाधान दुष्कर है। भामह जैसे आचार्य के द्वारा 'प्रतिनायक' के लिए 'नायक' शब्द का प्रयोग भी, जब दोनों के अर्थ सर्वथा विरोधी हैं, असमाधेय है।

अभिनेयार्थ

२४. नाटक, द्विपदी, शम्या, रासक, स्कंधक आदि जो (काव्य-भेद) हैं वे अभिनेय वस्तुएँ हैं। उन्हें दूसरों ने विस्तार से कहा है।

१८वीं कारिका में ग्रन्थकार ने काव्य के पाँच भेदों का निर्देश किया है। उनमें सर्गबंध (महाकाव्य) का निरूपण कर चुके। अब क्रमप्राप्त 'अभिनेयार्थ' की चर्चा करते हैं।

दृश्य और श्रव्य, काव्य के इन दो भेदों में दृश्य का सविस्तर विवेचन भरत आदि ने कर दिया है, इसलिए भामह अनपेक्षित समझकर उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ नहीं कहना चाहते। प्रस्तुत ग्रंथ में उनका उद्देश्य केवल श्रव्य काव्य की मीमांसा करना है क्योंकि उनके समय तक सम्भवतः उसका पर्याप्त विवेचन नहीं हुआ था।

द्विपदी, शम्या और स्कन्धक का उल्लेख बाद के लक्षण-ग्रन्थों में नहीं मिलता। ये भेद आगे चलकर किन्हीं कारणों से लुप्त हो गये। यत्र-तत्र जो इनकी चर्चा आती है, उससे मालूम होता है कि ये गीतिनाट्य (ऑपेरा) के विविध भेद थे। हेमचन्द्र ने रूपक के दो भेद बताये हैं, पाठ्य और गेय। पाठ्य में नाटक, प्रकरण आदि की गणना है और गेय में डोम्बिका, भाण आदि की।

गेय रूपक की व्याख्या करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं—

पदार्थाभिनयस्वभावानि डोम्बिकादीनि गेयानि रूपकाणि चिरन्तनैरुक्तानि।

—काव्यानुशासन, ८ अध्याय, पृ० ३९२

इससे स्पष्ट है कि गेय रूपकों में दो तत्त्व रहते थे गीत और अभिनय। उसे ही आजकल गीतिनाट्य कहते हैं। हेमचन्द्र के अनुसार उसके डोम्बिका, भाण, शिंग, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग, काव्य, शम्या, छलित, द्विपदी आदि प्रभेद हैं।

ऐसा लगता है कि द्विपदी, शम्या आदि भामह के समय में अधिक लोकप्रिय थे, इसीलिए उन्होंने इनका नाम लिया है।

रासक के रूप में आगे चलकर अन्तर पड़ गया। हेमचन्द्र ने उसका उल्लेख गेय रूपकों में किया है—

अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुःषष्टियुगलाद् रासकं मसृणोद्धतम्॥ —काव्यानुशासन, पृ० ३९४

किन्तु विश्वनाथ ने उसका जो लक्षण दिया है (साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद) उसमें गेयता का कोई निर्देश नहीं है।

नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत्।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः॥ २४॥

आख्यायिका

२५. गद्य से युक्त संस्कृत (की रचना) आख्यायिका कहलाती है जिसके शब्द, अर्थ एवं समास अक्लिष्ट तथा श्रव्य हों, विषय उदात्त हो और जो उच्छ्वासोंवाली हो।

२६. उसमें नायक अपने घटित (वृत्त) चरित्र को स्वयं कहता है; समय-समय पर भावी घटनाओं के सूचक वक्त्र तथा अपवक्त्र (छंद रहते हैं)।

२७. (वह) कवि के अभिप्रायविशिष्ट किन्हीं कथनों से चिह्नित तथा कन्याहरण, युद्ध, (प्रेमियों के) वियोग और अभ्युदय से समन्वित होती है।

२५वीं कारिका के अक्लिष्ट और श्रव्य ये दोनों विशेषण शब्द, अर्थ तथा समास इन तीनों से अन्वित होंगे; शब्द ऐसे हों जो अक्लिष्ट और श्रव्य हों; वैसे ही अर्थ और समास भी अक्लिष्ट और श्रव्य हों। चूँकि गद्य में समास का बाहुल्य रहता है, अतः उसका अक्लिष्ट और श्रव्य होना आवश्यक है; यदि क्लिष्ट हुआ हो अर्थबोध में बाधा पड़ेगी और श्रव्य न हुआ तो उच्चारण एवं श्रवण में।

पदवृत्ति—समास। 'पदवृत्ति' का अर्थ अभिधा, लक्षणा आदि करने की अपेक्षा समास करना अधिक अच्छा है। अर्थ का उसके पहले निर्देश हो चुका है और अर्थ की अनाकुलता में वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य सब की अनाकुलता समाविष्ट है, अतः पदवृत्ति का अभिधा आदि अर्थ पुनरुक्त मात्र होगा। गद्यकाव्य में समास का बाहुल्य रहने से उसकी अनाकुलता पर ध्यान रखना बहुत अपेक्षित है भी।

कवि के अभिप्राय-विशिष्ट कथन का तात्पर्य यह है कि कवि जहाँ-तहाँ ऐसे शब्द आदि का प्रयोग करे जो अनायास उसके व्यक्तित्व के परिचायक हों; जैसे भारवि ने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के समाप्तिपरक छंद में 'श्री' शब्द का प्रयोग किया है; इसी तरह माघ ने 'शिशुपालवध' में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है।

कथा

२८. संस्कृत, असंस्कृत (प्राकृत) या अपभ्रंश की रचना, जिसमें न तो वक्त्र-अपवक्त्र (छंद) हों, न उच्छ्वास, कथा कहलाती है।

संस्कृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना ।
गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता ॥ २५ ॥
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च ॥ २६ ॥
कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता ।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता ॥ २७ ॥
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ।
संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक्तथा ॥ २८ ॥

२६. उसमें अपना चरित्र स्वयं नायक नहीं (कहता) बल्कि दूसरे कहते हैं; कोई कुलीन व्यक्ति अपना गुण आप ही कैसे कहेगा ?

इस प्रकार आख्यायिका और कथा में निम्नलिखित अन्तर हैं—

आख्यायिका	कथा
१. संस्कृत में लिखित।	१. संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में लिखित।
२. वक्त्र-अपवक्त्र छंद हों।	२. वक्त्र-अपवक्त्र छंद न हों।
३. उच्छ्‌वास-युक्त।	३. उच्छ्‌वास-रहित।
४. नायक के द्वारा स्वचरित-वर्णन।	४. किसी अन्य के द्वारा नायक का चरित्र-वर्णन।

कथा और आख्यायिका का सविस्तर विवेचन भूमिका में है।

अनिबद्ध

३०. गाथा और श्लोक मात्र को अनिबद्ध कहते हैं। फिर, ये सब (पूर्वनिरूपित काव्य-भेद), वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति से युक्त होने चाहिए।

गाथा—प्राकृत पद्य। श्लोक—संस्कृत पद्य।

अनिबद्ध काव्य का वह भेद है जिसमें निबन्ध अर्थात् प्रबन्धात्मकता का अभाव हो। प्रबन्ध-काव्य में रसास्वादन के लिए आगे-पीछे के प्रसंग का ज्ञान अपेक्षित होता है किन्तु मुक्तक (अनिबद्ध) अपने आप में पूर्ण होता है; उसमें पूर्वापर— आगे-पीछे के प्रसंग की अवगति आवश्यक नहीं होती। जैसा अभिनवगुप्त ने कहा है :

मुक्तम् अन्येन नालिङ्गितम्। तस्य संज्ञायां कन्। — लोचन: पृ० १७४

— मुक्त वह है जो दूसरे से आलिङ्गित, सम्पृक्त न हो। संज्ञा अर्थ में मुक्त से 'कन्' प्रत्यय जोड़कर मुक्तक शब्द निष्पन्न होता है।

इस प्रकार मुक्तक का अर्थ हुआ—

पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।

— लोचन, पृ० १७५

— जो पद्य-पूर्वापर निरपेक्ष होकर भी रसास्वादन कराने में समर्थ हो, वह मुक्तक है।

इस परिभाषा के अनुसार प्रबन्ध-काव्य में भी मुक्तक का सद्भाव सम्भव है : **प्रबन्धेष्वपि मुक्तकस्यास्ति सद्भावः।** —लोचन, पृ० १७५

अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते ।
स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः ॥ २६ ॥
अनिबद्धं पुनर्गाथा श्लोकमात्रादि तत्पुनः ।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥ ३० ॥

उदाहरण के लिए, रामचरितमानस का 'सकल बस्तु गुन-दोष-मय' यह दोहा या ऐसे ही जो सैकड़ों सूक्ति-वचन हैं, लिये जा सकते हैं, क्योंकि उनका आस्वादन पूर्वापर-निरपेक्ष भाव से भी हो सकता है ।

काव्य के पूर्व-लक्षित समग्र भेद वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति से मुक्त होने चाहिये । जहाँ न वक्रोक्ति हो, न स्वभावोक्ति, वह काव्यत्व से रहित है ।

वैदर्भ-गौड-मार्गों का भेद

३१. दूसरे विद्वानों का मत है कि वैदर्भ (नामक) अन्य (काव्य-भेद) है; वही श्रेष्ठ है; अर्थ-सौष्ठवसंपन्न भी दूसरा (काव्य श्रेष्ठ) नहीं है ।

भामह ने वैदर्भ और गौड की चर्चा रीति के रूप में नहीं, बल्कि काव्य-भेद के अन्तर्गत की है । उनके विवेचन से स्पष्ट है कि उस समय विद्वानों का एक वर्ग ऐसा था जो वैदर्भ को ही श्रेष्ठ काव्य मानता था; उससे भिन्न किसी काव्य-भेद को वह मान्यता देने को प्रस्तुत न था । भामह इस द्वैविध्य को निस्सार, अतः अग्राह्य, मानते हैं ।

३२. यह गौड है, यह वैदर्भ है, क्या ऐसा पार्थक्य (संभव) है ? हाँ, गतानुगतिकता के कारण बुद्धिहीन ऐसा अवश्य कह सकते हैं ।

जो लोग वैदर्भ और गौड नाम से काव्य के भेद करते हैं वे बुद्धि से काम न लेकर केवल लीक पीटते हैं, क्योंकि इनके पार्थक्य का कोई सुस्पष्ट, मान्य आधार नहीं है ।

३३. किन्तु 'अश्मकवंश' आदि तो वैदर्भ कहलाते हैं ! तो ठीक है, कहलाया करें; नाम तो प्रायः इच्छा-प्रसूत होते हैं (उनका अर्थ से विशेष संबंध नहीं रहता) ।

वादी की ओर से आपत्ति है कि आप वैदर्भ का खंडन कर रहे हैं, किन्तु 'अश्मकवंश' आदि को सभी वैदर्भ का उदाहरण स्वीकार करते हैं । भामह इसका समाधान यह कह-कर करते हैं कि यदि कोई 'अश्मकवंश' आदि के लिए वैदर्भ शब्द का प्रयोग करता है तो किया करे, क्योंकि नामकरण तो सर्वथा स्वेच्छा की वस्तु है; नाम और अर्थ की संगति पायी ही जाय, यह कोई आवश्यक नहीं । कहावत प्रसिद्ध ही है कि 'आँख का अंधा नाम नयनसुख' । अकिंचन का नाम 'कंचन प्रसाद' और करोड़पति का 'तिनकौड़ी साह' देखा

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥ ३१ ॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥ ३२ ॥
ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते ।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ॥ ३३ ॥

जाता है । हैं 'वाचस्पति उपाध्याय', पर न अक्षरों से परिचय है, न पढ़ाने से कोई नाता । इसलिए नाम को लेकर विवाद करना व्यर्थ है ।

'अश्मकवंश' कोई काव्य रहा होगा जो आज उपलब्ध नहीं है। विदर्भ (आधुनिक बरार) के दक्षिण में अश्मक नाम का एक राज्य था । वहाँ सम्भवत: 'अश्मक' नाम का कोई राजा था जिसके वंश की कथा 'रघुवंश' की तरह इस काव्य में वर्णित रही होगी ।

३४. अर्थगांभीर्य और वक्रोक्ति से रहित, स्पष्ट, सरल और कोमल (वैदर्भ काव्य) (सच्चे काव्य से) भिन्न, संगीत के समान, केवल श्रुतिमधुर होता है।

वैदर्भ काव्य में मुख्यत: स्पष्टता, सरलता और कोमलता (लालित्य) का समावेश रहता है, पर इन गुणों के कारण ही किसी रचना को सत्काव्य नहीं मान लेंगे, क्योंकि ये गुण तो संगीत में भी रहते हैं । फिर, संगीत और काव्य में अन्तर क्या रहेगा ? संगीत से काव्य के भेदक तत्त्व दो हैं—अर्थगांभीर्य और वक्रोक्ति । यदि ये दोनों गुण हों तभी किसी रचना को काव्य कह सकते हैं, अन्यथा नहीं । प्रसादगुण-संपन्नता, सरलता और श्रुतिमाधुर्य काव्य के अनिवार्य उपादान नहीं, वे संगीत के समान केवल कानों को ही आनन्दित कर सकते हैं, हृदय में रस-संचार नहीं कर सकते जो कविता का मुख्य धर्म है । अत: वैदर्भ को काव्य माननेवालों का मत अग्राह्य है ।

३५. अलंकारयुक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थवान्, न्यायसंगत, अनाकुल (जटिलता आदि दोषों से मुक्त) गौडीय (मार्ग) भी अच्छा है; अन्यथा (इन गुणों से वंचित) वैदर्भ भी नहीं (अच्छा है) ।

वैसा गौडीय काव्य भी श्रेष्ठ है जिसमें अलंकार हो, ग्राम्यता का अभाव हो, अर्थ-सौष्ठव विद्यमान हो, लोक और शास्त्र का विरोध न हो तथा जटिलता, क्लिष्टता आदि दोष न हों ।

कहने का तात्पर्य यह कि नाममात्र से किसी वस्तु को अच्छा या बुरा, उत्कृष्ट या अपकृष्ट नहीं कह सकते; उसके गुणों पर विचार करके ही कुछ कहना चाहिए । जो लोग यह मानते हैं कि वैदर्भ नाम से अभिहित होनेवाली सभी रचनाएँ श्रेष्ठ हैं और गौड कहलानेवाली सभी हीन हैं, वे भूल करते हैं । इन नामों से काव्य का आंतरिक तथा तात्त्विक वैशिष्ट्य व्यक्त नहीं होता, अतः ये उपेक्षणीय हैं ।

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥ ३४ ॥

अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ॥ ३५ ॥

३६. केवल नितांत आदि (शब्दों के प्रयोग) से वाणी में सौंदर्य नहीं आता। वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का अलंकार (सौंदर्य) है।

उपर्युक्त प्रसंग का उपसंहार करते हुए भामह एक बार फिर वैदर्भी (मधुर बंध) के आग्रही आलोचकों के मत का खंडन कर अपना मत उपस्थित करते हैं।

यदि किसी काव्य को देखकर कोई बार-बार 'नितांत सुन्दर, नितांत सुन्दर' कहे तो इससे उसमें सौन्दर्य नहीं आयेगा। काव्य की निष्पत्ति के लिए, उसके सौन्दर्य-संपादन के लिए सबसे अधिक अपेक्षित है शब्द और अर्थ की वक्रता। वक्रता से समन्वित शब्दार्थ ही काव्य कहला सकता है, शेष सभी धर्म गौण हैं।

इस कारिका में 'नितान्तादि' अंश का अर्थ पूर्ण स्पष्ट नहीं है। सभी ने खींचतान करके ही अर्थ-संगति का प्रयास किया है। यहाँ कोई पाठान्तर होना चाहिए, पर सभी प्रतियों में यही पाठ है और उसकी संगति उपर्युक्त प्रकार से ही समीचीन होती है।

काव्यदोष

३७. कवि नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढशब्दाभिधान का प्रयोग नहीं करते।

भामह ने दोषों का विवेचन चार बार किया है: प्रथम परिच्छेद की इस ३७वीं कारिका में ६ दोषों का, ४७वीं कारिका में ४ दोषों का, द्वितीय परिच्छेद में उपमा के ७ दोषों का (का० ३९–६४) और चतुर्थ परिच्छेद में १५ दोषों का, जिनका निरूपण पञ्चम परिच्छेद तक चलता है।

१. जिस तरह आगे चलकर अलंकारों की संख्या में वृद्धि हुई उसी तरह दोषों की संख्या में भी। अतः उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों द्वारा उन्नीस दोषों की तुलना में भामह द्वारा निर्दिष्ट दोष संख्या में तो कम हैं ही, उनके निरूपण में भी सूक्ष्मता नहीं है।

२. कहीं किसी दोष का केवल लक्षण है, उदाहरण नहीं और कहीं उदाहरण है तो लक्षण नहीं। यह त्रुटि अलंकारों के निरूपण में भी दिखायी देती है।

३. भामह द्वारा दिये गये दोषों के लक्षण और उदाहरण अनेकत्र उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों के लक्षण-उदाहरण से भिन्न हैं जो दोष-संबंधी मान्यता के विकास का अनिवार्य परिणाम है।

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ॥ ३६ ॥
नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।
गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते ॥ ३७ ॥

नेयार्थ दोष

३८. शब्दन्याय (भाषा के नियम) के अनुकूल नहीं होने से जिसका संगत अर्थ, अपने अभिप्राय के अनुसार, विद्वानों को किसी प्रकार बलपूर्वक निकालना पड़े, वह नेयार्थ (दोष) है।

कारिकान्वय—शब्दन्यायानुपारूढः यस्य युक्तः अर्थः कृतिभिः स्वाभिसन्धिना कथञ्चिद् बलान्नीयते (तत्) नेयार्थम्।

नेयार्थ—नेय (बलपूर्वक प्राप्य) अर्थ हो जिसका।

नेयार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ भाषा-संबंधी अव्यवस्था के कारण अर्थ स्वतः न निकले, बल्कि उसे किसी तरह खींचतान कर निकालना पड़े।

उदाहरण

३९. जैसे, माया के समान भद्रा। यह कल्पना (वाक्य-रचना) सदोष है। यहाँ 'वेणुदाकि के' इस शब्द-प्रयोग के बिना किसी प्रकार अर्थ तक पहुँचते हैं।

यह कारिका इतनी अस्पष्ट है कि बहुत माथापच्ची करने पर भी सुसंगत अर्थ नहीं प्राप्त होता। किसी भी व्याख्याकार को अपने अर्थ से संतोष नहीं हुआ है। उदाहरण है यह नेयार्थ का। नेयार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ किसी प्रकार खींचतान कर अर्थ निकालना पड़े। 'माया के समान भद्रा' इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है अतः खींचतान कर कुछ अर्थ निकालना पड़ता है। वेणुदाकि से क्या अभिप्रेत है, यह कहना कठिन है। ताताचार्य ने उसे किसी प्रबंध का नायक माना है और भद्रा को नायिका। तात्पर्य कि भद्रा वेणुदाकि की माया के समान थी, अर्थात् जिस तरह माया से कोई मोहित हो जाता है उसी तरह भद्रा ने वेणुदाकि को मोहित कर रखा था। नागनाथ शास्त्री ने अनुमान किया है कि 'वेणुदाकेः' के बदले संभवतः 'वेणुदारेः' पाठ हो। वेणुदारि बाणासुर के पुत्र का नाम था। असुर-पुत्र होने से वह माया में निष्णात रहा होगा। इस प्रकार अर्थ होगा वेणुदारि की माया के समान भद्र (कल्याणकारक)। संभव है उसने कभी माया का प्रयोग किसी मांगलिक कार्य के लिए किया हो।

शंकरराय शास्त्री का एक तीसरा सुझाव है। उन्होंने वेणुदाकि का अर्थ कृष्ण किया है; (वेणुं दाकयति इति वेणुदाकिः। दक धातु से, ध्वन्यर्थ-व्यंजना के आधार पर, उन्होंने बाँसुरी की ध्वनि का अर्थ निकाला है। वेणुदाकि, अर्थात् बाँसुरी बजानेवाला=

नेयार्थं नीयते युक्तो यस्यार्थः कृतिभिर्बलात्।
शब्दन्यायानुपारूढः कथञ्चित्स्वाभिसन्धिना ॥ ३८ ॥
मायेव भद्रेति यथा सा चासाध्वी प्रकल्पना।
वेणुदाकेरिति च तां नयन्ति वचनाद्विना ॥ ३९ ॥

कृष्ण) कृष्ण की माया से कभी लोक-कल्याण हुआ होगा। विष्णु ने कई बार माया-रूप धारण कर देवताओं का कल्याण किया है, यह पुराणानुमोदित है।

उपर्युक्त मतभेदों से स्पष्ट है कि इसका कोई सुनिश्चित अर्थ नहीं है। खींचतान कर किसी तरह अर्थ निकालने का प्रयास हुआ है। यह सच्चे अर्थ में नेयार्थ का उदाहरण है।

क्लिष्ट तथा अन्यार्थ दोष

४०. (अर्थ में) व्यवधान क्लिष्ट (दोष) है, और (अर्थ की) अनुपलब्धि अन्यार्थ (दोष) है। जैसे, उन (रमणियों) ने उसके शोक का विहरण किया। किन्तु विहरण (विपूर्वक हृ धातु) क्रीड़ा में प्रचलित है।

जहाँ बीच में दूसरे अर्थ के उपस्थित हो जाने के कारण विवक्षित अर्थ की प्रतीति में व्यवधान खड़ा हो जाय वहाँ क्लिष्ट दोष होता है। क्लिष्ट इसलिए कहते हैं कि विवक्षित अर्थ प्राप्त तो हो जाता है पर क्लेश से, अनायास नहीं।

अन्यार्थ दोष में शब्द का दूसरा अर्थ रहने से अभिमत अर्थ प्राप्त होता ही नहीं। वहाँ अर्थ का विगम, अर्थात् अभाव रहता है।

क्लिष्ट का उदाहरण : उन रमणियों ने उसके शोक का विहरण किया। केवल 'हृ' धातु का अर्थ हरण करना है, किन्तु 'वि' उपसर्ग-पूर्वक 'हृ' धातु का अर्थ विहार करना है। चूँकि यहाँ 'जह्रुः' के बदले 'विजह्रुः' ('हृ' के लिट् लकार) का प्रयोग है अतः उसका अर्थ होगा 'विहार किया' जो विवक्षित नहीं है। शोक शब्द के साथ अन्विति बैठाने के लिए 'वि' उपसर्ग का अर्थ छोड़कर केवल 'हृ' धातु का हरण अर्थ ग्रहण करना पड़ता है। इस अर्थ तक पहुँचने में 'वि' उपसर्ग से व्यवधान पड़ रहा है इसलिए यह क्लिष्ट का उदाहरण हुआ।

अन्यार्थ का उदाहरण : और वह क्रीड़ा में विकृत हुआ।

इस वाक्य के अर्थबोध के लिए पूर्व वाक्य को भी साथ रखना होगा। उन रमणियों ने उसके शोक का हरण किया और वह क्रीड़ा में किया, अर्थात् रमणियों ने क्रीड़ा (केलि) के द्वारा उसके शोक को दूर किया, अभिमत अर्थ यह है। अब यहाँ 'विकृत' के प्रयोग से सारा अर्थ ही विकृत हो जाता है। होना चाहिए 'कृत', जिसका अर्थ होगा कि उसका शोकहरण क्रीड़ा में किया गया, किन्तु उसमें 'वि' लग जाने से अर्थ सर्वथा बदल जाता है और इस तरह अभिमत अर्थ प्राप्त होता ही नहीं।

दोनों उदाहरण देखने में एक जैसे हैं पर उनमें सूक्ष्म भेद है। पूर्व वाक्य में शोक शब्द रहने से 'विजह्रुः' का अर्थ, क्लेश से हा सही, 'हरण करना' हो जाता है, किन्तु दूसरे

क्लिष्टं व्यवहितं विद्यादन्यार्थं विगमे यथा ।
विजह्रुस्तस्य ताः शोकं क्रीडायां विकृतं च तत् ॥ ४० ॥

वाक्य में वैसा कोई अंश नहीं है जो 'विकृत' का अर्थ 'कृत' कर दे । इसलिए इसमें विवक्षित अर्थ की उपलब्धि हो ही नहीं पाती ।

अवाचक दोष

४१. हिम के नाशक के शत्रु को धारण करनेवालों से आकाश व्याप्त है। यह अवाचक है। वाच्य अर्थ में जो शब्द (अभिधान) साक्षात् रूढ़ नहीं है उसकी प्रतीति नहीं होती।

उत्तरार्द्ध का अन्वय— वाच्ये अर्थे साक्षात् अरूढम् अभिधानं न प्रतीयते ।

जो शब्द जिस अर्थ में साक्षात् रूढ़, अर्थात् प्रसिद्ध है वही उसका वाचक है; जो शब्द किसी अर्थ में साक्षात् रूढ़ नहीं है वह उसका वाचक नहीं होता । तो अवाचक दोष वहाँ होगा जहाँ वाच्य अर्थ की प्रतीति के लिए ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाय जो उस अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है । जैसे, हिम (बर्फ) का अपह (नाशक) अर्थात् अग्नि, उसका अमित्र (शत्रु) अर्थात् जल उसका धर (धारण करनेवाला) अर्थात् जलधर—मेघ; उन (मघों) से आकाश व्याप्त है ।

यहाँ मेघ अर्थ को कहने के लिए ऐसे शब्द प्रयुक्त हैं जो उस अर्थ में प्रसिद्ध नहीं हैं । अतः यहाँ अवाचक दोष है ।

अयुक्तिमत् दोष

४२. मेघ, पवन, चन्द्रमा, भ्रमर, हारीत, चक्रवाक, शुक आदि दूत (बनें) यह अयुक्तिमत् है।

४३. जो वाणी-विहीन हैं (मेघ, पवन आदि) अथवा जिनकी वाणी स्पष्ट नहीं है (हारीत, चक्रवाक आदि) वे दूर देश तक विचरण कर दूत कम कैसे कर सकते हैं ? ऐसा (वर्णन) युक्तियुक्त नहीं।

४४. हाँ, यदि उत्कण्ठा के कारण कोई उन्मत्त के समान ऐसा-वैसा (असंबद्ध) बोलता है तो हो भी सकता है। बुद्धिमान् (भी) इसका प्रचुर प्रयोग करते हैं।

हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम् ।
साक्षादरूढं वाच्येऽर्थे नाभिधानं प्रतीयते ॥ ४१ ॥
अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः ।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः ॥ ४२ ॥
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः ।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते ॥ ४३ ॥
यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते ।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥ ४४ ॥

भामह ने अयुक्तिमत् दोष की कल्पना स्पष्ट ही मेघदूत जैसे दूत-काव्यों को देखकर की है। निर्जीव, वाणी-विहीन मेघ आदि अथवा अव्यक्त वाणीवाले हारीत आदि पक्षी दौत्य करें यह तो युक्तिसंगत नहीं ही है, किन्तु इसके इतने रमणीय उदाहरण साहित्य में वर्त्तमान हैं कि 'सुमेधोभिः प्रयुज्यते' कहकर उन्हें संतोष करना पड़ा।

गूढ़शब्दाभिधान दोष

४५. गूढ़शब्दाभिधान का किसी प्रकार प्रयोग नहीं करना चाहिए। इससे बुद्धिमानों का भी उपकार नहीं होता।

४६. अग्नि के पुत्र, पर्वत को छेदनेवाले, देवताओं के स्वामी, बारह नेत्रों से युक्त (कार्त्तिकेय) अपने उज्ज्वल नेत्रों की भयंकर दृष्टि से तुम्हारे शत्रुओं का समूल नाश कर।

भामह ने इस दोष का लक्षण नहीं लिखा। उदाहरण के श्लोक में गूढ़शब्दाभिधान दोष अपने चरम रूप में विद्यमान है।

गमनार्थक 'ऋ' धातु से ऋति शब्द बना जिसका अर्थ है मार्ग; असितर्ति—असित (काला) ऋति (मार्ग) है जिसका, अर्थात् अग्नि। अमरकोश में अग्नि का पर्याय कृष्णवर्त्मा (काले मार्गवाला) आया भी है। तुक्—संतान। असितर्तितुक्—अग्नि के पुत्र कार्त्तिकेय। अद्रिच्छित्—पर्वत को छेदनेवाले। कार्त्तिकेय ने क्रौंच पर्वत बाण से छेदा था। इसीलिए उनका एक नाम क्रौंचदारण भी है। कालिदास ने मेघदूत (श्लोक ५७) में इसका उल्लेख किया है। स्वः—स्वर्ग, क्षित्—रहनेवाला; स्वः क्षितां पतिः—देवताओं का स्वामी। कार्त्तिकेय देवताओं के सेनापति थे। सेनापतित्व के आधार पर उन्हें यहाँ देवताओं का पति मान लिया गया है। द्विदृक्—दो नेत्रोंवाले; अद्विदृक्—जिन्हें दो नेत्र नहीं हों। कार्त्तिकेय षण्मुख हैं। अतः उनके बारह नेत्र हैं। सीधे बारह नेत्रोंवाले नहीं कहकर कवि ने उन्हें अद्विदृक् कहा! सीधे कह देने से गूढ़ता कैसे आती? 'मिदि स्नेहने' धातु है, जिसका अर्थ है चिकनाना; अमिद्भिः—जिनमें चिकनाहट नहीं है, अर्थात् रूक्ष। क्रोधपूर्वक देखने के कारण नेत्रों में रूक्षता है। शुभदृग्दृष्टैः—उज्ज्वल नेत्रों के अवलोकन से। वः द्विषः—तुम्हारे शत्रुओं को। जेघ्नीयिषीष्ट (हन् धातु के यङन्त से आशीर्लिङ् प्रथम पुरुष एकवचन का रूप)—अच्छी तरह या बार-बार नष्ट करें।

यह कविता नहीं, विद्वत्ता का विस्फोट है।

गूढशब्दाभिधानं च न प्रयोज्यं कथञ्चन ।
सुधियामपि नैवेदमुपकाराय कल्पते ॥ ४५ ॥
असितर्तितुगद्रिच्छित्स्वःक्षितां पतिरद्विदृक् ।
अमिद्भिः शुभ्रदृग्दृष्टैर्द्विषो जेघ्नीयिषीष्ट वः ॥ ४६ ॥

४७. श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट, ये चार प्रकार के भाषागत दोष कहे गये हैं।

श्रुतिदुष्ट

४८-४९. विट्, वर्चस्, विष्ठित, क्लिन्न, छिन्न, वान्त, प्रवृत्ति, प्रचार, धर्षित, उद्गार, विसर्ग, हृद, यंत्रित, हिरण्यरेतस् संबाध, पेलव, उपस्थित, अंडज, वाक्काटव ये शब्द श्रुतिदुष्ट (सुनने में बुरे) माने गये हैं।

विट् आदि शब्द द्व्यर्थक हैं जिनका एक अर्थ तो अच्छा, पर दूसरा जुगुप्सित या अश्लील है। अतः उनके श्रवणमात्र से अनायास अश्लील अर्थ की प्रतीति होने लगती है। यही कारण है कि इन्हें श्रुतिदुष्ट कहा गया है। विट्—वैश्य, जन तथा विष्ठा; वर्चस्—तेज, वीर्य; विष्ठित—विशेष रूप से स्थित, विष्ठा; क्लिन्न—गीला, खून आदि में सना; छिन्न—कटा, मंगलसूत्र का टूटना; वांत—बाहर निकला हुआ, कै किया हुआ; प्रवृत्ति—झुकाव, स्राव; प्रचार—प्रसार, पाखाने की हाजत; धर्षित—अपमानित, स्त्री के साथ बलात्कार; उद्गार—डकार, कै; विसर्ग—त्याग, हवा खुलना; हृद—मल-त्याग (इसका एक ही अर्थ होता है अतः यह तो श्रुतिदुष्ट है ही); यंत्रित—निबद्ध, संभोग में आबद्ध; हिरण्यरेतस्—अग्नि, रेतस् से वीर्य का बोध, अतः सोने के रंग जैसा वीर्यवाला; संबाध—रगड़, योनि; पेलव—कोमल, मलोत्सर्ग; उपस्थित—प्रस्तुत, लिंग; अंडज—पक्षी, अंड अंश से अंडकोष का प्रत्यायक; वाक्काटव—वाणी की कटुता, काट इस अंश से लिंग की प्रतीति। तु० अत्र काट इत्येकदेशेन लिङ्गप्रतीतिः।—वामन के काव्यालंकार (२-१-१९) पर कामधेनु टीका। ताताचार्य ने काट का अर्थ प्रेतवाहन किया है।

अर्थदुष्ट

५०. जिस वाक्य के बोलने पर शब्दों के तदर्थवाचक (असभ्यार्थबोधक) होने से बुद्धि में असभ्य अर्थ की प्रतीति हो तो अर्थदुष्ट (दोष) होता है।

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्॥ ४७॥
विड्वर्चोविष्ठितक्लिन्नच्छिन्नवान्तप्रवृत्तयः।
प्रचारधर्षितोद्गारविसर्गहृदयन्त्रिताः॥ ४८॥
हिरण्यरेताः सम्बाधः पेलवोपस्थिताण्डजाः।
वाक्काटवादयश्चेति श्रुतिदुष्टा मता गिरः॥ ४९॥
अर्थदुष्टं पुनर्ज्ञेयं यत्रोक्ते जायते गतिः।
असभ्यवस्तुविषया शब्दैस्तद्वाचिभिर्यथा॥ ५०॥

श्रुतिदुष्ट में शब्दों के श्रवणमात्र से अश्लील अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु अर्थदुष्ट में अर्थ की पर्यालोचना के बाद। अर्थदुष्ट में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं उनमें आपाततः कोई दोष नहीं रहता, पर उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थ से अश्लीलता का भी बोध हो जाता है। अर्थ-प्रतीति के अनन्तर दोष की प्रतीति होने से ही इसे अर्थदुष्ट कहते हैं।

उदाहरण

५१. हनन करने को उद्यत, स्तब्ध, छिद्रान्वेषी का पतन अवश्य होता है परन्तु उन्नति कठिनता से होती है।

इस श्लोक में दुष्ट का वर्णन है, पर उससे पुरुष के लिंग की भी प्रतीति होने लगती है।

हनन का अर्थ दुष्ट-पक्ष में मारना और लिंग-पक्ष में संभोग के समय योनि-ताड़न; स्तब्ध—दुष्ट-पक्ष में अनम्र, लिंग-पक्ष में खड़ा; छिद्र—दुष्ट-पक्ष में दोष या निर्बल बिंदु, लिंग-पक्ष में योनि; पात—दुष्ट-पक्ष में अधःपतन, लिंग-पक्ष में वीर्यत्यागजनित शिथिलता; उन्नति—दुष्ट-पक्ष में उत्कर्ष-प्राप्ति, लिंग-पक्ष में कठोरता।

इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द अपने आप में निर्दोष हैं, किन्तु उनसे शठ-विषयक अर्थ के साथ लिंग-विषयक अर्थ की भी प्रतीति होने लगती है जो अश्लील है। चूँकि यह दोष अर्थ-बोध के बाद प्रतीत होता है, इसीलिए इसे अर्थदुष्ट कहते हैं।

कल्पनादुष्ट

५२. दो शब्दों के मेल से जो अनिष्ट (अवांछित) अर्थ कल्पित होता है उसे कल्पनादुष्ट कहते हैं। जैसे, शौर्याभरण।

कल्पनादुष्ट में दोनों शब्द पृथक्-पृथक् सर्वथा निर्दोष होते हैं, किन्तु उनके मिलने से सन्निहित अंश अवांछित अर्थ का बोधक बन जाता है। यह दोष दो शब्दों के सन्निधान (मिलने) से ही संभव होता है; जैसे, शौर्य और आभरण में संधि होने से 'शौर्याभरण' बना जिसमें 'याभ' (जो दोनों का सन्निहित अंश है) मैथुन का वाचक हो जाता है। अतः, यहाँ कल्पनादुष्ट नामक दोष हुआ।

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।
पतनं जायतेऽवश्यं कृच्छ्रेण पुनरुन्नतिः ॥ ५१ ॥

पदद्वयस्य सन्धाने यदनिष्टं प्रकल्पते ।
तदाहुः कल्पनादुष्टं स शौर्याभरणो यथा ॥ ५२ ॥

श्रुतिकष्ट

५३. उदाहरणार्थ, अजिह्लदत् (आनन्दित कराया) आदि (शब्द) श्रुतिकष्ट माने जाते हैं। विद्वान् इन्हें पसन्द नहीं करते। कुछ लोग 'गंड' (शब्द) को भी (पसन्द नहीं करते)।

भामह ने श्रुतिकष्ट का लक्षण नहीं लिखा। श्रुतिकष्ट, अर्थात् सुनने में कष्टकर—कर्णकटु। जो सुनने में असभ्यार्थवाचक (अश्लील) हो वह श्रुतिदुष्ट और जो सुनने में कष्टकर (कर्णकटु) हो वह श्रुतिकष्ट। अजिह्लदत् ह्लाद् धातु के णिजन्त में लुङ् प्रथम पुरुष एकवचन का रूप है। यद्यपि भामह के कथनानुसार कुछ लोग 'गंड' शब्द को वर्ज्य मानते हैं, फिर भी संस्कृत-साहित्य में उसका बहुत प्रयोग हुआ है।

दोष-परिहार

५४. संनिवेश की विशेषता के कारण फूलों की माला के बीच गुँथे हरे पत्ते के समान (कहीं-कहीं) सदोष अभिव्यंजना भी सुन्दर बन जाती है।

५५. रमणी के नेत्रों में लगे काले अंजन के सदृश कहीं आश्रय (आधार) के सौन्दर्य के कारण (भी) दोष रमणीयता धारण कर लेता है।

कहीं शब्दों के संनिवेश की विशेषता अथवा आश्रय के सौन्दर्य के कारण इन दोषों का दोषत्व मिट जाता है। दोनों को दो उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट करते हैं। फूलों की माला के बीच में कौशलपूर्वक गूँथा गया पत्ता भी शोभने लगता है; उसका सौन्दर्य संनिवेश (रखने) की चतुरता के कारण है। इसी तरह अंजन काला और भद्दा होता है, किन्तु आँखों में लगने पर वह स्वयं भी चमक उठता है और आँखों को भी चमका देता है। तो, अंजन में रमणीयता आ जाने का कारण है आश्रय (आँखों) की रमणीयता; आँखें सुन्दर हैं, अतः उनमें लगी चीज भी सुन्दर हो जाती है।

दो दृष्टांतों से दोष-परिहार के दो आधारों का निर्देश है। प्रथम दृष्टांत में संनिवेश-वैशिष्ट्य निर्दिष्ट है और दूसरे में आश्रय-सौन्दर्य।

यथाऽजिह्लददित्यादि श्रुतिकष्टं च तद्विदुः ।
न तदिच्छन्ति कृतिनो गण्डमप्यपरे किल ॥ ५३ ॥

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥ ५४ ॥

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ ५५ ॥

संनिवेश-वैशिष्ट्य से अदोषता का उदाहरण

५६. कमलनयने ! तेरा यह मुख ऐसा है जिसके कपोल कुछ पीले पड़ गये हैं। यहाँ 'पांडु' शब्द के संसर्ग से 'गंड' भी सुन्दर बन गया है।

यदि 'गंड' शब्द अकेला रहता तो सदोष होता किन्तु, 'पांडु' के सम्पर्क से निर्दोष हो गया है। उसकी यह निर्दोषता संनिवेश की विशेषता के कारण है; उसे इस तरह रखा गया है कि दोष छिप गया है।

आश्रय-सौन्दर्य से अदोषता का उदाहरण

५७. इस प्रकार अन्य भी सदोष (प्रयोग) निर्दोष बन सकते हैं। जैसे, मदजल से गीले कपोलोंवाले हाथियों का।

५८. मदजल से गीले कपोलोंवाले चार सौ हाथी। इस ढंग से सदोष और निर्दोष शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

असाधु—सदोष; युक्त—निर्दोष; असाधीयः—अत्यन्त सदोष; साधीयः—अत्यन्त साधु, अर्थात् निर्दोष।

सदोष शब्दों का भरसक तो प्रयोग करना ही नहीं चाहिए। यदि करना ही हो तो संनिवेश-वैशिष्ट्य या आश्रय-सौन्दर्य के द्वारा उनका दोषत्व दूर कर लेना चाहिए। आश्रय-सौन्दर्य का उदाहरण— क्लिन्न और गंड दोनों शब्द हेय माने गये हैं, किन्तु आश्रयभूत हाथियों के सौन्दर्य के कारण उनकी असाधुता मिट जाती है और वे प्रयोज्य हो जाते हैं। यही बात दूसरे उदाहरण में भी है।

यदि साधु (निर्दोष) शब्दों का प्रयोग करना हो तब तो कुछ कहना ही नहीं है, पर यदि कभी असाधु (सदोष) शब्दों का प्रयोग करना पड़े तो उपर्युक्त प्रकार से उनका दोषत्व मिटाकर ही प्रयोग करना चाहिए। प्रदर्शित मार्ग से विद्वान् अन्य स्थलों पर भी शब्दों की निर्दोषता संपादित कर ले सकते हैं।

उपसंहार

५९. "यह सुगन्धित फूल ग्रहण करने (लगाने) योग्य है; यह भद्दा है, अतः त्याज्य है; यह गूँथने पर सुन्दर लगेगा; इसका यह (उपयुक्त) स्थान है और इसका

आपाण्डुगण्डमेतत्ते वदनं वनजेक्षणे ।
सङ्गात्पाण्डुशब्दस्य गण्डः साधु यथोदितम् ॥ ५६ ॥
अनयान्यदपि ज्ञेयं दिशा युक्तमसाध्वपि ।
यथा विक्लिन्नगण्डानां करिणां मदवारिभिः ॥ ५७ ॥
मदक्लिन्नकपोलानां द्विरदानां चतुःशती ।
यथा तद्वदसाधीयः साधीयश्च प्रयोजयेत् ॥ ५८ ॥

यह।"—(इस प्रकार फूलों को) अच्छी तरह पहचान कर जैसे माली माला बनाता है उसी प्रकार सावधान बुद्धि से काव्यों में शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

प्रयोग के पहले शब्द का परिज्ञान चार प्रकार से करना चाहिये : (१) कौन शब्द ग्राह्य (उपादेय) है; (२) कौन अग्राह्य (अनुपादेय) है; (३) कौन शब्द प्रयोग के बाद सुन्दर लगेगा (पृथक्शः देखने पर संभव है कि कोई शब्द चमत्कारहीन प्रतीत हो, किन्तु रचना में पड़कर वह चमक जाय। इसका सम्बन्ध मुख्यत: सन्निवेश की विशेषता से है।); और, (४) किस शब्द का कौन-सा उपयुक्त स्थान होना चाहिए। जो कवि इन विभिन्न प्रकारों से शब्द का विवेचन करके प्रयोग करता है उसकी रचना निर्दोष होती है।

●

एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य ।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ॥ ५६ ॥

द्वितीय परिच्छेद

गुण

१. माधुर्य और प्रसाद चाहनेवाले सुधी अधिक समस्त पदों का प्रयोग नहीं करते।

२. कुछ लोग, जिन्हें ओज की अभिव्यक्ति अभिमत है, बहुत (पदों) का भी समास करते हैं; जैसे, मंदार-कुसुम-रेणुपिञ्जरितालका—मंदार के पराग से पीली अलकोंवाली (नायिका)।

३. जो श्रव्य (सुनने में अच्छा) हो और अधिक समस्त न हो वह काव्य मधुर कहलाता है। जिसका अर्थ विद्वानों से लेकर स्त्रियों और बच्चों तक की समझ में आ जाय, वह प्रसाद है।

समग्र द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों का निरूपण है, किन्तु उसे आरम्भ करने के पूर्व भामह गुणों का निर्देश करते हैं।

प्रथम कारिका में माधुर्य और प्रसाद के समासाभाव-रूप सामान्य वैशिष्ट्य का कथन है। तात्पर्य यह कि माधुर्य और प्रसाद दोनों में समास का अभाव या अनाधिक्य रहना चाहिए, क्योंकि समास-बाहुल्य दोनों का विघातक होता है।

द्वितीय कारिका में ओज का लक्षण और उदाहरण है। भामह के अनुसार ओज का लक्षण है समास-बाहुल्य। उदाहरण—मन्दार-कुसुम-रेणु-पिञ्जरितालका। इसमें पाँच पद समस्त हैं।

तृतीय कारिका के पूर्वार्द्ध में माधुर्य का और उत्तरार्द्ध में प्रसाद का लक्षण है; उदाहरण दोनों में किसी का नहीं है।

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥ १ ॥
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका ॥ २ ॥
श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते ।
आविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ॥ ३ ॥

माधुर्य की दो विशेषताएँ हैं : श्रव्यत्व और अनतिसमस्तत्व, अर्थात् जो श्रुतिसुखद हो और अधिक समस्त न हो। जैसे,

निरख सखी ये खंजन आए।

फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मनभाए।

प्रसाद वह है जो अज्ञ-विज्ञ सबकी समझ में आ जाय।

गुणों के इस संक्षिप्त निरूपण से भी स्पष्ट है कि भामह माधुर्य और प्रसाद के आग्रही हैं, ओज के नहीं। उन्होंने आरम्भ में भी माधुर्य और प्रसाद की चर्चा की और अंत में भी और ओज के विषय में 'केचित्' के द्वारा अपनी अरुचि व्यक्त की है।

अतिसमस्तार्थ में अर्थ के द्वारा शब्द का भी ग्रहण अभिप्रेत है, क्योंकि समास मुख्यतः पदवृत्ति (शब्द से सम्बद्ध) है। हेमचंद्र ने इसे ऐसे उद्धृत किया है :

श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते।

इसमें 'शब्द' का शब्दतः प्रयोग होने से बात स्पष्ट हो जाती है।

अलंकार

४. अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा—वाणी के ये पाँच ही अलंकार दूसरों ने कहे हैं।

यह कारिका अलंकारों की प्रारंभिक अवस्था की ओर इंगित करती है जब उनकी संख्या अत्यंत सीमित थी।

भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन्हीं चार अलंकारों का उल्लेख किया है :

उपमा रूपकञ्चैव दीपकं यमकं तथा।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ॥—ना० शा० १७।४३

भामह की सूची में अनुप्रास का उल्लेख इस बात का सूचक है कि भरत के बाद अनुप्रास का महत्त्व स्वीकृत हो चुका था। भरत ने पहले अर्थालंकारों का निर्देश किया है, फिर शब्दालंकार (यमक) का। भामह का क्रम इसके विपरीत है; उन्होंने पहले शब्दालंकार रखे हैं, फिर अर्थालंकार। यह क्रम-विपर्यास अकारण भी हो सकता है या शब्दालंकार के वर्धनशील महत्त्व का द्योतक भी।

अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे ।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः ॥ ४ ॥

शब्दालंकार

अनुप्रास

५. सरूप वर्णों के विन्यास को अनुप्रास कहते हैं। जैसे कहा : हे कान्ते ! उस चिन्ता से तू नितान्त (अतिशय मुरझाई) क्यों है ?

सरूप—समान रूपवाले, अर्थात् एक जैसे। पूर्वार्द्ध में अनुप्रास का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण है। यहाँ तीन बार 'न्त' के प्रयोग में सरूप वर्णों का विन्यास होने से अनुप्रास है।

५वीं से ८वीं तक चार कारिकाओं में अनुप्रास का निरूपण है।

६. दूसरे विद्वान् एक अन्य (प्रकार का) ग्राम्य अनुप्रास मानते हैं। उदाहरण : वह बलराम जिनका कंठ चंचल माला पर नीले भौंरों से आकुल है।

इसे ग्राम्य अनुप्रास कहने का क्या कारण है, यह स्पष्ट नहीं है। तब क्या पूर्वोक्त अनुप्रास नागरिक है ? पर इन दोनों का भेदक तत्त्व क्या माना जाय ? यदि 'ल' का बाहुल्य ग्राम्यता का कारण हो तो जयदेव की—

ललित-लवङ्ग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे;

यह पंक्ति भी ग्राम्यानुप्रास का उदाहरण मानी जायगी। अनुप्रास में ग्राम्य-अग्राम्य का भेद किसी दूसरे ने नहीं किया है।

कारिका के उत्तरार्द्ध का विच्छेद इस प्रकार है—

लोला माला तस्याम् नीलानां अलीनां कुलं तेन आकुलः गलः यस्य स बलः।

७. अनुप्रास (ऐसे होने चाहिए) जिनके अर्थ भिन्न, पर अक्षर-भिन्न (असदृश) न हों। इस मध्यम युक्ति (मार्ग) से वाणी मनोरम होती है।

ग्रंथकार का यह कथन उनके लिए है जो रचना में अनुप्रास का प्रयोग करना चाहते हों। वस्तुतः इस कारिका के पूर्वार्द्ध में अनुप्रास-विषयक जो निर्देश है उसमें

सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते।
किन्तया चिन्तया कान्ते नितान्तेति यथोदितम् ॥ ५ ॥

ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
स लोलमालानीलालिकुलाकुलगलो बलः ॥ ६ ॥

नानार्थवन्तोऽनुप्रासा न चाप्यसदृशाक्षराः।
युक्त्यानया मध्यमया जायन्ते चारवो गिरः ॥ ७ ॥

यमक का लक्षण घटित हो जाता है। अर्थ-भेद और अक्षर-साम्य ये ही दो तो यमक के निष्पादक तत्त्व हैं। भामह का यह कथन अनुप्रास के क्षेत्र को यमक से संकीर्ण कर देता है। इस प्रकार दोनों का विषय-विभाजन उलझ गया है।

प्रस्तुत कारिका का अभिप्राय इतना ही है कि अनुप्रास की योजना करते समय शब्द और अर्थ दोनों पर ध्यान रखना चाहिए।

लाटानुप्रास

८. यहाँ (अनुप्रास के प्रसंग में) दूसरे लाटानुप्रास को भी मानते हैं; जैसे, हे चन्द्रमुख! चन्द्र का उदय हो गया (अतः ऐसी) दृष्टि धारण करो जो (देखनेवाले की) दृष्टि को सुख देनेवाली हो।

भामह ने लाटानुप्रास का लक्षण नहीं लिखा। तात्पर्य-भेद से शब्द और अर्थ की आवृत्ति लाटानुप्रास है।

किसी कारण नायिका से अपरक्त नायक के प्रति यह दूती की उक्ति है : चन्द्रमा के उदित हो जाने से नायिका की विरह-वेदना बढ़ गयी है, अतः अब तुम्हारी उदासीनता उचित नहीं है। अपनी आँखों में उदासीनता के बदले अनुराग भर लो जिसे देखकर नायिका की आँखें आह्लादित हो जायँ, अर्थात् उसपर प्रसन्न हो जाओ।

यहाँ 'दृष्टि दृष्टि' और 'चन्द्र चन्द्र' में शब्द एवं अर्थ की पुनरुक्ति होते हुए भी तात्पर्य-भेद है, इसलिए लाटानुप्रास है।

यमक के भेद

९. यमक पाँच प्रकार का कहा जाता है : आदियमक, मध्यान्तयमक, पादाभ्यास, आवली तथा समस्तपादयमक।

यहाँ से १८वीं कारिका तक यमक का निरूपण है। भामह में क्रमबद्धता का प्रायः अभाव दीखता है। इस कारिका में यमक के भेदों का उल्लेख कर दिया और पूरे प्रकरण को समाप्त कर १७वीं कारिका में यमक का लक्षण दिया जिसे सबसे पहले देना उचित था।

पद्य में यमक की स्थिति कहाँ है, इसी आधार पर यह वर्गीकरण है। नाम से ही भेदों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। मध्ययमक और अन्तयमक को पृथक्-पृथक् न मानकर दोनों का मध्यान्तयमक में समावेश विशेष युक्ति-संगत नहीं मालूम होता।

लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा।
दृष्टिं दृष्टिसुखां धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुखोदितः॥ ८॥
आदिमध्यान्तयमकं पादाभ्यासं तथावली।
समस्तपादयमकमित्येतत्पञ्चधोच्यते॥ ९॥

यदि आदियमक की पृथक् सत्ता सम्भव है तो मध्य और अन्तयमक में भी कोई क्षति नहीं है। दण्डी ने दोनों को स्वतन्त्र माना भी है।

दण्डी ने यमक का जितना विस्तार किया है उतना संस्कृत के किसी दूसरे आलंकारिक ने नहीं किया। काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद की ७७ कारिकाओं में यमक का निरूपण है और दण्डी के अनुसार यदि भेदों की संख्या निकाली जाय तो ३१५ होती है। उन्होंने स्वयं कहा :

अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः सम्भेदयोनयः।
सुकरा दुष्कराश्चैव दर्श्यन्ते तत्र केचन ॥—३।३

—परस्पर सम्मिश्रण से उत्पन्न यमक के भेदों की संख्या बहुत अधिक है। उनमें कुछ की संघटना सरल और कुछ की कठिन है। उनमें कुछ यहाँ दिखाये जाते हैं।

१०. सन्दष्टक, समुद्ग आदि (यमक के भेदों) का इन्हीं (पूर्वोक्त भेदों) में अन्तर्भाव हो जाता है। वे या तो आदि में रहते हैं या मध्यान्त में। इस तरह यमक के पाँच ही भेद हैं। उदाहरण :

भामह यमक की संख्या पाँच से अधिक मानने को कथमपि तैयार नहीं है। सन्दष्ट, समुद्ग आदि भेद जो दूसरे आलंकारिकों ने माने हैं उन्हें भी वह इन्हीं पाँच में अन्तर्भुक्त कर देते हैं। सन्दष्ट में ही स्वार्थ में 'क' प्रत्यय करके सन्दष्टक बनता है; जैसे, बाल : बालक। अतः दोनों का अर्थ एक ही है।

दण्डी के अनुसार समुद्ग का लक्षण :

सन्दष्टयमकस्थानमन्तादी पादयोर्द्वयोः।—३।५१

—दो पादों का आदि और अन्त सन्दष्टयमक का स्थान है। अतः सन्दष्ट की स्थिति तीन प्रकार से सम्भव है : प्रथम पाद का अन्त—द्वितीय का आदि; द्वितीय का अन्त—तृतीय का आदि; तृतीय का अन्त—चतुर्थ का आदि।

उदाहरण :

उपोढरागाप्यबला मदेन सा मदेन सा मन्युरसेन योजिता।
न योजितात्मानमनङ्गतापिताङ्गतापि तापाय ममास नेयते ॥—३।५२

—(मद्य तथा यौवन) के मद से सुरताभिलाषिणी होकर भी वह रमणी मेरी गलती से क्रुद्ध हो गयी, अतः काम-पीड़ित होती हुई भी वह मुझसे नहीं मिली। यही मेरे संताप का कारण है।

समुद्ग का लक्षण :

अर्द्धाभ्यासः समुद्गः स्यात्।—३।५३

—आधे पद्य को दुहरा देना समुद्ग है। उदाहरण :

सन्दष्टकसमुद्गादेरत्रैवान्तर्गतिर्मता ।
आदौ मध्यान्तयोर्वा स्यादिति पञ्चैव तद्यथा ॥ १० ॥

ना स्थेयःसत्त्वया वर्ज्यः परमायतमानया ।
नास्थेयः स त्वयावर्ज्यः परमायतमानया ।।—३।५४

—अत्यन्त मानवती और हठीली होने के कारण तुम उस नायक को छोड़ मत दो बल्कि प्रयत्न से उसका आदर करो और उसे अपने अनुकूल करो ।

यहाँ पद्य के पूर्वार्ध की आवृत्ति होने से समुद्ग हुआ ।

आदियमक

११. अपने अनुयायियों का हितसाधन करने और समागतों को कल्याण-भागी बनाने के लिए देदीप्यमान (कान्तिवाले) उस साधु (शीलादिगुण-सम्पन्न) ने सम्प्रति वह (सर्व-प्रशंसित) राजत्व ग्रहण किया ।

किसी राजा के सिंहासन पर बैठने का वर्णन है । पद्य का अन्वय : सहितं (जनं) सहितं, सङ्गतं जनं सङ्गतं (च) कर्त्तुं राजता तेन साधुना अधुना सा राजता भृता ।

प्रत्येक पाद के आरम्भ में तीन-तीन अक्षरों की आवृत्ति होने से यह आदियमक का उदाहरण है ।

मध्यान्तयमक

१२. इस असार संसार से डरता हुआ साधु (पुरुष) क्लेशों का अन्त कर शान्ति का मार्ग अपनाता है । (यदि) श्रेष्ठत्व (उत्कर्ष) चाहते हो तो अनीति छोड़-कर तुम दुर्दमनीय व्याधियों के वशवर्त्ती जन्म को काट फेंको ।

क्लेश शब्द के दोनों अर्थ हो सकते हैं : कष्ट या पतञ्जलि-कथित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।— योगसूत्र : २।३

सारात्, शान्तं, धीनां और यस्त्वं ये चार अक्षर-समूह क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ चरण के मध्य एवं अन्त में दुहराए गए हैं । अतः यहाँ मध्यान्तयमक है ।

अन्वय : अस्मात् असारात् संसारात् बिभ्यत् साधुः क्लेशान्तं कृत्वा प्रशान्तं वर्त्म याति । ज्यायस्त्वं वाञ्छन् मुक्तानयः त्वं दुर्दमानां व्याधीनाम् अधीनां जातिं (जन्म) छिन्धि ।

साधुना साधुना तेन राजता राजता भृता ।
सहितं सहितं कर्त्तुं सङ्गतं सङ्गतं जनम् ॥ ११ ॥

साधुः संसाराद्बिभ्यदस्मादसारात्
कृत्वा क्लेशान्तं याति वर्त्म प्रशान्तम् ।
जातिं व्याधीनां दुर्दमानामधीनां
वाञ्छञ्ज्यायस्त्वं छिन्धि मुक्तानयस्त्वम् ॥ १२ ॥

पादाभ्यास

१३. हे धीर ! रमणीय भोगों में (भी) तुम्हारी बुद्धि नहीं रमती। ये भोग, जिनका सम्बन्ध नारी से है, मुनियों को भी हर लेते हैं (साधना से विचलित कर देते हैं)।

अभ्यास— आवृत्ति, दुहराना। पादाभ्यास— जिसमें पूरे पाद की आवृत्ति हो।

इस उदाहरण में द्वितीय और चतुर्थ पाद समान हैं। अतः पादाभ्यास का उदाहरण है।

पद्य में किसी जितेन्द्रिय की प्रशंसा है।

आवली

१४. जिसके नेत्र श्वेत और श्याम हैं, पयोधर तथा अधर मोहक हैं, प्रसन्नता एवं मस्ती सौन्दर्य बिखेरनेवाली है, बाल मेघों के समान घने और काले हैं, मेरी (उस) प्रिया की उत्कंठा (मिलनेच्छा) को ये बरसते हुए बादल जगाते हैं और (फिर) चले जाते हैं।

आवली का अर्थ है पंक्ति या शृंखला। घनाघन—वर्षुक मेघ। सम्मद—आनन्द, सुसम्मदाम्— आनन्द, प्रसन्नता से भरी। ललामदाम्—सौंदर्य देनेवाली। वर्षा ऋतु में अपनी दूरस्थ पत्नी को याद कर किसी विरही की उक्ति है।

चूँकि बिना किसी स्थान-नियम के इसमें अनेक यमकों का प्रयोग है अतः यह आवली का उदाहरण हुआ; जैसे, प्रथम चरण में सिता-सिता और धरा-धरा; द्वितीय चरण में मदां मदां मदां; तृतीय में घना, घना, घना, घना; चतुर्थ में यन्ति, यन्ति।

न ते धीर्धीर भोगेषु रमणीयेषु सङ्गता ।
मुनीनपि हरन्त्येते रमणी येषु सङ्गता ॥ १३ ॥

सितासिताक्षीं सुपयोधराधरां
सुसम्मदां व्यक्तमदां ललामदाम् ।
घनाघनानीलघनाघनालकां
प्रियामिमामुत्सुकयन्ति यन्ति च ॥ १४ ॥

समस्तपादयमक

१५. इन राजाओं का शासन अखंडित है; उनके आदेश का कभी विघात नहीं होता; अपराध करनेवालों और मर्यादा तोड़नेवालों के वे दंडविधायक हैं; वैसे सिंहासनों को उन्होंने कुलक्रमागत रूप से अलंकृत किया है।

किसी राजा की स्तुति है। न केवल ये, बल्कि इनके पूर्वज भी, इन सिंहासनों पर बैठते आये हैं, अतः ये गुण, पराक्रम या चरित्र से ही नहीं, वंश-परम्परा से भी विशिष्ट हैं।

यह समस्तपादयमक का उदाहरण है, क्योंकि प्रत्येक पाद के अन्त में 'शासनाः' की आवृत्ति हुई है।

१६. इस प्रकार अनन्तर और एकान्तर पादों में भी (यमक होता है)। सभी पादों में सम्पूर्ण (की आवृत्ति से भी यमक निष्पन्न होता है) किन्तु वैसा सुन्दर होना कठिन है।

अनन्तर— जिसमें अन्तर न हो, अर्थात् अव्यवहित (Contiguous)।

एकान्तर— एक का अन्तर देकर, बीच में एक छोड़कर (Alternate)।

अनन्तर पाद होंगे १-२, २-३, ३-४। वैसे ही एकान्तर होंगे १-३, २-४। इन दोनों प्रकारों से यमक हो सकता है।

चारों पादों में एक ही पाद की आवृत्ति भी हो सकती है किन्तु उसमें रमणीयता को रख पाना बहुत कठिन है। केवल यमक का उदाहरण खड़ा कर देना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें सरसता भी रहनी चाहिए।

यमक का लक्षण

१७. सुनने में समान किन्तु अर्थों में परस्पर-भिन्न वर्णों की जो **आवृत्ति है उसे यमक कहते हैं।**

पुनर्वाद—फिर कहना, अर्थात् आवृत्ति।

अमी नृपा दत्तसमग्रशासना:
कदाचिदप्यप्रतिबद्धशासना: ।
कृतागसां मार्गभिदां च शासना:
पितृक्रमाध्यासिततादृशासना: ॥ १५ ॥

अनन्तरैकान्तरयोरेवं पादान्तयोरपि ।
कृत्स्नं च सर्वपादेषु दुष्कृतं साधु तादृशम् ॥ १६ ॥

तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ॥ १७ ॥

यह लक्षण नवीं कारिका के पहले आना चाहिए था। यमक को शब्दालंकार इसलिए माना गया है कि इसका चमत्कार अर्थगत न होकर शब्दगत होता है; समान वर्णों की आवृत्ति से जो चमत्कार उत्पन्न होता है वही इसका प्राण है। स्वभावतः कवि का ध्यान यमक में वर्ण-योजना पर रहता है, अर्थ-सौष्ठव पर नहीं।

यमक की विशेषताएँ

१८. जिसके शब्द प्रसिद्ध और पद-सन्धियाँ सुश्लिष्ट हों, जो ओजस्वी, प्रसाद-सम्पन्न और सुखोच्चार्य हो (वही) विद्वानों का अभिमत यमक है, अर्थात् विद्वान् उसी यमक को उत्कृष्ट मानते हैं जिसमें ये गुण हों।

यमक के लिए ओज कोई आवश्यक नहीं है। अतः उसका अर्थ ओजगुण न लेकर समासवत्ता लेना अच्छा होगा (समासवत्ता ओज का प्रमुख धर्म है अतः धर्म-धर्मी में अभेदोपचार करके वह अर्थ सुलभ है)। यदि पद-संधियाँ सुश्लिष्ट न होंगी तो पदों की सत्ता में पार्थक्य का आभास आने से यमक की प्रतीति न होगी। यदि उसमें प्रसाद का अभाव रहा तो वह पहेली बन जायगा। स्वाभिधान—जिसका सुखपूर्वक अभिधान, अर्थात् कथन, उच्चारण हो सके। सुखोच्चार्यता नहीं रहने से ऊँची-नीची भूमि पर चलने के समान कविता-पाठ में असुविधा होगी।

हेय यमक

१९. अनेक धात्वर्थों से गूढ (रचना) नाम से ही यमक है, (वस्तुतः उसे) प्रहेलिका (पहेली) कहते हैं। (उसके उदाहरण) रामशर्मा के अच्युतोत्तर में हैं।

जिस यमक में अप्रसिद्ध धातुओं से निष्पन्न दुर्बोध शब्दों का प्रयोग हो उसे भामह यमक नहीं, पहेली मानते हैं। रामशर्मा नामक लेखक का अच्युतोत्तर कोई काव्य था जो आज अनुपलब्ध है। उसमें इस प्रकार, के निकृष्ट यमक के सम्भवतः प्रचुर उदाहरण वर्त्तमान थे। तात्पर्य कि वैसा यमक हेय है जिसका अर्थ करने में पाठक को माथापच्ची करनी पड़े।

२०. यदि ये काव्य भी शास्त्रों के समान व्याख्यागम्य बन जायँ तो विद्वान ही आनन्द (उठाएँगे ; जो बेचारे विद्वान् नहीं हैं, वे तो मारे गये।

प्रतीतशब्दमोजस्वि सुश्लिष्टपदसन्धि च ।
प्रसादि स्वभिधानञ्च यमकं कृतिनां मतम् ॥ १८ ॥
नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी ।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे ॥ १९ ॥
काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत् ।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः ॥ २० ॥

भामह क्लिष्ट काव्य के बड़े विरोधी हैं। काव्य की सुबोधता को उन्होंने अत्यन्त वांछनीय बताया है। इस प्रसंग में भट्टि का निम्नलिखित श्लोक तुलनीय है :

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम् ।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया ।।—भट्टिकाव्य

—यह काव्य व्याख्या से बोध्य है, अतः इससे विद्वानों को पर्याप्त आनन्द मिलेगा। हाँ, मेरे विद्वत्प्रेमी होने से दुर्बुद्धि इसमें अवश्य मरेंगे।

मतलब कि भट्टि के सामने भामह का उपर्युक्त पद्य था और उसका मानों खण्डन करने की नीयत से उन्होंने 'रावण-वध' नामक व्याकरण-काव्य लिखा। तभी तो उसके कठिन हो जाने से उन्हें संतोष तथा हर्ष है।

यह प्रवृत्ति नैषधीयचरित के लेखक श्रीहर्ष में भी है। उन्होंने बड़े गौरव के साथ कहा है :

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ।।

—नैषधीयचरित : २२ । १५२

—इस ग्रन्थ की रचना करते समय मैंने जान-बूझकर कहीं-कहीं गाँठ डाल दी है जिससे अपने को विद्वान् समझनेवाला और निज बुद्धि-बल से पढ़नेवाला खल इसमें न खेल सके (इसका आनन्द न उठा सके)। इस काव्य की रस-तरंग में मज्जन का सुख वही सज्जन पा सकता है जिसने श्रद्धापूर्वक गुरु की आराधना कर उन दृढ ग्रंथियों को ढीला किया है। अभिप्राय यह कि इस काव्य का रसास्वादन वही कर सकता है जो इसे गुरु से पढ़े।

अर्थालंकार

रूपक

२१. गुणों की समता देखकर उपमान के साथ उपमेय का जो तादात्म्य निरूपित किया जाता है उसे रूपक कहते हैं।

तत्त्व—तादात्म्य, अभेद।

प्रायः सभी आलंकारिकों ने अर्थालंकारों में पहले उपमा को स्थान दिया है पर भामह रूपक से आरम्भ करते हैं।

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥ २१ ॥

उपमेय में उपमान का आरोप, अर्थात् उपमेय और उपमान का अभेद-कथन रूपक है। इस अभेद का आधार गुण-साम्य हुआ करता है।

२२. रूपक के दो प्रकार हैं—(१) समस्तवस्तुविषय और (२) एकदेशविवर्त्ती। यह और वह (दोनों) ऐसे कहे जा रहे हैं।

समस्तवस्तुविषय वहाँ होता है जहाँ सभी आरोप शब्दत: कहे गये हों और एकदेशविवर्त्ती वहाँ जहाँ कोई आरोप शाब्द न होकर आर्थ हो, जिसका शब्दत: कथन नहीं हो बल्कि आक्षेप करना पड़े।

समस्तवस्तुविषय

२३. शीकररूपी मदजल बरसानेवाले मेघरूपी विशाल हाथी इन्द्रधनुष का झूल ओढ़े (दिशाओं के प्रान्त भाग से) निकलकर (प्रेमियों को) मत्त बना रहे हैं।

यहाँ शीकर (फुहार) में मदजल का, मेघ में हाथी का और इन्द्रधनुष (शक्रकार्मुक) में झूल (वारण) का आरोप शाब्द है, अतः समस्तवस्तुविषय रूपक है।

एकदेशविवर्त्ती

२४. विद्युद्वलयरूपी कक्ष्या और वक-पंक्तिरूपी माला धारण करनेवाले मेघों की ध्वनि मेरी उस प्रिया को व्यथित कर रही है।

कक्ष्या—हाथी बाँधने की जंजीर। चमकती बिजली की मंडलाकार रेखा ही कक्ष्या है।

यहाँ विद्युद्वलय में कक्ष्या का, वक-पंक्ति में माला का आरोप शाब्द है किन्तु मेघ में हाथी का आरोप आर्थ है, उसका उल्लेख शब्दत: नहीं हुआ है। एक अंश का आरोप आर्थ रहने से यह एकदेशविवर्त्ती का उदाहरण है।

दीपक

२५. आदि, मध्य और अन्त में रहने से दीपक तीन प्रकार का होता है। एक ही (वैशिष्ट्य) की त्रिविध स्थिति से उसके तीन भेद हो जाते हैं।

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च ।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत्तच्चोच्यते यथा ॥ २२ ॥
शीकराम्भोमदसृजस्तुङ्गा जलददन्तिनः ।
निर्यान्तो मदयन्तीमे शक्रकार्मुकवारणाः ॥ २३ ॥
तडिद्वलयकक्ष्याणां बलाकामालभारिणाम् ।
पयोमुचां ध्वनिर्धीरो दुनोति मम तां प्रियाम् ॥ २४ ॥
आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा ॥ २५ ॥

भामह ने दीपक अलंकार का लक्षण नहीं लिखा; केवल उसके भेदों का निर्देश कर दिया है।

इस तरह आदिदीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक तीन भेद हुए। सच पूछिए तो उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों के दीपक से भामह के दीपक में अन्तर है। भामह का दीपक वस्तुत: क्रियादीपक मात्र है।

२६. अर्थ को प्रकाशित करने के कारण ये (भेद) इसके नाम को सार्थक बनाते हैं। तीन उदाहरणों के द्वारा उसका तीन प्रकार से निर्देश किया जाता है।

एक क्रिया का अनेकत्र अन्वय दीपक अलंकार है। जिस तरह दीपक एक स्थान पर रहकर भी आस-पास की सारी वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी तरह एक बार प्रयुक्त पद जब अनेकत्र अन्वित होकर कई अर्थों को प्रकाशित करता है तब उसे, दीपक का सादृश्य रहने से, दीपक अलंकार कहते हैं। इस शब्द की सार्थकता का यही हेतु है।

आदिदीपक का उदाहरण

२७. मद उत्पन्न करता है प्रेम को, प्रेम मानभंगुर (मान मिटानेवाले) काम को, काम प्रिय-मिलन की उत्कंठा को और उत्कंठा असह्य मानसिक वेदना को।

यहाँ आदि (प्रथम चरण) में प्रयुक्त 'जनयति' क्रिया शेष तीनों वाक्यों में अन्वित होकर उनके अर्थ को प्रकाशित करती है, इसलिए आदिदीपक है।

मानभंगुर—मानभंजनशील, मान मिटानेवाला। काम उद्दीप्त हो जाने पर मान नहीं टिकता। इसीलिए काम को मानभंगुर कहा गया है।

दण्डी या दूसरे आलंकारिकों के अनुसार यह मालादीपक का उदाहरण होगा।

मध्यदीपक

२८. वसन्त माला और सूक्ष्म वस्त्र धारण करनेवाली कामिनियों की शोभा बढ़ा रहा है, हारीत एवं शुक (पक्षियों) की वाणी की तथा पर्वतों की उपत्यकाओं की भी (शोभा बढ़ा रहा है)।

यहाँ 'अलङ्कुरुते' क्रियापद श्लोक के मध्य में प्रयुक्त होकर आगे और पीछे के स्त्रियः, वाचः और उपत्यकाः इन शब्दों से अन्वित हो रहा है, अतः यह मध्यदीपक है।

अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् ।
त्रिभिर्निदर्शनैश्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा ॥ २६ ॥
मदो जनयति प्रीतिं साऽनङ्गम्मानभङ्गुरम् ।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ॥ २७ ॥
मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलङ्कुरुते मधुः ।
हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः ॥ २८ ॥

अन्तदीपक

२९. आषाढ़ झींगुरोंवाले बड़े जंगलों, सूख रहे जलवाली नदियों और प्रवासियों के हृदयों का अन्त करना चाहता है।

यहाँ 'निनीषति' (नेतुम् इच्छति)—पहुँचाना चाहता है—क्रियापद श्लोक के अन्त में आकर 'अरण्यानीः', 'सरितः' और 'चेतांसि' इन तीनों शब्दों से अन्वित हो रहा है अतः अन्तदीपक है।

चीरी—झींगुर; चीरीमतीः—झींगुरोंवाली। अरण्यानीः—बड़े जंगल।

महारण्यमरण्यानी।—अमरकोशः २।४।१

पद्य का भावार्थ यह है कि आषाढ़ महीने में गर्मी चरम सीमा पर रहती है। इसलिए, प्रायः जंगलों में आग लगती है जिससे पशु-पक्षी-कीट-सहित जंगल नष्ट हो जाते हैं। उस दावाग्नि में कर्णकटु ध्वनि करनेवाले झींगुर जल मरते हैं। ग्रीष्म की प्रखरता के कारण नदियों का विरल जल ऐसा मालूम होता है जैसे बिल्कुल ही सूखकर समाप्त हो जायगा। आषाढ़ के बाद अविलम्ब वर्षाऋतु के आगमन की सम्भावना से विरहियों का हृदय भी उद्विग्न होने लगता है। वर्षाऋतु जैसे उद्दीपक समय में प्रेयसी से दूर रहना किसी भी प्रवासी के लिए असह्य होगा।

उपमा का लक्षण

३०. देश, काल, क्रिया आदि के द्वारा (उपमेय से) भिन्न उपमान के साथ उपमेय का गुणलेश से जो साम्य है वह उपमा है।

कारिका का अन्वय—देशकालक्रियादिभिः विरुद्धेन (भिन्नेन) उपमानेन सह उपमेयस्य गुणलेशेन यत् साम्यं सा उपमा।

विरुद्ध का अर्थ यहाँ विरोधी नहीं बल्कि भिन्न है। दो भिन्न वस्तुओं (उपमेय और उपमान) में सादृश्य बताना उपमा अलंकार है। उपमेय से उपमान की भिन्नता कई कारणों—जैसे देश, काल, क्रिया, स्वरूप, स्वभाव इत्यादि—से सम्भव है।

दो वस्तुओं के साम्य को ही उपमा कहते हैं पर दो वस्तुओं में सर्वात्मना साम्य सर्वथा असंभव है; दो वस्तुएँ हर तरह से एक जैसी हों, यह अकल्पनीय है। ऐसी दशा में उपमा की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। इसी का समाधान है 'गुणलेशेन'। उपमेय-उपमान में किसी पहलू से, थोड़ा भी, गुण-साम्य मिल जाय तो उपमा बाधित नहीं

चीरीमतीमरण्यानीः सरितः शुष्यदम्भसः।
प्रवासिनाञ्च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति॥ २९॥
विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥ ३०॥

होगी। मुख और चन्द्र एक-दूसरे से कितने भिन्न हैं किन्तु केवल आह्लादकत्व और प्रकाशकत्व के आधार पर उनमें उपमा हो जाती है।

उपमा के भेद

३१. यथा, इव शब्द भिन्न वस्तुओं में सादृश्य बताते हैं; (जैसे) दूब के टुनगे-सा हरा; श्यामा लता के समान पतली।

व्यतिरेकी—परस्पर भिन्न।

यथा, इव आदि शब्द परस्पर-भिन्न दो वस्तुओं में सादृश्य प्रतिपादित करते हैं इसीलिए उन्हें सादृश्यवाचक कहते हैं।

कहीं सादृश्यवाचक शब्द रहता है और कहीं नहीं रहता है। इस तरह उपमा के दो भेद हो जाते हैं : श्रौती और आर्थी। श्रौती—जहाँ सादृश्यवाचक शब्द का श्रवण (प्रयोग) हो और आर्थी—जहाँ उसका प्रयोग न हो, तात्पर्य कि बिना शब्द-प्रयोग के भी जिसका अर्थ समझ लिया जाय।

पूर्वोक्त उदाहरण श्रौती के हैं, क्योंकि यहाँ इव और यथा इन दो सादृश्यवाचक शब्दों का प्रयोग है।

३२. यथा, इव शब्दों के अभाव में दूसरी (उपमा) समास के द्वारा कही जाती है। जैसे, कमलदलनयनी और चन्द्रमुखी।

प्रश्न है कि यदि सादृश्यवाचक शब्द न रहे तो उपमा की प्रतीति कैसे होगी? उत्तर है—समास के द्वारा। समास में ही सादृश्य का अर्थ निहित रहता है इसलिए वाचक शब्द का प्रयोग न रहने पर भी उपमा के बोध में बाधा नहीं पड़ती। जैसे, कमलदलनयनी का विग्रह करें तो अर्थ होगा कमलदल के **समान** नयनोंवाली; चन्द्रमुखी—चन्द्र के **समान** मुखवाली। यहाँ सादृश्य का अर्थ अंतर्निहित करके ही समास हुआ है।

३३. उसी प्रकार 'वति' के द्वारा भी क्रिया-साम्य बताया जाता है। (जैसे) वह ब्राह्मणवत् पढ़ता है और गुरुवत् हमें शासित करता है।

वति (वत्) तद्धित प्रत्यय है जो तुल्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वति के प्रयोग का निर्देश पाणिनि के दो सूत्रों से होता है :

यथेवशब्दौ सादृश्यमाहतुर्व्यतिरेकिणोः ।
दूर्वाकाण्डमिव श्यामं तन्वी श्यामा लता यथा ॥ ३१ ॥
विना यथेवशब्दाभ्यां समासाभिहिता परा ।
यथा कमलपत्राक्षी, शशाङ्कवदनेति च ॥ ३२ ॥
वतिनापि क्रियासाम्यं तद्वदेवाभिधीयते ।
द्विजातिवदधीतेऽसौ गुरुवच्चानुशास्ति नः ॥ ३३ ॥

तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः ।—५।१।११५

तत्र तस्येव ।—५।१।११६

पहले सूत्र का अर्थ है कि यदि 'तेन तुल्यं' (उससे तुल्य) ऐसा कहकर क्रिया का प्रयोग हो तो संज्ञा से 'वति' प्रत्यय होता है। जैसे, 'द्विजातिना तुल्यम् अधीते' इस वाक्य में तुल्य के बदले वति प्रत्यय करके 'द्विजातिवत् अधीते' कह सकते हैं। यहाँ 'वति' तुल्य का समानार्थक है अतः जो अर्थ तुल्य से प्राप्त होता था वही वति से भी प्राप्त हो रहा है। इसी तरह, गुरुणा तुल्यं शास्ति=गुरुवत् शास्ति।

दूसरे सूत्र में 'तत्र' अव्यय सप्तमी के अर्थ का बोधक है और 'तस्य' षष्ठी के। इसलिए जहाँ किसी सप्तम्यन्त या षष्ठ्यन्त शब्द के साथ 'इव' का प्रयोग हो रहा हो, वहाँ भी 'वति' प्रत्यय होता है। जैसे, स गृहे इव—गृहवत्—वने निवसति (वह घर में जैसा ही वन में रहता है, अर्थात् उसके लिए वन घर जैसा है)। यहाँ सप्तम्यन्त गृह शब्द के साथ इव अर्थ में वति है। षष्ठ्यन्त का उदाहरण— रामस्य इव—रामवत्—कृष्णस्य व्यवहारः (राम के समान कृष्ण का व्यवहार)।

तो तुल्य या इव शब्द के बदले जहाँ वति का प्रयोग हो वहाँ भी उपमा होती है।

इस तरह तीन भेद हुए—

१. जहाँ इव, यथा आदि सादृश्यवाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग हो।
२. जहाँ सादृश्यवाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग न हो, उसका काम समास कर दे।
३. जहाँ सादृश्यवाचक शब्द का काम तद्धित-प्रत्यय 'वति' से निष्पन्न हो जाय।

प्रतिवस्तूपमा

३४. यथा, इव शब्दों का प्रयोग न हो तो भी समान वस्तु के विन्यास (कथन) से गुण-साम्य की प्रतीति के आधार पर प्रतिवस्तूपमा होती है।

उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने प्रतिवस्तूपमा को स्वतंत्र अलंकार माना है किन्तु भामह (और दण्डी भी) उसे उपमा का ही भेद मानते हैं।

उपमा में एक वाक्य रहता है किन्तु प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्य रहते हैं; दोनों में समान वस्तु का निर्देश रहने से सादृश्य की प्रतीति होती है और उस सादृश्य का वाचक कोई शब्द नहीं रहता। तात्पर्य कि इसमें सादृश्य वाच्य न होकर, व्यंग्य होता है।

वस्तु का अर्थ यहाँ वाक्य है। अतः प्रतिवस्तूपमा का अर्थ होगा—जिसमें प्रति-वस्तु (वाक्यार्थ) में उपमा (सादृश्य) हो, अर्थात् जहाँ भिन्न वाक्यों में भी सादृश्य की भावना हो।

समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ॥ ३४ ॥

३५. साधुसाधारणत्व आदि गुण यहाँ भिन्न हैं किन्तु उनके (उपमेय उपमान) के परस्पर भिन्न होने पर भी वह (गुण) साम्य का प्रतिपादन कराता है।

३६. (अपनी) सम्पत्ति का (दूसरे) सत्पुरुषों के साथ उपभोग करनेवाले कितने गुणी हैं? मार्गस्थित कितने वृक्ष हैं जो स्वादिष्ठ, पके फलों से झुके हों?

३५वीं कारिका में इस शंका का समाधान है कि प्रतिवस्तूपमा में जब दो परस्पर-स्वतंत्र वाक्य रहते हैं तब उनमें सादृश्य का प्रतिपादन कैसे होता है।

'मुख चन्द्र-सा सुन्दर है', उपमा के इस उदाहरण में हम देखते हैं कि वाक्य एक ही है और 'सुन्दर' यह साधारण धर्म भी एक ही है जो मुख (उपमेय) और चन्द्र (उपमान) दोनों से अन्वित होकर उनमें सादृश्य का बोध कराता है। किन्तु जहाँ वाक्य एक न होकर, दो हैं और उनके साधारण धर्म भी परस्पर-भिन्न हैं तो वहाँ उनमें सादृश्य की प्रतीति कैसे होगी?

उदाहरण है कि अपनी संपत्ति को दूसरों के साथ बाँटकर भोगनेवाले व्यक्ति विरल हैं। सुस्वादु, पके फलों से झुके, अर्थात् अपने फलों को दूसरों के लिए सुलभ कर देनेवाले वृक्ष भी विरल हैं।

इस उदाहरण में गुणी उपमेय है और वृक्ष उपमान। दोनों के धर्म भिन्न हैं; उपमेय (गुणी) का धर्म है साधुसाधारणश्रीत्व (सज्जनों के साथ संपत्ति का उपभोग) और उपमान (वृक्ष) का धर्म है स्वादुपाकफलानम्रत्व (स्वादुपाकवाले फलों से अच्छी तरह झुक जाना)। दोनों धर्मों का पार्थक्य स्पष्ट है, किन्तु दोनों धर्मों में साम्य झलकता है और वह साम्य है 'दूसरों के लिए त्याग करनेवालों की विरलता'। यह साधारण धर्म, जो वाच्य न होकर व्यंग्य है, दोनों परस्पर-भिन्न वाक्यों में सादृश्य स्थापित करता है। अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

उपमा के अन्य भेदों का खंडन

३७-३८. कुछ महात्माओं ने उस (उपमा) के—निंदा, प्रशंसा, आचिख्यासा—तीन भेद कहे हैं। उसके विषय में यह कहना है कि सामान्य गुणों के निर्देश

साधुसाधारणत्वादिगुणोऽत्र व्यतिरिच्यते ।
स साम्यमापादयति विरोधेऽपि तयोर्यथा ॥ ३५ ॥
कियन्तः सन्ति गुणिनः साधुसाधारणश्रियः ।
स्वादुपाकफलानम्राः कियन्तो वाध्वशाखिनः ॥ ३६ ॥
यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः ।
निन्दाप्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते ॥ ३७ ॥
सामान्यगुणनिर्देशात्त्रयमप्युदितं ननु ।
मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान्विस्तरो मुधा ॥ ३८ ॥

से उन तीनों का भी कथन हो गया। मालोपमा आदि सभी (भेद) महत्त्वपूर्ण नहीं हैं (अतः) उनका विस्तार व्यर्थ है।

भामह से प्राचीनतर आलंकारिकों ने निंदा, प्रशंसा और आचिख्यासा नाम से उपमा के तीन भेद माने हैं। भामह इन्हें नहीं मानते। उनका कहना है कि उपमा के सामान्य गुणों का जो निरूपण हुआ है उसी में ये गतार्थ हो जाते हैं। अतः इनका या मालोपमा आदि भेदों का उल्लेख व्यर्थ का विस्तार होगा। भेद की उपयोगिता तो तब है जब उसमें कोई वैशिष्ट्य हो, वैशिष्ट्य के अभाव में भेदीकरण निष्प्रयोजन है। दण्डी ने इन भेदों का काव्यादर्श में निरूपण किया है अतः यह सन्देह हो सकता है कि भामह उन्हींका खण्डन कर रहे हैं और इस तरह वे दण्डी से उत्तरवर्त्ती हैं। किन्तु, बात ऐसी नहीं है। ये भेद भामह के पहले के आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट थे जिन्हें वैशिष्ट्यहीन समझकर भामह ने छोड़ दिया पर दण्डी ने ग्रहण कर लिया।

दण्डी के अनुसार इन अलंकारों का निरूपण :

१. निन्दोपमा—

पद्मं बहुरजश्चन्द्रः क्षयी ताभ्यां तवाननम् ।
समानमिति सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता ।। —का० द०, २।३०

—कमल में बहुत धूल (पराग) है; चंद्रमा (कृष्णपक्ष में) क्षयशील है। उन दोनों के समान होने पर भी तुम्हारे मुख को घमंड है। यही निन्दोपमा है।

२. प्रशंसोपमा—

ब्रह्मणोऽप्युद्भवः पद्मश्चन्द्रः शम्भुशिरोधृतः ।
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति सा प्रशंसोपमोच्यते ।।—वही, २।३१

—कमल ब्रह्मा का भी उत्पत्ति-स्थान है, चन्द्रमा को शंकर ने भी मस्तक पर रखा है, और वे दोनों तुम्हारे मुख के समान हैं, यह प्रशंसोपमा है।

३. आचिख्यासोपमा—

चन्द्रेण त्वन्मुखं तुल्यमित्याचिख्यासु मे मनः ।
स गुणो वास्तु दोषो वेत्याचिख्यासोपमां विदुः ।।—वही, २।३२

—मेरा मन यह कहना चाहता है कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा के जैसा है, यह कहना अच्छा है या बुरा (मैं नहीं जानता), यही आचिख्यासोपमा है।

आचिख्यासा—कहने की इच्छा।

४ मालोपमा—

पूष्ण्यातप इवाह्नीव पूषा व्योम्नीव वासरः ।
विक्रमस्त्वय्यधाल्लक्ष्मीमिति मालोपमा मता ।।—वही, २।४२

—जैसे प्रकाश ने सूर्य को लक्ष्मी दी, सूर्य ने दिन को लक्ष्मी दी और दिन ने आकाश को लक्ष्मी दी वैसे ही पराक्रम ने तुम्हें लक्ष्मी दी, यह मालोपमा है।

पूषन्—सूर्य (पूष्णि, सप्तमी एकवचन)। अहन्— दिन (अह्नि, सप्तमी एक०)। व्योमन्—आकाश (व्योम्नि, सप्तमी एक.)।

उपमा के दोष

३९-४०. हीनता, असंभव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमान का आधिक्य और उपमान का असादृश्य, उपमा के ये सात दोष मेधावी ने कहे हैं। लक्षण-उदाहरण के साथ उनका यहाँ पृथक्शः वर्णन किया जाता है।

हीनता

४१. वायु से मंद-मंद आंदोलित पीताम्बर पहने, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल-वर्ण शंख धारण किए और शार्ङ्ग (धनुष) लिए वह यदुवीर (कृष्ण) इन्द्रधनुष से युक्त मेघ के समान दीप्त हो रहे थे।

अब्ज का योगरूढ़ अर्थ तो कमल ही प्रसिद्ध है पर यहाँ उसका प्रयोग यौगिक अर्थ में है। जल से उत्पन्न होनेवाली सभी वस्तुओं को अब्ज कह सकते हैं अतः शंख भी अब्ज कहलाएगा, क्योंकि वह भी जल में ही पाया जाता है।

शार्ङ्ग—विष्णु का धनुष।

४२. यहाँ इन्द्रधनुष के ग्रहण से (कृष्ण के) धनुष (शार्ङ्ग) की तुलना हो गयी किन्तु वस्त्र (पीताम्बर) और शंख के (समान गुणवाले पदार्थ का मेघ-पक्ष में) निर्देश नहीं होने से इसे 'हीन' कहेंगे।

यह पूर्वोक्त उदाहरण की संघटना है। कृष्ण के पक्ष में तीन वस्तुएँ हैं: पीताम्बर, शंख और धनुष, जो उपमेय हैं। अतः उनकी तुलना के लिए मेघ (उपमान) के पक्ष में भी वैसी तीन वस्तुएँ होनी चाहिए। तभी यह उपमा पूर्णतः संगत होगी। किन्तु, मेघ-पक्ष में

हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च ॥ ३९ ॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक् ॥ ४० ॥
स मारुताकम्पितपीतवासा
बिभ्रत्सलीलं शशिभासमब्जम्।
यदुप्रवीरः प्रगृहीतशार्ङ्गः
सेन्द्रायुधो मेघ इवाबभासे ॥ ४१ ॥
शक्रचापग्रहादत्र दर्शितं किल कार्मुकम्।
वासःशङ्खानुपादानाद्धीनमित्यभिधीयते ॥ ४२ ॥

केवल इन्द्रधनुष का कथन है। उससे कृष्ण के शार्ङ्ग धनुष की तो तुलना हो जाती है पर पीताम्बर ए ंशंख की तुलना के लिए कुछ नहीं है। अतः वे अतुलित ही रह जाते हैं। तीन में एक की ही उपमा सम्भव हो, दो की नहीं, यह हीनता नहीं तो और क्या है ? यदि पीताम्बर के लिए बिजली और शंख के लिए चन्द्रमा का निर्देश रहता तो यह उपमा पूर्ण हो जाती ।

शक्रचाप—इन्द्रधनुष।

सर्वात्मना सादृश्य असम्भव

४३. किसी भी भाव (वस्तु) का सभी से (किसी दूसरी वस्तु से) सर्वात्मना सादृश्य नहीं होता। सुधी उपमाओं में यथासम्भव सादृश्य का निर्वाह करते हैं।

पूर्वोक्त हीनता दोष के आधार पर एक संदेह उठाकर भामह उसका समाधान करते हैं।

संदेह—किसी भी वस्तु की किसी दूसरी वस्तु से सर्वात्मना समता सम्भव नहीं होती, इसे आप स्वयं ३०वीं कारिका में यह कहकर स्वीकार कर चुके हैं कि उपमा के लिए आंशिक गुण-साम्य पर्याप्त होता है। इसके विपरीत पूर्वोक्त उदाहरण में आप उपमेय-पक्ष की तीन वस्तुओं की उपमा के लिए उपमान-पक्ष में भी तीन वस्तुओं का रहना अनिवार्य मानते हैं और नहीं रहने से उसमें दोष बताते हैं। ये दोनों बातें क्या विरोधी नहीं हैं ? जब उपमा सर्वांशतः सम्भव है ही नहीं तो फिर यहाँ उसकी आशा क्यों करते हैं। तीन में से यदि एक की भी समता मिल गयी तो उपमा हो जानी चाहिये।

समाधान—यह ठीक है कि सर्वांशतः साम्य सम्भव नहीं है पर जहाँतक सम्भव हो उसका निर्वाह करना चाहिए। कम-से-कम, त्रुटि ऐसी न रहे जो अनायास खटकने लगे। दोष वहीं होता है जहाँ कोई चीज खटकने लगती है। जैसा दण्डी ने कहा भी है : कोई दोष तबतक दोष नहीं है जबतक उससे विद्वानों को उद्वेग न हो, वह खटके नहीं—**यत्रोद्वेगो न धीमताम्** ।—काव्यादर्श, २।५१।

पूर्वोक्त कारिका का स्पष्टीकरण

४४. कहाँ पूर्णबिंब चन्द्रमा और कहाँ द्युतिहीन रमणी-मुखमंडल ! (फिर भी) नाममात्र कांति की सामान्यता (उभयनिष्ठता) से ही (मुख की) चन्द्रमा से उपमा दे दी जाती है।

सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित् ।
यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते ॥ ४३ ॥
अखण्डमण्डलः क्वेन्दुः क्व कान्ताननमद्युति ।
यत्किञ्चित्कान्तिसामान्याच्छशिनैवोपमीयते ॥ ४४ ॥

४३वीं कारिका के ही अभिप्राय को स्पष्ट कर रहे हैं। जहाँतक प्रभा का प्रश्न है, चन्द्रमा और मुख में क्या समता है किन्तु चूँकि नाममात्र की कान्ति उभयनिष्ठ है (चन्द्रमा और मुख दोनों में वर्त्तमान है) इसीलिए चन्द्रमा से मुख की उपमा दे दी जाती है।

यत्किञ्चित्—जो कुछ, थोड़ा भी, नाममात्र का भी। अखण्ड-मण्डल— पूर्ण बिम्बवाला। अद्युति—द्युतिहीन।

४५. फिर, बड़ों के काव्यों को लक्षण के अनुसार संघटित करना चाहिए। (किञ्च महात्मनां काव्यानि लक्षणेन नेयानि।) (अथवा ऐसे भी अर्थ कर सकते हैं):

बड़ों के लक्षण (प्रयोग) के अनुसार काव्यों को ले चलना चाहिए (महात्मनां लक्षणेन काव्यानि नेयानि)। पूर्ण सादृश्य कहीं देखा गया है, जैसा राजमित्र में कहा है।

इस कारिका में भामह यह कहते हैं कि काव्यशास्त्र के कठोर नियमों से किसी काव्य के गुण-दोष की परीक्षा नहीं करनी चाहिये बल्कि उसके लिए महाकवियों के प्रयोगों को ही अधिक प्रामाणिक मानना चाहिए, क्योंकि नियम उन कवियों की रचनाओं के आधार पर ही निर्मित होते हैं। इसलिए यदि कहीं आपाततः दोष दिखाई दे तो भरसक यही चेष्टा करनी चाहिये कि नियम से उसकी संगति हो जाय।

कारिका का अर्थ ऐसे भी सम्भव है कि यदि कहीं काव्यशास्त्र के नियम से कवि के प्रयोग में अन्तर दिखे तो वहाँ कवि के प्रयोग को ही प्रमाण मानकर उसीका अनुगमन करना चाहिये। किन्तु, ऐसा करते समय जिस किसी कवि की रचना को प्रमाण नहीं मान लेंगे। इसलिए **महात्मनाम्** कहा— कवि असाधारण हो।

उपमा का प्रसंग फिर उठाते हैं। पूर्ण सादृश्य कहीं देखा गया है? अतः उसके लिए परेशान होने की जरूरत नहीं।

'राजमित्र' से एक उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि करते हैं।

४६. सूर्य की किरणों से बन्द नेत्रोंवाले तथा कमलों की वायु से मदरहित (अतः) दीन मयूरों के मुखों में केका (ध्वनि) वैसे ही नष्ट हो गयी (छिप गयी) जैसे

किञ्च काव्यानि नेयानि लक्षणेन महात्मनाम्।
दृष्टं वा सर्वसारूप्यं राजमित्रे यथोदितम्॥ ४५ ॥

सूर्यांशुसम्मीलितलोचनेषु
दीनेषु पद्मानिलनिर्मदेषु।
साध्व्यः स्वगेहेष्विव भर्तृहीनाः
केका विनेशुः शिखिनां मुखेषु ॥ ४६ ॥

पतिविहीन पतिव्रता स्त्रियाँ अपने घरों में ही छिपी रहती हैं। (जिस प्रकार पतिविहीन पतिव्रता स्त्रियाँ घर से बाहर नहीं निकलतीं, उसी प्रकार शरद् ऋतु में मयूरों की वाणी उनके मुख से बाहर नहीं निकलती।)

यह शरद् ऋतु का वर्णन है। वर्षा ऋतु मोरों के लिए आनन्दजनक है अतः उसमें मोर बोलते हैं। दूसरी बात यह कि वर्षा ऋतु में सूर्य छिपा रहता है और कमल नष्ट हो जाते हैं (जलाशयों में जल का आधिक्य हो जाने से)। इसके विपरीत शरद् ऋतु में सूर्य की किरणें तीखी हो जाती हैं, कमल खिलने लगते हैं और मोरों का बोलना सुनायी नहीं देता। इसीको कवि एक उपमा की सहायता से व्यक्त करता है।

इस उपमा में मयूरों की केका-ध्वनि उपमेय और पतिव्रता स्त्रियाँ उपमान हैं। यहाँ हीनता की शंका ऐसे है कि उपमेय-पक्ष में तीन धर्म निर्दिष्ट हैं : १. सूर्यांशुसम्मीलितलोचनेषु, २. पद्मानिलनिर्मदेषु और ३. दीनेषु, जो 'मुखेषु' के विशेषण हैं। किन्तु उपमान-पक्ष में 'स्वगेहेषु' में वैसे धर्मों का निर्देश नहीं है। अतः हीनता दोष मानना चाहिए।

उत्तर है कि दोष नहीं मानेंगे, क्योंकि यहाँ उपमेय में धर्म का आधिक्य और उपमान में धर्म की हीनता नहीं है।

असम्भव दोष

४७. परिवेष से घिरे हुए मध्याह्न सूर्य से जलती हुई जलधाराओं के समान मानों धनुर्मण्डल के मध्यवर्त्ती उसके मुख से दीप्त बाण निकल रहे थे। यह शाखावर्धन का है।

४८. जलती हुई जलधाराएँ सूर्य से कैसे गिर सकती हैं? युक्ति (तर्क) से असम्भव होने के कारण यह असम्भव कहलाता है।

आकाश जब हल्के मेघों से आच्छन्न रहता है तब कभी-कभी सूर्य और चन्द्रमा की चारों ओर एक रेखा-सी खिंची दिखाई देती है, उसे ही परिवेष कहते हैं।

कोई राजा अतिशय क्षिप्रता से बाण चला रहा है अतः प्रत्यंचा अनवरत खिंची रहने से धनुष मण्डलाकार (परिवेष के जैसा) हो गया है। वैसे धनुष के मध्य में स्थित

निष्पेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः
शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा
दिनार्द्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥ ४७ ॥—शाखावर्धनस्य

कथं पातोऽम्बुधाराणां ज्वलन्तीनां विवस्वतः ।
असम्भवादयं युक्त्या तेनासम्भव उच्यते ॥ ४८ ॥

राजा का मुख परिवेषवर्त्ती सूर्य-सा दीखता है और धनुष से छूटते हुए बाण ऐसे लगते हैं मानों राजा के मुख से ही छूट रहे हों।

कवि ने बाणों की उपमा संघटित करने के लिए सूर्य से गिरती हुई जलती जल-धाराओं का उल्लेख किया है। चूँकि सूर्य से जलधारा का गिरना सम्भव नहीं अतः यहाँ असम्भव दोष है।

४९. कौन बुद्धिमान असम्भव वस्तु से उपमा देगा? भला कौन आग से चन्द्रमा की तुलना करेगा?

वादी की आपत्ति है कि कोई भी व्यक्ति, जिसका होश-हवास दुरुस्त होगा, असम्भव वस्तु से उपमा नहीं देगा; फिर कोई कवि ऐसा क्यों करने लगा? अतः आप जिसे असम्भव दोष कहते हैं वह अमान्य है।

यदि कहें कि जहाँ अर्थ में अतिशय का योग होगा, अर्थात् उक्ति में अतिरंजना रहेगी वहाँ असम्भव दोष मानेंगे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अतिशय के योग के बिना अलंकार की सत्ता ही अकल्पनीय है, कोई भी ऐसा अलंकार नहीं है जिसमें अतिरंजना का पुट न हो। आपने स्वयं अतिशय-योग में अलंकारत्व स्वीकार किया है (दे० आगे २।८१-८२)। इसीको स्पष्ट करते हैं:

५०. जिसका अर्थ अतिशय-युक्त हो उसे असम्भव कैसे मानेंगे? यह अतिशयार्थत्व तो उपमा, उत्प्रेक्षा में अभिलषित (ही) है। जैसे:

जिस अतिशय के आधार पर आप असम्भव दोष मानते हैं उसके बिना उपमा अथवा उत्प्रेक्षा खड़ी ही नहीं हो सकती। अतः जहाँ अतिशय पाया जाय वहाँ असम्भव दोष हो, ऐसा नहीं कह सकते।

५१. यह हाथी पुंजीभूत अधंकार के जैसा शोभता है। शरद् ऋतु के स्वच्छ जल से युक्त सरोवर मानों (पृथ्वी पर) गिरा हुआ आकाश का टुकड़ा है।

इन दोनों उदाहरणों में असम्भव दोष माना जाना चाहिए, कारण कि न तो अन्धकार का पुंजीभाव सम्भव है, न आकाश-खंड का भूमि पर गिरना, किन्तु दोष के बदले ऐसे स्थलों में अलंकारत्व ही मानते हैं।

तत्रासम्भविनार्थेन कः कुर्यादुपमां कृती।
को नाम वह्निनौपम्यं कुर्वीत शशलक्ष्मणः॥ ४९॥
यस्यातिशयवानर्थः कथं सोऽसम्भवो मतः।
इष्टं चातिशयार्थत्वमुपमोत्प्रेक्षयोर्यथा॥ ५०॥
पुञ्जीभूतमिव ध्वान्तमेष भाति मतङ्गजः।
सरः शरत्प्रसन्नाम्भो नभःखण्डमिवोज्झितम्॥ ५१॥

भामह ने जो प्रश्न उठाया उसे समाधान किये बिना ही छोड़ दिया। प्रश्न था कि अतिशय का योग रहने पर ही अलंकार भी होता है और असम्भव दोष भी। तब कहाँ अलंकार मानेंगे और कहाँ दोष? दोनों के बीच विभाजक रेखा क्या होगी?

लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय

५२. अब लिंगभेद, वचनभेद और विपर्यय कहे जाते हैं। वह (विपर्यय) हीन और अधिक होने से दो प्रकार का होता है। तीनों इस प्रकार हैं:

उपमा के तीन दोषों का इस कारिका में उल्लेख है। लिंगभेद वहाँ होता है जहाँ उपमेय और उपमान के लिंग भिन्न हों, जैसे उपमेय पुँल्लिंग हो और उपमान स्त्रीलिंग। ऐसे ही जहाँ उपमेय और उपमान के वचन में भिन्नता हो वहाँ वचनभेद दोष माना जाता है। विपर्यय दो प्रकार का होता है—हीन-विपर्यय और अधिक-विपर्यय। यदि उपमान उपमेय से अत्यन्त हीन हो तो हीन-विपर्यय और अत्यन्त अधिक हो तो अधिक-विपर्यय।

लिंगभेद और वचनभेद का उदाहरण

५३. तुम अनन्यहृदय नारियों के लिए भी वैसे ही अनवगाह्य (अप्रवेश्य) हो, जैसे पार करने की इच्छा रखनेवाले के लिए विषम पत्थरों से बाधित लहरोंवाली नदी।

यह किसी राजा की स्तुति है। राजन्! तुम चरित्र के इतने पक्के हो कि अनन्य-हृदय नारियाँ भी सब प्रयत्न करके थक जाती हैं पर तुम्हारे अन्तःकरण में कोई विकार नहीं उत्पन्न कर पातीं। उनका प्रयास वैसे ही निष्फल हो जाता है जैसे कोई विषम-प्रखर प्रवाहवाली नदी को पार करना चाहे और न कर सके।

इस उदाहरण में लिंगभेद और वचनभेद दोनों दोष हैं। यहाँ तुम (राजा) उपमेय है और उसका उपमान है नदी (आपगा)। अतः पुँल्लिग की स्त्रीलिंग से उपमा देने से लिंगभेद हुआ। इसी तरह 'नारीणाम्' उपमेय का उपमान है 'उत्तितीर्षतः' (पार करने की इच्छा रखनेवाला)। यहाँ 'नारीणाम्' बहुवचन और 'उत्तितीर्षतः' (शतृ-प्रत्यान्त उत्-पूर्वक सन्नन्त तृ धातु की षष्ठी का) एकवचन है; अतः बहुवचन उपमेय का एकवचन उपमान वचनभेद का उदाहरण है। इसमें लिंगभेद भी है—'नारीणाम्' स्त्रीलिंग और 'उत्तितीर्षतः' पुँल्लिग।

अथ लिङ्गवचोभेदावुच्येते सविपर्ययौ।
हीनाधिकत्वात्स द्वेधा त्रयमप्युच्यते यथा॥ ५२॥
अविगाह्योऽसि नारीणामनन्यमनसामपि।
विषमोपलभिन्नोर्मिरापगेवोत्तितीर्षतः॥ ५३॥

हीन-विपर्यय

५४. कभी आगे बढ़कर, कभी पीछे मुड़कर प्रहार करते हुए तुमने शत्रु-सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया, जैसे कुत्ता मृग-समूह को (छिन्न-भिन्न कर देता है)।

यहाँ राजा की उपमा कुत्ते से दी गयी है जो हीनविपर्यय का स्पष्ट उदाहरण है।

अधिक-विपर्यय

५५. पद्मासन पर आसीन यह चक्रवाक युगारंभ में सृष्टि करना चाहते हुए भगवान् ब्रह्मा के समान शोभ रहा है।

कहाँ तो चक्रवाक जैसा नगण्य पक्षी और कहाँ ब्रह्मा जैसा सर्वशक्तिमान् देवता! यहाँ उपमेय (चक्रवाक) की अपेक्षा उपमान (ब्रह्मा) अत्यन्त उत्कृष्ट हैं अतः यह अधिक-विपर्यय का उदाहरण है।

शंका

५६. किन्तु पाणि (हाथ) की उपमा विकसित कमल से और अधर की उपमा विद्रुमखण्ड की प्रभा तथा बिम्बफल से तो दी जाती है।

वादी की आपत्ति है कि यदि आप उपमेय और उपमान के लिंग भिन्न होने पर लिंगभेद नामक दोष मानते हैं तो बहुत सारी प्रचलित उपमाओं में भी यह दोष आ जायगा। जैसे, पाणि या कर की उपमा कमल से दी जाती है; (संस्कृत व्याकरण के अनुसार) पाणि या कर पुँल्लिंग है और कमल नपुंसक। इस तरह यहाँ भी उपमेय (पाणि) और उपमान (कमल) में लिंग-भेद होने से दोष मानना चाहिए। ऐसे ही अधर की उपमा विद्रुम खंड (मूँगे के टुकड़े) की प्रभा से या बिम्बफल से दी जाती है; इनमें अधर पुँल्लिंग और विद्रुमखंडभास् स्त्रीलिंग तथा बिम्बफल नपुंसक लिंग है। तब यहाँ भी पूर्ववत् लिंगभेद दोष मानिये। किन्तु, इनका अतिप्रचलित प्रयोग इस बात का द्योतक है कि इनमें किसी ने दोष नहीं माना। फिर, आपका लिंगभेद दोष क्या निरवकाश नहीं हो जाता?

क्वचिदग्रे प्रसरता क्वचिदापत्य निघ्नता।
शुनेव सारङ्गकुलं त्वया भिन्नं द्विषां बलम्। ५४ ॥
अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते।
युगादौ भगवान्ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः॥ ५५ ॥
ननूपमीयते पाणिः कमलेन विकासिना।
अधरो विद्रुमच्छेदभासा बिम्बफलेन च ॥ ५६ ॥

समाधान

५७. (इस शंका का) उत्तर है: यद्यपि यह (इस तरह का लिंगभेद) प्रायः होता है किन्तु यह नियम (विधि) स्त्रीलिंग-पुँल्लिग के लिए अभिमत नहीं है (अर्थात् उपमेय-उपमान में स्त्रीलिंग-पुँल्लिग का भेद नहीं होना चाहिए; नपुंसक का हो सकता है)। कुछ लोग तीनों (लिंगों) का भेद अभिमत नहीं मानते (उनके अनुसार लिंगभेद होना ही नहीं चाहिए)।

भामह का कहना है कि उपमेय-उपमान में लिंगभेद नहीं हो, यह नियम स्त्रीलिंग और पुँल्लिग के लिए ही लागू है, अर्थात् उपमेय और उपमान में कोई पुँल्लिग और कोई स्त्रीलिंग नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह अनायास खटक जाता है। कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि पुँल्लिग-स्त्रीलिंग का ही क्यों, किसी तरह का भी लिंगभेद नहीं होना चाहिये; तात्पर्य कि पुँल्लिग की उपमा जब दी जाय तो पुँल्लिग से, स्त्रीलिंग की स्त्रीलिंग से और नपुंसक की नपुंसक से। इस दृष्टि से कर-कमल आदि प्रयोग भी सदोष तो हैं ही किन्तु परम्परा-गृहीत होने से मान्य हो गये हैं।

उपमानाधिकत्व दोष

५८. पीताम्बर पहने और शाङ्‌र्ग लिए कृष्ण का शरीर सुन्दर भी लग रहा था और भयंकर भी, जिस प्रकार रात को चंद्रमा से संयुक्त होता हुआ, विद्युत् और इंद्रधनुष से युक्त मेघ (सुंदर भी दीखता है और भयंकर भी)।

—यह रामशर्मा का है।

यहाँ उपमेय है कृष्ण और उपमान है मेघ। कृष्ण के दो ही विशेषणों—पीताम्बर और शाङ्‌र्ग (धनुष)—का उल्लेख है किन्तु उपमान मेघ के तीन विशेषणों—विद्युत्, इन्द्रधनुष तथा चन्द्रमा—का उल्लेख है। विद्युत् से पीताम्बर की तथा इन्द्रधनुष से शाङ्‌र्ग की उपमा तो बैठ जाती है पर चन्द्रमा से उपमित होने योग्य कृष्ण के पक्ष में किसी वस्तु का निर्देश नहीं है। इसीलिए यहाँ उपमानाधिकत्व दोष है। यदि कृष्ण के पक्ष में शंख का निर्देश होता तो उसकी उपमा चन्द्रमा से संघटित हो जाती और तब यह दोष नहीं होता।

उच्यते काममस्तीदं किन्तु स्त्रीपुंसयोरयम्।
विधिर्नाभिमतोऽन्यैस्तु त्रयाणामपि नेष्यते॥ ५७॥

स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो
मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः।
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां
संसृज्यमानः शशिनेव मेघः॥ ५८॥ —रामशर्मणः

सच पूछें तो यहाँ उपमानाधिकत्व से भी अधिक खटकनेवाला दोष है असम्भव। रात में भी कहीं इन्द्रधनुष होता है ?

शाङ्र्ग—कृष्ण का धनुष। शतह्रदा—विद्युत्। इन्द्रायुध—इन्द्रधनुष।

५६. चंद्रमा के ग्रहण से यहाँ (उपमान का) आधिक्य है, क्योंकि उस (के तुल्य धर्म) का उपमेय में निर्देश नहीं हुआ है; यहाँ शंख का निर्देश होना चाहिए था।

पूर्वोक्त उदाहरण में उपमानाधिकत्व दोष कैसे है, यह प्रदर्शित कर रहे हैं। कृष्ण के शरीर की सुन्दरता का कारण पीताम्बरत्व और भयंकरता का कारण शाङ्र्ग-धारण निर्दिष्ट हैं। इनके स्थानापन्न उपमान में विद्युत् और इन्द्रधनुष हैं पर मेघ का चन्द्रमा से संयुक्त होना जो कहा गया है उसका प्रतिरूप उपमेय में कुछ नहीं है। अतः उपमान का अधिकत्व स्पष्ट है।

यदि कहें कि उपमान-पक्ष में चन्द्रमा का निदश शब्द है तो क्या हुआ, उपमेय-पक्ष में अनिर्दिष्ट शंख का आक्षेप कर लेंगे और इस प्रकार दोष का परिहार हो जायगा। किन्तु, यह समाधान ठीक नहीं है। उपमा वाच्य अलंकार है अतः उसमें गम्यता का अवकाश नहीं है। किसी धर्म को एक जगह वाच्य और दूसरी जगह व्यंग्य बना देना युक्ति युक्त नहीं है।

६०. (उपमा में) सर्वात्मना सारूप्य नहीं (सम्भव है)। यह विषय विस्तार से कहा जा चुका है। यहाँ कवि के अभिप्राय से शंख की प्रतीति न होनी चाहिए।

उपमा में सर्वात्मना सादृश्य सम्भव नहीं होता यह अच्छी तरह निरूपित हो चुका है। उस आधार पर यहाँ भी कहा जा सकता है कि उपमान-पक्ष में तीन धर्मों का और उपमेय-पक्ष में दो धर्मों का उल्लेख होने से भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि सबका सबसे सादृश्य सम्भव कहाँ है। या, यह भी तो हो सकता है कि स्वयं कवि को ही शंख की प्रतीति कराना अभिमत न हो। इसलिए उसने उसका निर्देश नहीं किया।

यदि यह मान लें कि कवि ने जान-बूझकर शंख का कथन नहीं किया है तो उपमानाधिकत्व दोष भले न हो पर 'शशिना संसृज्यमानः' इस विशेषण का अपुष्टार्थत्व कैसे टलेगा ? परिणामतः या तो यहाँ उपमानाधिकत्व दोष मानना होगा या अपुष्टार्थत्व। जलज—शंख। योगरूढ़ अर्थ न लेकर, यौगिक अर्थ ही लेना होगा।

इस कारिका से ऐसा लगता है कि भामह उपमानाधिकत्व दोष को क्षम्य मानते हैं।

शशिनो ग्रहणादेतदाधिक्यं किल न ह्ययम्।
निर्दिष्ट उपमेयेऽर्थे वाच्यो वा जलजोऽत्र तु ॥ ५६ ॥
न सर्वसारूप्यमिति विस्तरेणोदितो विधिः।
अभिप्रायात्कवेर्नात्र विधेया जलजे मतिः ॥ ६० ॥

६१. उपमानों का न्याय्य आधिक्य आधिक्य नहीं होता; जैसे, यश उज्ज्वलता में गोदुग्ध, कुन्द पुष्प और बलराम के समान है।

उपमान का आधिक्य दो प्रकार से सम्भव है—एक तो सादृश्य-प्रतिपादक विशेषण के रूप में (जैसे ५८वीं कारिका में है) और दूसरा, उपमान की अनेकता में। यह उदाहरण उपमान की अनेकता का है। यश (उपमेय) का गोदुग्ध आदि तीन उपमानों से सादृश्य प्रतिपादित हुआ है। भामह का कथन है कि ऐसे स्थलों पर उपमानाधिकत्व दोष नहीं होता।

६२. सादृश्य तो एक ही उपमान से प्रतिपादित हो जाता है। कथित अर्थ (वस्तु) का पुनः प्रयोग अर्थ-गौरव को पुष्ट नहीं करता।

उपर्युक्त उदाहरण में शंका है कि उपमा की निष्पत्ति के लिए एक ही उपमान पर्याप्त है, फिर अनेक उपमानों की क्या आवश्यकता, क्योंकि उनसे प्रतिपादन तो एक ही धर्म का होता है; जैसे, ऊपर के उदाहरण में तीनों उपमान उज्ज्वलता के ही प्रतिपादक हैं। ऐसी स्थिति में या तो अपुष्टार्थत्व दोष आ जायगा या पौनरुक्त्य। अतः, उपमान की अनेकता निरर्थक है।

भामह ने इस शंका का समाधान नहीं किया। समाधान में कहा जा सकता है कि अनेक उपमान स्थूलतः एक धर्म के प्रतिपादक होकर भी छाया में परस्पर भिन्न होते हैं और एक ही धर्म के विभिन्न पक्षों को उद्भासित करते हैं। जैसे, पूर्व कारिका में सामान्यतः यश की उज्ज्वलता ही प्रतिपाद्य है किन्तु गोदुग्ध उसके माधुर्य को कुंद सुगंधि को और बलराम अपराजेयता को प्रतिप्रादित करते हैं। अतः, दोष का अवकाश नहीं है।

असदृशता

६३. उस वन में अपनी वनिताओं (हथिनियों) का अनुगमन करनेवाले और झरते हुए दानजल से गीले कपोलोंवाले मतंगज तथा विविधवर्ण-युक्त पुच्छों से शोभित मयूर आकाश में निर्मल ग्रहों के समान चमक रहे थे।

६४. यदि ग्रहों से गजों आदि की तुलना की जाती है तो क्या उनकी (ग्रहों की) उन जैसी (गजों या मयूरों जैसा) कांति या उग्रता है ?

आधिक्यमुपमानानां न्याय्यं नाधिकता भवेत्।
गोक्षीरकुन्दहलिनां विशुद्धया सदृशं यशः॥ ६१॥
एतेनैवोपमानेन ननु सादृश्यमुच्यते।
उक्तार्थस्य प्रयोगो हि गुरुमर्थं न पुष्यति॥ ६२॥
वनेऽथ तस्मिन्वनितानुयायिनः प्रवृत्तदानार्द्रकटा मतङ्गजाः।
विचित्रबर्हाभरणाश्च बर्हिणो बभुर्दिवीवामलविग्रहा ग्रहाः॥ ६३॥
ग्रहैरपि गजादीनां यदि सादृश्यमुच्यते।
तथापि तेषां तैरस्ति कान्तिर्वाप्युग्रतापि वा॥ ६४॥

हों की गजों या मयूरों से किसी प्रकार की समता नहीं है। ग्रह न तो गजों के समान उग्र (भयंकर) हैं, न मयूरों के समान कान्त (सुन्दर)। दोनों में समता का कोई आधार ही नहीं है, फिर तुलना कैसे हो सकती है ! अतः ऐसे स्थलों में असदृशता दोष मानेंगे। किसी वस्तु को किसी वस्तु के समान कह देने से ही उपमा नहीं हो जाती, उनमें किसी तरह का सादृश्य रहना अनिवार्य है। जैसे, कोई कहे कि उसका मुँह रेल की पटरी के जैसा है तो यहाँ उपमा नहीं होगी, क्योंकि मुँह और रेल की पटरी में कोई समता नहीं है।

६५. इस प्रकार उपमा के भेद कहे गये, दूसरे फिर कहे जायँगे। अब उपमा आदि अलंकारों से भिन्न अन्य अलंकार कहे जा रहे हैं।

६ अलंकार

६६. दूसरे ६ अलंकार हैं, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति।

६७. आक्षेप दो प्रकार का माना गया है। वक्ष्यमाणविषय और उक्त-विषय। शेष (अलंकार) एकरूप हैं (उनका एक ही प्रकार होता है)। (उन्हें) क्रम से कहा जायगा।

आक्षेप

६८. विशेषता की विवक्षा से इष्ट (वस्तु) का निषेध-सा करना आक्षेप अलंकार है। विद्वान् उसके दो भेद कहते हैं। जैसे :

अभिधित्सा—विवक्षा—कहने की इच्छा।

किसी कथन में विशेषता लाने की इच्छा से उसका निषेध-सा करना आक्षेप अलंकार का लक्षण है। वक्ता अपनी बात कहना तो चाहता ही है पर उसे कहने के पहले या बाद में निषेध कर देने से कथन के प्रति श्रोता की अधिक अभिरुचि या उत्सुकता जाग्रत् हो जाती है; जैसे, 'उनके सम्बन्ध में बातें तो बहुत सारी हैं पर छोड़िए, उन्हें सुनकर क्या कीजिएगा ?' ऐसा कह देने पर सुनने की इच्छा और प्रबल हो जाती है।

यदि कोई बात कहने के पहले ही उसका निषेध कर दिया जाय तो उसे वक्ष्यमाण-विषय (जिसका विषय कहा जानेवाला है) कहते हैं; और बात कहकर उसका निषेध किया जाय तो उक्तविषय आक्षेप होता है।

इत्युक्त उपमाभेदो वक्ष्यते चापरः पुनः।
उपमादेरलङ्काराद्विशेषोऽन्योऽभिधीयते ॥ ६५ ॥
आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासोतिशयोक्ती च षडलङ्कृतयोऽपराः ॥ ६६ ॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयस्तत्राक्षेपो द्विधा मतः।
एकरूपतया शेषा निर्देक्ष्यन्ते यथाक्रमम् ॥ ६७ ॥
प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा ॥ ६८ ॥

उदाहरण : वक्ष्यमाणविषय आक्षेप

६९. यदि मैं क्षणभर भी तुम्हें नहीं देखूँ तो उत्सुकता से...., अथवा इसे छोड़ दो; इससे अधिक दूसरा अप्रिय तुमसे कहकर क्या होगा ?

वियोग सहन करने में असमर्थ कोई नायिका प्रवास के लिए प्रस्तुत अपने नायक से कह रही है। 'तुम्हारे चले जाने पर मैं जीवित नहीं रहूँगी', उसे यही कहना अभिमत है किन्तु इसे न कहकर बीच में ही बात अपूर्ण छोड़ देती है। वचन की इस अपूर्णता से ही उसमें विशेषता आ जाती है। प्रवास का निषेध अधिक जोरदार हो जाता है। जो कहना था उसे बिना कहे ही छोड़ देने से यह वक्ष्यमाणविषय आक्षेप है।

उक्तविषय आक्षेप

७० अपने पराक्रम से पृथ्वी को आक्रान्त करने पर भी तुममें दर्प नहीं है, यह आश्चर्य है। कोई सेतु क्या समुद्र में विकार उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है ?

यह वस्तुतः आक्षेप का उदाहरण न होकर दृष्टान्त का उदाहरण हो गया है।

अर्थान्तरन्यास

७१. कथित अर्थ के अतिरिक्त दूसरे (अथ) का उपन्यास (वर्णन), जो पूर्व अर्थ का अनुगत (संबद्ध) हो, अर्थान्तरन्यास समझना चाहिए।

एक बात कहकर उसके समर्थन के लिए जब दूसरी बात कही जाती है तब अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

भामह ने अर्थान्तरन्यास में सामान्य-विशेष भाव का निर्देश नहीं किया है किन्तु उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने स्पष्टतः कहा है कि सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन हो तो अर्थान्तरन्यास होता है।

कारिका का अन्वय : उदिताद् (कथिताद्) ऋते अन्यस्य अर्थस्य यत् उपन्यसनं स पूर्वार्थानुगतः अर्थान्तरन्यासः ज्ञेयः, यथा।

यदि दूसरा उपन्यस्त वाक्य पूर्ववाक्य से सम्बद्ध न होकर सर्वथा निरपेक्ष हो जाय तो यर्थ हो जायगा। इसलिए इस अलंकार के दोनों वाक्यों में समर्थ्य-समर्थक भाव माना जाता है।

उदाहरण

७२. शत्रुओं की भयंकर सेना में प्रवेश करना चाहते हुए तुम्हें हिचक नहीं होती। मनुष्यों का अंतःकरण ही आगामी मंगल या अमंगल को सूचित कर देता है।

अहं त्वा यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण तु ॥ ६९ ॥
स्वविक्रमाक्रान्तभुवश्चित्रं यन्न तवोद्धतिः।
को वा सेतुरलं सिन्धोर्विकारकरणं प्रति ॥ ७० ॥
उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदिताहते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥ ७१ ॥
परानीकानि भीमानि विविक्षोर्न तव व्यथा।
साधु वासाधु वाऽऽगामि पुंसामात्मैव शंसति ॥ ७२ ॥

किसी राजा की स्तुति है। तुम बिना किसी हिचक के शत्रुओं की सेना में प्रवेश कर जाते हो, क्योंकि अपनी विजय में तुम्हारी पूर्ण आस्था रहती है। इस उदाहरण में दूसरा वाक्य प्रथम वाक्य का समर्थन कर रहा है। इसलिए यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

७३. 'हि' शब्द के प्रयोग से यह अर्थान्तरन्यास सर्वथा स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि कारणभूत अर्थ का निर्देश कथित अर्थ को सिद्ध कर देता है।

'हि' कारण-निर्देश का सूचक अव्यय है जिसका अर्थ है 'क्योंकि'। 'क्योंकि' के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि आगे कोई कारण कहा जायगा। अर्थान्तरन्यास में एक वाक्य दूसरे वाक्य का समर्थक होता है; उस समर्थकता को व्यक्त करने के लिए 'हि' का प्रयोग होता है जो कारण के रूप में उपन्यस्त वाक्य को सामने लाकर पूर्ववाक्य की सिद्धि (समर्थन) करा देता है।

अर्थान्तरन्यास के लिए 'हि' का रहना कोई अनिवार्य नहीं है। वह रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता है। उसके नहीं रहने का उदाहरण पूर्वोक्त ७२वीं कारिका है। रहने का उदाहरण अगली कारिका में है।

७४. निकट आए भारी मेघों का भी पर्वत वहन करते हैं। प्रेम से आनेवाले महानों को महान् ही धारण करते हैं।

यहाँ 'हि' के प्रयोग से अर्थान्तरन्यास है। दूसरा वाक्य प्रथम वाक्य का समर्थन कर रहा है।

व्यतिरेक

७५. उपमानयुक्त अर्थ (उपमेय) का (उपमान की तुलना में उपमेय का) जो वैशिष्ट्य-प्रदर्शन है उसे व्यतिरेक कहते हैं, क्योंकि इसमें विशेषता का प्रतिपादन रहता है। जैसे :

अर्थ—वस्तु—उपमेय।

उपमान की अपेक्षा उपमेय का वैशिष्ट्य बताना व्यतिरेक अलंकार है। व्यतिरेक का शाब्दिक अर्थ है आधिक्य। चूँकि इसमें उपमेय का वैशिष्ट्य, अर्थात् आधिक्य बताया जाता है इसीलिए इसका नाम व्यतिरेक है। कारिका के पूर्वार्द्ध में अलंकार का लक्षण है और उत्तरार्द्ध में व्यतिरेक नामकरण का कारण-निर्देश।

हि शब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये।
अयमर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यज्यते यथा॥ ७३ ॥
वहन्ति गिरयो मेघानभ्युपेतान्गुरूनपि।
गरीयानेव हि गुरून्बिभर्त्ति प्रणयागतान्॥ ७४ ॥
उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा॥ ७५ ॥

उदाहरण

७६. (घनी) पलकों से युक्त तुम्हारे अरुणवर्ण नेत्र उजले भी हैं और काले भी, किन्तु श्वेतकमल तथा नीलकमल या तो बिल्कुल उजले होते हैं या बिल्कुल काले ।

श्वेतकमल केवल उजले होते हैं, नीलकमल केवल काले, किन्तु तुम्हारे नेत्रों में लालिमा, कालिमा और श्वेतिमा तीनों का योग है अतः ये श्वेतकमल या नीलकमल से बढ़कर हैं । कमल (उपमान) की अपेक्षा नेत्र (उपमेय) का वैशिष्ट्य-कथन होने से व्यतिरेक अलंकार है ।

विभावना

७७. (कारणभूत) क्रिया का निषेध होने पर (भी) उसके फल की जो विभावना (कल्पना) है उसे ही विभावना अलंकार कहते हैं, यदि उसका समाधान सुलभ हो ।

विभावना में 'भावना' का अर्थ है कल्पना और 'वि' का विशिष्ट, अर्थात् विशिष्ट कल्पना । इसमें कारण का अभाव बताकर भी कार्य की उत्पत्ति बतायी जाती है । सामान्य और प्रसिद्ध कल्पना तो यही है कि कारण के रहने पर ही कार्य उत्पन्न होता है, पर कारण के न रहने पर भी कार्य का उत्पन्न होना विशिष्ट कल्पना द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है अतः इसका नाम विभावना उचित ही है ।

कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति सर्वथा अस्वाभाविक तथा असंभव है अतः कारण हो ही नहीं, यह अकल्पनीय है । तो यहाँ कारण के अभाव का अर्थ है प्रसिद्ध या स्पष्ट कारण का अभाव, न कि कारण-मात्र का अभाव । इसीको कारिका में कहा है कि यदि कारण के न रहने का समाधान सुलभ हो तभी यहाँ अलंकार होगा । यदि वैसा न हो तो मन कारण-कार्य की उलझन में ही फँसा रह जायगा, उसे चमत्कार कहाँ से प्राप्त होगा ?

उदाहरण

७८. मयूर बिना मदपान के भी मत्त हैं; दिशाएँ अनुत्कंठित होने पर भी आकुल हैं; कदम्ब (चंदन से) अलिप्त होकर भी सुरभित हैं; जल बिना गिरे भी मलिन है ।

सितासिते पक्ष्मवती नेत्रे ते ताम्रराजिनी ।
एकान्तशुभ्रश्यामे तु पुण्डरीकासितोत्पले ॥ ७६ ॥
क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ॥ ७७ ॥
अपीतमत्ताः शिखिनो दिशोऽनुत्कण्ठिताकुलाः ।
नीपोऽविलिप्तसुरभिरभ्रष्टकलुषं जलम् ॥ ७८ ॥

मदपान मत्तता का, उत्कंठा आकुलता का, चंदन-लेप सुरभितता का और पतन मलिनता का कारण है किन्तु सर्वत्र उसका निषेध है। तत्तत् कारणों के अभाव में तत्तत् कार्य हो रहे हैं पर ये प्रसिद्ध कारण हैं। गौण कारण वर्षा ऋतु तो है ही जिसका प्रत्येक कार्य से सम्बन्ध है। वर्षा के कारण ही मयूर मत्त हैं, दिशाएँ भरी हैं (आकुलता में श्लेष है), कदम्ब सुरभित हैं और जल मलिन है। वर्षा के द्वारा कारण के अभाव का सुगमता से समाधान हो जाता है।

समासोक्ति

७९. जहाँ (किसी एक वस्तु के) कहने पर उसके समान विशेषणवाले दूसरे अर्थ की प्रतीति हो तो उसे अर्थ की संक्षिप्तता के कारण समासोक्ति कहते हैं।

वर्णन एक वस्तु का हो और विशेषणों की समानता के कारण प्रतीति दूसरे अर्थ की भी हो जाय तो वही समासोक्ति है। समास, अर्थात् संक्षेप से उक्ति। एक के वर्णन से दो का बोध संक्षेप नहीं तो और क्या कहा जायगा ?

भामह ने केवल विशेषण-साम्य में समासोक्ति माना है किन्तु बाद में चलकर विशेषण-साम्य के अतिरिक्त कार्य-साम्य और लिंग-साम्य भी समासोक्ति के आधार बन गये :

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥ —साहित्यदर्पण, परि० १०

समासोक्ति की गणना व्यंग्य अलंकारों में है। इस दृष्टि से भामह का 'गम्यते' प्रयोग ध्यातव्य है।

उदाहरण

८०. स्कंधयुक्त, ऋजु, व्यालरहित, दृढ़, अनेक महान् फलोंवाला यह वृक्ष ऊँचा हुआ, पर पवन ने इसे गिरा दिया।

वृक्ष के इस प्रस्तुत वर्णन से दुर्भाग्य-पीड़ित किसी महापुरुष की प्रतीति होती है अतः समासोक्ति है।

इस उदाहरण में विशेषण ऐसे प्रयुक्त हैं जो वृक्ष और महापुरुष दोनों में लग रहे हैं। इन शब्दों के अर्थ वृक्ष और महापुरुष के पक्ष में क्रमशः यों हैं : स्कन्धवान्—अच्छे कंधे से युक्त (दोनों पक्षों में); ऋजु—सीधा, सरल स्वभाव; अव्याल—सर्परहित, दुर्जनरहित;

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥ ७९ ॥

स्कन्धवानृजुरव्यालः स्थिरोऽनेकमहाफलः ।
जातस्तरुरयञ्चोच्चैः पातितश्च नभस्वता ॥ ८० ॥

स्थिर—दृढ़, अचंचल; अनेकमहाफल—अनेक महान् फलों से युक्त, अनेक महान् फलों (अभिलाषाओं) को पूरा करनेवाला; उच्चैः—लम्बा, विशालहृदय ।

अतिशयोक्ति

८१. किसी कारणवश लोकोत्तर अर्थ का बोधक जो वचन है उसे अतिशयोक्ति अलंकार मानते हैं। जैसे :

लोकातिक्रांत—लोक से अतिक्रांत, अर्थात् जो लोक में न पाया जाय—अलौकिक । वैसे अर्थ का अनुभव करानेवाला वचन अतिशयोक्ति है । ऐसे वचन का प्रयोग करेंगे ही क्यों ? तो उसका समाधान है निमित्ततः—किसी कारणवश, कोई विशिष्ट अर्थ कहने की इच्छा से ।

भामह ने अतिशयोक्ति के केवल एक भेद का उल्लेख किया है किंतु आगे चलकर उसके ६ भेद हो गये ।

उदाहरण

८२. अपने पुष्पों की छवि का हरण करनेवाली ज्योत्स्ना से तिरोहित सप्तच्छद (छतिवन) के वृक्ष भौरों के गंजन से (ही) अनुमित हो सके।

छतिवन के फूल उजले होते हैं, चाँदनी भी उजली होती है। छतिवन के पेड़ चाँदनी से एकाकार होकर दिखायी नहीं पड़ रहे हैं। तब उनपर जो भौंरे बैठे हैं उनके गुंजार से ही मालूम होता है कि ये छतिवन के पेड़ हैं। छतिवन के पेड़ तिरोहित नहीं हैं, फिर भी उनका वैसा वर्णन है। इस लोकोत्तरता (असाधारण उज्ज्वलता) के वर्णन से यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

यह उदाहरण अतिशयोक्ति से अधिक उन्मीलित में घटित है ।

दूसरा उदाहरण

८३. यदि सर्पों के केंचुल के समान जल से भी ढीला केंचुल निकले तो वही जल में (क्रीड़ा करती हुई) नारियों का श्वेत अंशुक (सूक्ष्म वस्त्र) बन सकता है।

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥ ८१ ॥
स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः ।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥ ८२ ॥
अपां यदि त्वक्शिथिला च्युता स्यात्फणिनामिव ।
तदा शुक्लांशुकानि स्युरङ्गेष्वम्भसि योषिताम् ॥ ८३ ॥

जल-क्रीड़ा करती हुई रमणियों का वर्णन है। यदि कल्पना करें कि जल से भी वैसा ही केंचुल निकलेगा जैसा सर्पों से निकलता है तो वह अवश्य अत्यंत महीन और उजला होगा। जो रमणियाँ जल-क्रीड़ा कर रही हैं उनका वस्त्र बहुत महीन और उजला है। अतः, उन वस्त्रों का साम्य जल के उस कल्पित केंचुल से दिया जा रहा है किन्तु जल का केंचुल क्या सम्भव है? अतः इस लोकोत्तरता के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है।

८४ पूर्वोक्त प्रकार से सभी अतिशयोक्तियाँ गुणातिशय के योग से संपन्न होती हैं। शास्त्र के अनुसार उनकी कल्पना करनी चाहिये।

पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों को देखने से स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति-मात्र में किसी-न-किसी गुण का अतिशय वर्णित रहता है। (पहले उदाहरण में चाँदनी का अतिशय है और दूसरे में वस्त्र की सूक्ष्मता का।) इनके आधार पर अतिशयोक्ति के अन्य रूपों की भी कल्पना की जा सकती है जैसी कि उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने भेदकातिशयोक्ति, अभेदकातिशयोक्ति, संबंधातिशयोक्ति, असंबंधातिशयोक्ति इत्यादि के नाम से की है।

अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति का संबंध

८५. यह अतिशयोक्ति ही समग्र वक्रोक्ति (अलंकार-प्रपंच) है। इससे अर्थ में रमणीयता आती है। कवि को इसके लिए प्रयास करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना कौन अलंकार संभव है?

यहाँ वक्रोक्ति अलंकार मात्र का उपलक्षण है। सभी अलंकारों की जड़ में अतिशयोक्ति वर्त्तमान रहती है; उसीसे वाणी में चमत्कार आता है, अलंकार निष्पन्न होता है। स्वभावतः कवियों को उसपर अधिक ध्यान देना चाहिये।

अतिशयोक्ति का महत्त्व आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार किया है:

प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति।—ध्वन्यालोक, पृ० २५९

विशेष अलंकार का निरूपण करते हुए मम्मट ने भी इसे दुहराया है:

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्।—काव्यप्रकाश, पृ० ७४३

सभी ऐसे स्थलों में अतिशयोक्ति ही प्राण बनकर रहती है, क्योंकि उसके अभाव में अलंकारता आ नहीं पाती।

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्॥ ८४॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ ८५॥

हेतु, सूक्ष्म, लेश का खण्डन

८६. वक्रोक्ति का अभाव रहने से हेतु, सूक्ष्म और लेश को (मैंने) अलंकार नहीं माना।

भामह के पूर्ववर्त्ती आलंकारिकों ने इन तीन अलंकारों को स्वीकार किया है, उनका अनुसरण करते हुए दण्डी ने भी इन्हें स्वीकार किया है :

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।—काव्यादर्श, २।२३५

किन्तु, भामह इनका खण्डन कर देते हैं, क्योंकि उनके अनुसार इनमें वक्रोक्ति नहीं रहती और वक्रोक्ति के अभाव में अलंकारता सम्भव ही नहीं है।

वक्रोक्तिहीन उक्ति—वार्त्ता

८७. सूर्य अस्त हो गया; चन्द्रमा चमक रहा है; पक्षी घोंसलों में जा रहे हैं—ऐसी भी उक्ति क्या काव्य है ? इसे वार्त्ता कहते हैं।

भामह वार्त्ता शब्द का प्रयोग चमत्कारहीन उक्ति के लिए करते हैं जिसमें वक्रोक्ति नहीं है। काव्यत्व के लिए वक्रोक्ति का होना अनिवार्य है।

दण्डी ने उपर्युक्त वाक्यों में काव्यत्व माना है :

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ।।—२।२४४

—'सूर्य अस्त हो गया' आदि वाक्य भी समय की अवस्था का बोध कराने से सुन्दर माने जायँगे और यहाँ हेतु अलंकार होगा।

यथासंख्य और उत्प्रेक्षा

८८. यथासंख्य और उत्प्रेक्षा दो अलंकार और हैं। मेधावी (यथासंख्य को ही) संख्यान कहते हैं; उत्प्रेक्षा का (उन्होंने) कहीं उल्लेख नहीं किया।

मेधावी काव्यशास्त्र के मान्य आचार्य मालूम होते हैं। उपमा के सात दोषों का निर्देश भामह ने उन्हीं के आधार पर किया है। इन दोनों अलंकारों के सम्बन्ध में मेधावी जैसे आलंकारिक के मत का उल्लेख उचित मानकर भामह ने यहाँ उसकी चर्चा की है।

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥ ८६ ॥
गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ॥ ८७ ॥
यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः ।
संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ॥ ८८ ॥

दूसरे जिसे यथासंख्य कहते हैं उसे ही मेधावी ने संख्यान कहा है। यों दोनों में यथासंख्य नाम अधिक अन्वर्थ है, क्योंकि संख्यान का अर्थ केवल गणना है पर यथासंख्य का 'क्रमशः गणना', जो इस अलंकार का मुख्य आधार है। संख्यान की अपेक्षा 'यथासंख्य' शब्द अधिक परिमार्जित होने से सम्भवतः बाद का है।

उत्प्रेक्षा का किसी कारण मेधावी ने उल्लेख नहीं किया।

इस कारिका के पाठ-भेद को लेकर विभिन्न सम्पादकों ने विभिन्न अर्थ किये हैं। पाठ-भेद है :

संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ।

जिसका अर्थ होगा कि मेधावी ने कहीं उत्प्रेक्षा को संख्यान कहा है।

यह पाठ और तदनुकूल यह अर्थ संगत नहीं दीखता। पहली बात तो यह कि आलंकारिक परम्परा में किसीने भी उत्प्रेक्षा को 'संख्यान' नहीं कहा है। बल्कि दण्डी ने यथासंख्य के दो नाम और दिये हैं—संख्यान तथा क्रम।

उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम् ।
यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि ।।—काव्यादर्श, २।२७३

निश्चय ही संख्यान और क्रम ये दोनों नाम प्राचीन हैं तभी 'यथासंख्य' इस नये नाम के साथ दण्डी ने उनका उल्लेख किया है। कौन जाने, यह लिखते समय उनका ध्यान मेधावी पर ही रहा हो। इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि संख्यान यथासंख्य का ही पर्याय है।

दूसरी बात यह कि अर्थ की दृष्टि से संख्यान और उत्प्रेक्षा में कोई मेल भी नहीं है। इसलिए 'मेधावि' के ह्रस्व के कारण जो यह अर्थ-भेद उपस्थित होता है वह किसी लिपिक का प्रमाद है, और कुछ नहीं।

यथासंख्य

८९. भिन्न धर्मवाले अनेक निर्दिष्ट अर्थों का अनुनिर्देश यथासंख्य अलंकार कहलाता है।

यथासंख्य का अर्थ है संख्या (क्रम) के अनुसार। इसमें एक क्रम से कुछ पदार्थ पहले कहे जाते हैं, फिर उसी क्रम से दूसरे पदार्थों से उनका अन्वय किया जाता है।

उदाहरण

९०. तुमने कमल, चन्द्रमा, भ्रमर, गज, कोकिल और मयूर को मुख, कांति नेत्र, गति, वाणी तथा केशकलाप से जीत लिया है।

भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते ।। ८९ ।।
पद्मेन्दुभृङ्गमातङ्गपुंस्कोकिलकलापिनः ।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिवाणीवालैस्त्वया जिताः ।। ९० ।।

यहाँ क्रमशः कमल का मुख से, चन्द्रमा का कान्ति से, भ्रमर का नेत्र से, गज का गति से, कोकिल का वाणी से और मयूर का केशकलाप से अन्वय हो रहा है। यह अन्वय क्रमानुसार होने से यथासंख्य अलंकार है।

उत्प्रेक्षा

६१. जिसमें सादृश्य विवक्षित न हो किन्तु उपमा का कुछ पुट हो, (उपमेय में वैसे) गुण या क्रिया का योग बताया जाय जो (वस्तुतः) उसमें हो नहीं और जो अतिशय से अन्वित हो उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं।

भामह के अनुसार उत्प्रेक्षा में चार बातें अपेक्षित हैं : १. सादृश्य की विवक्षा न हो, अर्थात् कवि का ध्यान सादृश्य पर न होकर सम्भावना पर हो; २. फिर भी उपमा का पुट हो, क्योंकि उपमा के समान ही उत्प्रेक्षा में भी इवादि शब्दों का प्रयोग रहता है; ३. उपमेय में जिस गुण या क्रिया का रहना बताया जाय वह वस्तुतः उसमें रहता हो नहीं, तात्पर्य कि उसकी सम्भावना की जाय; ४. साथ ही उसमें अतिशयोक्ति वर्त्तमान हो; जो गुण या क्रिया किसी वस्तु में है नहीं उसका बिना अतिशयोक्ति के उसमें रहना कैसे बताया जा सकता है ?

भामह ने उत्प्रेक्षा के तत्त्वों का अच्छा निर्देश किया है पर लक्षण लद्धड़ हो गया है। बाद के आलंकारिकों ने एक 'सम्भावना' शब्द में इन सभी तत्त्वों का समाहार कर दिया है।

उदाहरण

६२. किंशुक के फूलों के बहाने वृक्ष पर चढ़कर अनल चारों ओर यह देख रहा है कि विशाल वन (कितना) जला है और (कितना) नहीं जला है।

वसंत ऋतु का वर्णन है। किंशुक के फूल लाल होते हैं। उनमें अनल (अग्नि) की संभावना की गयी है—ये किंशुक के फूल क्या खिले हैं, मानों वन में आग लगी है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा है।

वस्तुतः यह शुद्ध उत्प्रेक्षा का उदाहरण न होकर सापह्नवोत्प्रेक्षा का उदाहरण है, क्योंकि 'किंशुकव्यपदेशेन' में व्यपदेश शब्द का प्रयोग कैतवापह्नुति का साधक हो जाता है।

अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ ९१ ॥

किंशुकव्यपदेशेन तरुमारुह्य सर्वतः।
दग्धादग्धमरण्यान्याः पश्यतीव विभावसुः ॥ ९२ ॥

स्वभावोक्ति

९३. स्वभावोक्ति (भी) अलंकार है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। (किसी) वस्तु का उसी अवस्था में रहना स्वभाव कहा गया है।

'कुछ लोग कहते हैं', यह कहने का अभिप्राय है कि स्वयं भामह को स्वभावोक्ति की अलंकारता अभिमत नहीं है। जो वस्तु जैसी हो उसका ठीक वैसा ही वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार है।

उदाहरण

९४. चिल्लाते हुए, कुछ को पुकारते हुए, गोलाकार चारों ओर दौड़ते हुए और रोते हुए बच्चा अनाज (के खेत) में गयी हुई गायों को हाँक रहा है।

यहाँ गायों को हाँकने का बड़ा स्वाभाविक वर्णन है अतः स्वभावोक्ति है। जिसने गायों को हाँकनेवाले बच्चे की परेशानी देखी होगी वह इस कविता का स्वारस्य अच्छी तरह समझ सकता है।

उपसंहार

९५. यह (अलंकारों का निरूपण) संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है, विस्तार केवल बुद्धि को थकानेवाला सिद्ध होगा। जिन (अलंकारों) का संग्रह नहीं हुआ है उनकी भी इस (उपर्युक्त) पद्धति से कल्पना कर लेनी चाहिए।

अलंकारों का भेदोपभेदबहुल विस्तार भामह को इष्ट नहीं है। इसके ठीक प्रतिकूल दंडी भेदोपभेद के अतिशय आग्रही हैं।

९६. अपने द्वारा रचे हुए उदाहरणों से ही मैंने इन अलंकारों का निरूपण किया है। इसके बाद वाणी के और भी अलंकारों का अनेक प्रकार से वर्णन किया जायगा।

अलंकार को दो परिच्छेदों में बाँटने का कोई विशष कारण नहीं दीखता।

●

स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥ ९३ ॥
आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन्मण्डलै रुदन्।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः॥ ९४ ॥
समासेनोदितमिदं धीखेदायैव विस्तरः।
असङ्गृहीतमप्यन्यदभ्यूह्यमनया दिशा॥ ९५ ॥
स्वयं कृतैरेव निदर्शनैरियं
मया प्रक्लृप्ता खलु वागलङ्कृतिः।
अतः परं चारुरनेकधापरो
गिरामलङ्कारविधिर्विधास्यते ॥ ९६ ॥

तृतीय परिच्छेद

अन्य २३ अलंकार

१–४. (१) प्रेयस् , (२) रसवत्, (३) ऊर्जस्वी, (४) पर्यायोक्त, (५) समाहित, (६) उदात्त—दो प्रकार का, (७) श्लिष्ट—तीन भेदों के साथ, (८) अपह्नुति, (९) विशेषोक्ति, (१०) विरोध, (११) तुल्ययोगिता, (१२) अप्रस्तुतप्रशंसा, (१३) व्याजस्तुति, (१४) निदर्शना, (१५) उपमारूपक, (१६) उपमेयोपमा, (१७) सहोक्ति, (१८) परिवृत्ति, (१९) ससन्देह, (२०) अनन्वय, (२१) उत्प्रेक्षावयव—कुछ के अनुसार, (२२) संसृष्टि—कुछ दूसरों के अनुसार, (२३) भाविकत्व अलंकार भी सुधियों ने कहे हैं ।

प्रेयस्

५. घर आये हुए कृष्ण से विदुर ने (जो) कहा वह प्रेयस् है; जैसे, हे गोविन्द ! आज तुम्हारे घर आने से मुझे जो आनन्द हुआ वह समय पाकर फिर तुम्हारे ही आने से होगा ।

प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम् ।
द्विप्रकारमुदात्तं च भेदैः श्लिष्टमपि त्रिभिः ।। १ ।।
अपह्नुतिं विशेषोक्तिं विरोधं तुल्ययोगिताम् ।
अप्रस्तुतप्रशंसां च व्याजस्तुतिनिदर्शने ।। २ ।।
उपमारूपकं चान्यदुपमेयोपमामपि ।
सहोक्तिपरिवृत्ती च ससन्देहमनन्वयम् ।। ३ ।।
उत्प्रेक्षावयवं चान्ये संसृष्टिमपि चापरे ।
भाविकत्वं च निजगुरलङ्कारं सुमेधसः ।। ४ ।।
प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा ।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ।। ५ ।।

भामह ने अनेक अलंकारों का लक्षण नहीं लिखा है। प्रेयस् का भी उदाहरण ही है, लक्षण नहीं। यही अवस्था ऊर्जस्वी और समाहित की भी है। दंडी के अनुसार इनके लक्षण हैं—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्॥—काव्यादर्श २।२७५

—प्रियतर कथन को प्रेयस्, रस से रमणीय कथन को रसवत् और गर्वद्योतक कथन को ऊर्जस्वी कहते हैं। ये तीनों उत्कर्ष (चमत्कार) से युक्त हैं। प्रेयस् शब्द का अर्थ है अतिशय प्रिय। उपर्युक्त उदाहरण में विदुर का वचन अतिशय प्रिय होने से प्रेयस् अलंकार है।

रसवत्

६. जिसमें शृंगार आदि रस स्पष्टता से दिखाये गये हों वह रसवत् अलंकार है। धर्मसस्करिणी अतिरोहित (प्रकट) हो देवी के रूप में आयी।

रसवत् का अर्थ है रसयुक्त। भामह ने रस की भी गणना अलंकार में ही की है। अलंकारवादियों के अनुसार काव्य की शोभा के आधायक जितने भी तत्त्व हैं वे सभी अलंकार हैं। अलंकार का यह प्रयोग व्यापक अर्थ में है और वह सौन्दर्य का पर्याय है, जैसा कि वामन ने कहा है— **सौन्दर्यमलङ्कारः।—का० सू० १।१।२**

उदाहरण

उदाहरण का अर्थ पूर्ण स्पष्ट नहीं है किन्तु जैसा ताताचार्य ने अनुमान किया है, इस प्रसंग में कुमारसंभव की कथा का वह अंश स्मर्त्तव्य है जहाँ छद्मवेशधारी शंकर पार्वती के समक्ष अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करते हैं। शंकर को पति-रूप में पाने के लिए पार्वती तपस्या कर रही हैं। उनकी परीक्षा लेने के लिए संन्यासी का वेश धारण कर शंकर आते हैं और विभिन्न प्रकार से शंकर की आलोचना-निन्दा करते हैं। जब शंकर की निन्दा असह्य हो जाती है तब पार्वती वहाँ से खीझकर चल पड़ती हैं। उसी समय शंकर अपने वास्तविक रूप में खड़े हो जाते हैं। उन्हें देखकर पार्वती ठिठक जाती हैं। कालिदास ने इसका वर्णन ऐसे किया है :

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी
चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः
समाललम्बे वृषराजकेतनः॥

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा।
देवी समागमद्धर्मस्करिण्यतिरोहिता॥ ६॥

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिः
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।।

—कुमारसम्भव : पंचम सर्ग, श्लो० ८४-८५

—अथवा मैं यहाँ से चली ही जाती हूँ, यह कहकर पार्वती चल पड़ीं। उस हड़बड़ी में उनके स्तन पर का वल्कल फट गया। ज्यों ही उन्होंने चलने को पैर उठाया कि शंकर ने अपना सच्चा रूप धारण कर मुस्कराते हुए उनका हाथ पकड़ लिया।

शंकर को सहसा देखकर पार्वती का शरीर काँपने लगा, पसीना हो आया और आगे चलने को उठा हुआ पैर जहाँ-का-तहाँ रह गया। धारा के बीच में पड़े पहाड़ से अवरुद्ध नदी के समान पार्वती न चल सकीं, न रुक सकीं।

छद्मवेश छोड़कर इस प्रकार सहसा शंकर के प्रकट हो जाने से पार्वती का उनसे साक्षात्कार अत्यन्त रस-समन्वित है, अतः यहाँ रसवत् अलंकार हुआ।

मस्करी—संन्यासी।

ताताचार्य ने 'छद्मस्करिण्यतिरोहिते' पाठ की कल्पना की है जो अधिक सार्थक है। अन्वय होगा : छद्ममस्करिणि अतिरोहिते देवी समागमत्।

ऊर्जस्वी

७. ऊर्जस्वी, जैसे : कर्ण के द्वारा अर्जुन पर (चलाया गया बाण जब) लौट आया तब (उसने यह कहते हुए सर्प को हटा दिया कि) हे शल्य ! कर्ण क्या दो बार लक्ष्य-सन्धान करता है ?

ऊर्जस्वी का भी लक्षण नहीं है। दंडी के अनुसार गर्व व्यक्त करनेवाली (रूढाहंकार) उक्ति को ऊर्जस्वी कहेंगे। इस उदाहरण में वीर कर्ण की गर्वोक्ति है कि मैं दो बार निशाना नहीं मारता। अतः ऊर्जस्वी अलंकार है।

उदाहरण का प्रसंग महाभारत के अनुसार इस प्रकार है :

एक बार अर्जुन को मारने की इच्छा से कर्ण ने बाण चलाया। उस बाण में एक सर्प घुस गया जिसकी माता को खाण्डव-दाह के समय अर्जुन ने मारा था और जो अर्जुन से बदला चुकाने की प्रतीक्षा में था। कृष्ण ने अर्जुन की रक्षा कर ली, इसलिए वह बाण अर्जुन का कुछ न कर सका; सर्प भी हताश लौट आया। तब उसने कर्ण से कहा कि इस बार तो मैं विफल हो गया किन्तु यदि आप दुबारे बाण चलाएँ तो मैं अवश्य अर्जुन का काम तमाम कर दूँगा। शल्य ने भी सर्प के इस कथन का समर्थन किया। इसी पर कर्ण की यह अहंकार-युक्त उक्ति है कि मैं दो बार बाण नहीं चलाता।

ऊर्जस्वि कर्णेन यथा 'पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्ये' त्यहिरपाकृतः ।। ७ ।।

पर्यायोक्त

८-९. जो (वक्तव्य) दूसरे प्रकार से कहा जाता है (उसे) पर्यायोक्त कहते हैं। जैसा 'रत्नाहरण' में शिशुपाल से कृष्ण ने कहा—घर में चाहे मार्ग में, हम वह अन्न नहीं खाते जिसे वेदज्ञ (ब्राह्मण) न खा लें।—और यह (उन्होंने) विषदान के निवारण के लिए (कहा)।

वक्तव्य को सीधे न कहकर प्रकारान्तर से (घुमा-फिराकर) कहना पर्यायोक्त है।

'रत्नाहरण' कोई प्राचीन काव्यग्रन्थ रहा होगा जो आज उपलब्ध नहीं है।

शिशुपाल कृष्ण से भोजन करने का आग्रह करता है; कृष्ण उसी पर उत्तर देते हैं कि हम घर में या बाहर—कहीं भी क्यों न रहें—वह अन्न नहीं खाते जिसे ब्राह्मणों ने नहीं खाया हो। ऐसा उन्होंने इस आशंका से कहा कि कहीं शिशुपाल भोजन में विष न मिला दे। उस भोजन को ब्राह्मण खायेंगे यह सोचकर वह ब्रह्म-हत्या के पाप से डरकर विष नहीं मिलाएगा।

तो यहाँ कृष्ण को अभिमत है भोजन से इनकार करना किन्तु उसे सीधे न कहकर प्रकारान्तर से कहा है अतः पर्यायोक्त हुआ।

समाहित

१०. समाहित, जैसे 'राजमित्र' में परशुराम को प्रसन्न करने के लिए जाती हुई क्षत्रिय-स्त्रियों के सम्मुख नारद प्रकट हो गये।

यहाँ भी लक्षण नहीं है।

भामह या दंडी ने जिसे समाहित कहा है वह उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों का 'समाधि' अलंकार है। दंडी के अनुसार समाहित का लक्षण है :

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्॥ —काव्यादर्श : २।२९८

—कोई किसी काम को करने चले और भाग्यवश उसी समय उस (कार्य) के अन्य साधक जुट जायँ तो उसे समाहित कहते हैं।

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा॥ ८॥
गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
न भुञ्जते द्विजास्तच्च रसदाननिवृत्तये॥ ९॥
समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम्।
रामप्रसक्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः॥ १०॥

क्षत्रिय-कुल के उन्मूलनार्थ बद्ध-परिकर परशुराम को प्रसन्न करने के लिए क्षत्रिय-ललनाएँ जा रही हैं पर उन्हें चिन्ता है कि परशुराम कैसे प्रसन्न होंगे। इसी बीच नारद उनके सामने प्रकट होकर परशुराम को प्रसन्न करने की युक्ति बताते हैं जिससे वे चिन्तामुक्त हो जाती हैं। नारद के दैवप्रेरित, अप्रत्याशित आगमन से क्षत्रिय-ललनाओं का कार्य सुकर हो गया अतः यहाँ 'समाहित' अलंकार है।

विश्वनाथ के अनुसार 'समाहित' तब होता है जब भाव-प्रशम रस या भाव का अंग हो जाय।—सा० द० १०।१२४

उदात्त

११. उदात्त : पिता का वचन पालन करते हुए राम प्राप्त राज्य को छोड़कर वन चले गये।

भामह ने उदात्त का भी लक्षण नहीं दिया। दंडी ने इसका लक्षण ऐसे दिया है :

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः ।।—काव्यादर्श : २।३००

—आशय अथवा वैभव का अनुपम महत्त्व वर्णित हो तो उसे विद्वान् उदात्त नामक अलंकार कहते हैं।

इस प्रकार उदात्त के दो आधार हुए : आशय-महत्त्व और विभूति-महत्त्व। आशय-महत्त्व में चरित्र की उदात्तता रहती है और विभूति-महत्त्व में संपत्ति की प्रचुरता।

उपर्युक्त उदाहरण आशय-महत्त्व से निष्पन्न उदात्त अलंकार का है। राम शक्ति-सम्पन्न थे, राज्य पर उनका उचित अधिकार भी था, फिर भी पिता की आज्ञा के अनुरोध से उन्होंने उसे ठुकरा दिया और जंगल की राह पकड़ ली। यह आशय (भावना) की उदारता से ही सभव हुआ।

१२. इसी (उदात्त) को दूसरे दूसरी व्याख्या के द्वारा अन्य प्रकार से कहते हैं : जो नाना रत्नादि से युक्त हो वह उदात्त कहलाता है।

यह उदात्त का दूसरा प्रकार है जिसमें विभूति-महत्त्व है। नाना रत्न आदि निरतिशय सम्पत्तिशालिता से ही सम्भव हो सकते हैं।

उदात्तं शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपवनं राज्यं यथा वनमुपागमत् ।। ११ ।।

एतदेवापरेऽन्येन व्याख्यानेनान्यथा विदुः।
नानारत्नादियुक्तं यत्तत्किलोदात्तमुच्यते ।। १२ ।।

उदाहरण

१३. जैसे, रात को नंद के क्रीड़ागृह में जाकर चाणक्य ने जल के कणों से जाना कि उसमें चंद्रकांत मणियाँ जड़ी हुई हैं।

जब रात को चाणक्य नंद के क्रीड़ागृह में पहुँचा तब देखा कि चारों ओर जल के कण छाये हुए हैं जो वहाँ जड़ी चंद्रकांत मणियों से निकले थे। कहा जाता है कि चंद्रकांत मणि पर चंद्रमा की किरणें पड़ने से उससे जलकण निकलते हैं और सूर्यकांत मणि पर सूर्य की किरणें पड़ने से उससे आग निकलती है।

नंद की संपत्ति का निरतिशय वर्णन रहने से यहाँ उदात्त अलंकार है।

श्लिष्ट

१४. यदि गुण, क्रिया और नाम (संज्ञा) से उपमान के साथ उपमेय का तादात्म्य (अभेद) बताया जाय तो उसे श्लिष्ट अलंकार कहते हैं।

दूसरे आलंकारिकों ने 'श्लेष' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु भामह को 'श्लिष्ट' अभिमत है।

इस अलंकार में उपमेय-संबंधी गुण, क्रिया, नाम का उपमान-संबंधी गुण, क्रिया, नाम से अभेद-प्रतिपादन किया जाता है।

श्लिष्ट के लक्षण में शंका और उसका समाधान

१५. यह लक्षण (तो) रूपक अलंकार में भी घटित होता है; ठीक है, किंतु यहाँ (श्लिष्ट में) उपमान और उपमेय का एक साथ प्रयोग अभिमत है।

वादी की आपत्ति है कि आप जो लक्षण श्लिष्ट का दे रहे हैं वह रूपक में भा घटित होता है—उपमेय-उपमान का अभेद-प्रतिपादन ही तो रूपक है। फिर, श्लिष्ट और रूपक में अंतर क्या रहा ?

'अत्र तु' के बादवाले अंश से इस शंका का समाधान है। जहाँ रूपक में उपमेय और उपमान के धर्म भिन्न शब्द से कहे जाते हैं वहाँ श्लिष्ट में एक शब्द से। अर्थात्, रूपक में शब्दों की अनेकार्थता विवक्षित नहीं रहती पर श्लिष्ट में वह अनिवार्य है।

चाणक्यो नक्तमुपयान्नन्दक्रीडागृहं यथा।
शशिकान्तोपलच्छन्नं विवेद पयसां कणैः ॥ १३ ॥

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते ॥ १४ ॥

लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु।
इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ॥ १५ ॥

१६. 'शीकर-रूपी मदजल बरसानेवाले मेघरूपी विशाल गज';—यहाँ मेघ और गज का समान भाव से (अलग-अलग शब्दों द्वारा) निर्देश किया जा रहा है।

रूपक अलंकार के प्रसंग में जो उदाहरण दिया है उसे प्रस्तुत कर ग्रंथकार यह दिखाने की चेष्टा करते हैं कि रूपक से श्लिष्ट का क्या अन्तर है। उपर्युक्त उदाहरण में मेघ उपमेय है और गज उपमान; उनके धर्म पृथक्-पृथक् भिन्न शब्दों द्वारा निर्दिष्ट हैं : उपमेय (मेघ) का धर्म है शीकर (फुहारें) बरसाना और उपमान (गज) का मदजल बरसाना। जिस प्रकार उपमेय और उपमान का दो भिन्न शब्दों द्वारा निर्देश है उसी प्रकार उनके धर्मों का भी दो भिन्न शब्दों द्वारा निदश है। श्लिष्ट में धर्मों का निर्देश दो शब्दों से न होकर एक ही शब्द से होता है। इस तरह इन अलंकारों का अंतर स्पष्ट है।

श्लिष्ट के भेद

१७. शब्द और अर्थ में श्लेष रहने से ही इस (श्लिष्ट) का (रूपक से) भेद होता है। सहोक्ति, उपमा और हेतु का निर्देश होने से वह (श्लिष्ट) तीन प्रकार का है।

पूर्व कारिका में रूपक का स्वरूप स्पष्ट कर इस कारिका में श्लिष्ट का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके भेदों का उल्लेख करते हैं।

रूपक में शब्द अनेकार्थक नहीं रहते, श्लिष्ट में रहते हैं। इन अलंकारों का यही भेदक तत्त्व है।

श्लेष वस्तुतः शब्द में ही रहता है अतः अर्थ में उसकी सत्ता बताना दूरारूढ ही है, फिर भी भामह ने वैसा किया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि भामह के समय में श्लेष की शब्दनिष्ठता निश्चित नहीं थी। भामह के बाद कई शताब्दियों तक यह विवाद चलता रहा कि श्लेष को शब्दालंकार मानना उचित है या अर्थालंकार। इस स्थिति में यदि भामह श्लेष को उभय (शब्द-अर्थ)-निष्ठ मानते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं।

कारिका के पूर्वार्द्ध का अन्वय ऐसे होगा : अर्थवचसोः च श्लेषात् एव अस्य (श्लिष्टस्य) भिदा (भेदः) क्रियते। यहाँ वचस् से अभिप्राय शब्द से है।

कहीं तो श्लिष्ट के मूल में सहोक्ति हो सकती है, कहीं उपमा और कहीं हेतु। इस प्रकार उसके तीन भेद हैं।

शीकराम्भोमदसृजस्तुङ्गा जलददन्तिनः।
इत्यत्र मेघकरिणां निर्देशः क्रियते समम्॥ १६॥
श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च क्रियते भिदा।
तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधं यथा॥ १७॥

सहोक्तियुक्त श्लिष्ट

१८. छायायुक्त, व्यालरहित, सुप्राप्य तथा फलदायक मार्गद्रुम एवं महान (जन) दूसरों के ही कल्याण के लिए हैं।

यहाँ उपमान हैं मार्गद्रुम (पथ के वृक्ष) और उपमेय हैं महान् जन। चार विशेषण हैं जो दोनों में अन्वित हैं। दोनों पक्षों में उनके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। वृक्ष और महापुरुष के पक्ष में क्रमशः उनके अर्थ हैं :

१. छायायुक्त—छाँह देनेवाले; द्युतिमान्।

दे० छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः।—अमर : २३।१५७

२. व्यालरहित—सर्पों से रहित; दुष्टों (के सम्पर्क) से रहित।

दे० शठे व्यालः पुंसि श्वापदसर्पयोः।—अमर : २३।१९६

३. स्वारोह (सु+आरोह)—सुखपूर्वक चढ़ने योग्य; सुप्राप्य (जिसके पास सभी आसानी से पहुँच सकें)।

४. फलदायक—फल देनेवाले; आश्रितों के उपकारी।

मार्गद्रुम और महापुरुष दोनों दूसरों का कल्याण करते हैं। पूर्वार्द्ध के चारों विशेषण उभयनिष्ठ हैं। शब्द एक होने पर भी उनके अर्थ भिन्न करके उपमेय-उपमान से अन्वय करना पड़ता है। यह श्लिष्ट सहोक्तिमूलक है।

उपमायुक्त श्लिष्ट

१९. उन्नत, लोकप्रिय, महान् और प्रचुर वर्षणशील अच्छे राजे मेघों के समान पृथ्वी के ताप का शमन करते हैं।

यहाँ राजे उपमेय और मेघ उपमान हैं। चार विशेषण हैं जो दोनों से अन्वित होते हैं। राज-पक्ष और मेघ-पक्ष में उनके क्रमशः अर्थ हैं :

१. उन्नत—उदार-चरित; ऊँचे। २. लोकप्रिय—राजे अपने सुशासन से लोकप्रिय होते हैं और मेघ जलवर्षण द्वारा कृषि-साधक होने से। ३. महान्—बड़े; विशाल। ४. प्राज्यवर्षी—मेघ प्रचुर जल-वर्षा करते हैं; राजे प्रचुर दान करते हैं।

यहाँ श्लिष्ट उपमामूलक है, क्योंकि 'घना इव' कहकर उपमा प्रतिपादित की गयी है; श्लिष्ट इसलिए कि वे ही विशेषण अर्थभेद से उपमेय-उपमान दोनों में लगते हैं।

छायावन्तो गतव्यालाः स्वारोहाः फलदायिनः।
मार्गद्रुमा महान्तश्च परेषामेव भूतये॥ १८॥

उन्नता लोकदयिता महान्तः प्राज्यवर्षिणः।
शमयन्ति क्षितेस्तापं सुराजानो घना इव॥ १९॥

हेतुयुक्त श्लिष्ट

२० रत्नयुक्त होने, अगाध होने, अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करने एवं बहुसत्त्वाश्रय होने के कारण तुम समुद्र के तुल्य हो।

यहाँ 'तुम' पद से अभिधेय कोई राजा उपमेय और समुद्र उपमान है। विशेषण अनेकार्थक हैं जो दोनों में लगते हैं। १. रत्नयुक्त—राजा के घर में बहुत रत्न हैं और और समुद्र में भी बहुत रत्न रहते हैं (तभी तो उसे रत्नाकर कहते हैं)। २. अगाधत्व—गम्भीरता के कारण राजा के मन (अभिप्राय) की थाह किसी को नहीं मिलती और जल की अधिकता के कारण समुद्र की थाह नहीं मिलती। ३. मर्यादा का उल्लंघन न करना—राजा आचरण-सम्बन्धी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता और समुद्र अपनी सीमा (मर्यादा) का अतिक्रमण नहीं करता। ४. बहुसत्त्वाश्रयत्व—राजा बहुत सत्त्व (शक्ति) का आश्रय है, अर्थात् शक्तिशाली है; समुद्र बहुत सत्त्वों (प्राणियों—जलजन्तुओं) का आश्रय है, समुद्र में अनेक जन्तु रहते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक विशेषण अर्थभेद से दोनों के साथ अन्वित हो रहा है। विशेषणों के अनेकार्थक होने से 'श्लिष्ट' और प्रत्येक में कारण-निर्देश रहने से हेतुमूलक—राजा समुद्र के बराबर कैसे है, इसका कारण चारों विशेषणों में निर्दिष्ट है।

अपह्नुति

२१. अपह्नुति (तब) अभीष्ट होती है (जब उसमें) कुछ उपमा अन्तर्गत हो। इसका नाम (अपह्नुति) इसलिए है कि (इसमें) वास्तविक अर्थ (वस्तु) को छिपाया जाता है। जैसे :

अपह्नुति का अर्थ है छिपाना। यह अलंकार विध्यात्मक न होकर, निषेधात्मक है, क्योंकि इसका रूप 'यह यह है' के बदले 'यह यह नहीं है' ऐसा होता है; जैसे 'यह मुख नहीं, चन्द्र है।' पर जहाँ कहीं भी निषेध हो वहाँ अपह्नुति हो जाय, यह बात नहीं है। उस निषेध में उपमा की अंतर्धारा अवश्य रहनी चाहिए, अर्थात् यह निषेध भी दो वस्तुओं में साम्य रहने पर ही हो सकता है, भले ही वह साम्य अभिहित न हो।

उत्तरार्द्ध में अपह्नुति शब्द की सार्थकता की व्याख्या है। चूँकि इस अलंकार में वास्तविक वस्तु को छिपाकर उसमें अन्य वस्तु का आरोप होता है, अर्थात् छिपाने की भावना प्रधान होती है, इसलिए इसे अपह्नुति कहते हैं।

रत्नवत्त्वादगाधत्वात्स्वमर्यादाऽविलङ्घनात् ।
बहुसत्त्वाश्रयत्वाच्च सदृशस्त्वमुदन्वता ॥ २० ॥

अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा ।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा ॥ २१ ॥

उदाहरण

२२. मद से मुखर यह भ्रमर-पंक्ति बार-बार नहीं गूँजती (बल्कि) यह कामदेव के चढ़ाए जाते हुए धनुष की ध्वनि है।

यहाँ प्रस्तुत भ्रमर-पंक्ति के गुंजन का निषेध कर (छिपाकर) उसमें अप्रस्तुत कामदेव के धनुष की ध्वनि का आरोप है, अतः अपह्नुति है। भ्रमरों के गुंजन और काम-धनु की ध्वनि में सादृश्य है रति की उद्दीपकता को लेकर।

विशेषोक्ति

२३. एक गुण की हानि होने पर, विशेषता की अभिवृद्धि के लिए दूसरे गुण का जो वर्णन किया जाता है उसे विशेषोक्ति कहते हैं। जैसे :

किसी कार्य की सिद्धि के लिए जितने साधन अपेक्षित हैं उनमें किसी को छोड़ दें और दूसरे से ही वह काम चला लें तो विशेषोक्ति होती है। बात यह है कि कारण जब पूरा रहता है तभी कार्य होता है। यदि अधूरे कारण से भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो उसे विशेषोक्ति कहते हैं। इसी को लक्षण में कहा कि एक गुण की हानि की पूर्त्ति दूसरे गुण से हो जाय।

उदाहरण

२४. शंकर जिसके शरीर को नष्ट करके भी बल को नहीं नष्ट कर सके, वह कामदेव अकेला होकर भी तीनों लोकों को जीत लेता है।

शरीर नष्ट होने पर भी बल का नष्ट न होना और उससे त्रिभुवन-विजय का वर्णन करना विशेषोक्ति अलंकार का प्रयोजक है। यहाँ एक गुण (शरीर) की हानि और गुणान्तर (बल) का वर्णन है और उससे कामदेव की शक्ति की विशेषता व्यक्त होती है। साधारण नियम है कि शरीर रहने पर ही बल रहता है; यहाँ उसके बिना भी बल का अतिशय वर्णित है।

नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥ २२॥

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा॥ २३॥

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्॥ २४॥

विरोध

२५. विशेषता बताने के लिए (किसी) गुण अथवा क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का वर्णन हो तो उसे विद्वान् विरोध कहते हैं।

यहाँ विशेषता से चमत्कार अभिप्रेत है।

उदाहरण

२६. सीमांत पर लगे उपवनों की छाया से शीतल भी यह भूमि अत्यंत दूर देशों में रहनेवाले भी तुम्हारे शत्रुओं को संतप्त करती है।

शीतल वस्तु का संतप्त करना स्पष्ट ही विरोध का सूचक है। अतः यहाँ विरोध अलंकार है।

तुल्ययोगिता

२७. गुण-साम्य बताने की इच्छा से विशिष्ट के साथ न्यून का समान-कार्य-कारित्व प्रतिपादित करना तुल्ययोगिता है।

विशिष्ट और न्यून में गुण-भेद रहेगा ही; यदि गुण-भेद न रहता तो वे विशिष्ट और न्यून कहलाते ही क्यों! फिर भी यदि उनमें साम्य बताना अभीष्ट हो तो वैसा तभी संभव है जब यह कहा जाय कि दोनों एक कार्य करते हैं।

तुल्ययोगिता के लक्षण में बात तो यही उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने भी कही है किंतु उनका लक्षण अधिक साफ है।

उदाहरण

२८. शेषनाग, हिमालय और तुम (तीनों) महान्, गौरवशाली एवं स्थिर हो, क्योंकि मर्यादा का उल्लंघन न कर तुम (सभी) चलती हुई पृथ्वी को धारण करते हो।

गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः॥ २५॥
उपान्तरूढोपवनच्छायाशीतापि धूरसौ।
विदूरदेशानपि वः सन्तापयति विद्विषः॥ २६॥
न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता॥ २७॥
शेषोहिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम्॥ २८॥

महत्त्व गौरव, और स्थिरता में शेषनाग और हिमालय राजा से विशिष्ट (बढ़कर) हैं पर राजा से उनका साम्य-प्रतिपादन अभीष्ट है अतः तीनों का पृथ्वीधारण-रूप एक क्रिया से योग बताया गया है जिससे यहाँ तुल्ययोगिता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

२९. प्रकरण से दूरीभूत (अप्राकरणिक—अप्रस्तुत) दूसरी वस्तु की जो स्तुति है उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। उसका उदाहरण यों है :

अधिकार का अर्थ यहाँ प्रकरण है। प्रकरण से अपेत, अर्थात् प्रसंग से दूरीभूत—अप्रासंगिक; दूसरे शब्द में अप्रस्तुत। स्तुति का अर्थ प्रशंसा न होकर वर्णन मात्र अभिमत है। तात्पर्य कि अप्रस्तुत वस्तु का वर्णन अप्रस्तुतप्रशंसा है। किंतु इतना ही लक्षण पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति होती हो तो अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार होता है।

उदाहरण

३०. वृक्षों के फलों को देखो जो प्रणयी जनों को प्रसन्न करनेवाले, सुस्वादु, समय पर पकनेवाले, प्रचुर एवं अनभ्यास-संपन्न हैं।

पुरुषकार—पौरुष—परिश्रम।

यहाँ अप्रस्तुत वृक्ष के फलों के वर्णन से प्रस्तुत में किसी उदारहृदय, दानशील पुरुष की प्रतीति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। विशेषण ऐसे हैं जो वृक्ष के साथ पुरुष का अर्थ भी ध्वनित करते हैं।

व्याजस्तुति

३१. अत्यंत अधिक गुणशाली की प्रशंसा के बहाने उसकी समता को बताना चाहनेवाले के द्वारा जो निंदा (की जाती है) वह व्याजस्तुति है।

अतिशय गुणशाली अप्रस्तुत की प्रशंसा की जाय और उसकी तुलना में प्रस्तुत की निंदा की जाय तो व्याजस्तुति अलंकार होता है। प्रस्तुत की उस निंदा में भी प्रशंसा ही अभिमत होती है।

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा॥ २९॥

प्रीणितप्रणयि स्वादु काले परिणतं बहु।
विना पुरुषकारेण फलं पश्यत शाखिनाम्॥ ३०॥

दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।
किञ्चिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा॥ ३१॥

उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने उभयथा व्याजस्तुति मानी है— निंदा से प्रशंसा व्यक्त हो अथवा प्रशंसा से निंदा व्यक्त हो।

उदाहरण

३२ राम ने सात सालवृक्षों को और परशुराम ने क्रौंच पर्वत को छेद डाला। क्या आपने शतांश में भी उनके समान कुछ किया ?

यहाँ अप्रस्तुत राम और परशुराम की बाण-विद्या का अतिशय कहकर प्रस्तुत राजा को उनके असमान बताने में आपाततः निंदा है किंतु वह निंदा वर्णनीय राजा की प्रशंसा आक्षिप्त कराती है—तुम राम-परशुराम के तुल्य तो नहीं पर उनसे कुछ ही कम हो; अतः यहाँ व्याजस्तुति है।

निदर्शना

३३. यथा, इव, वति के बिना केवल क्रिया से ही विशिष्ट अर्थ का प्रदर्शन निदर्शना नामक (अलंकार) है।

निदर्शन का अर्थ है उदाहरण। जहाँ कोई उदाहरण वचन से नहीं, कार्य से ही सूचित किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। यहाँ यथा, इव, वति आदि सादृश्य-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं रहता, अर्थात् सादृश्य व्यंग्य रहता है।

उदाहरण

३४. उदय (ऊपर चढ़ना) पतन का कारण है, यह श्रीसंपन्न पुरुषों को बताते हुए मंदप्रभ सूर्य अस्त होने जा रहा है।

बहुत ऊपर चढ़ने के बाद जैसे सूर्य भी नीचे गिरता है उसी तरह बहुत उन्नत मनुष्यों का पतन होता है। यहाँ अस्त होता हुआ सूर्य दूसरों को यह जैसे बतला रहा है कि देखो, एक दिन मेरे समान तुम्हारा भी पतन होगा। यहाँ सूर्य अपनी क्रिया (अस्त होना) से ही पतन (विशिष्ट अर्थ) को प्रदर्शित कर रहा है। सूर्य और उन्नत मनुष्य में सादृश्य का वाचक कोई शब्द नहीं है, सादृश्य व्यंग्य है।

रामः सप्ताभिनत्सालान्गिरिं क्रौञ्चं भृगूत्तमः।
शतांशेनापि भवता किं तयोः सदृशं कृतम्॥ ३२ ॥

क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना॥ ३३ ॥

अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥ ३४ ॥

उपमारूपक

३५. यदि उपमान के साथ उपमेय का तद्भाव (उपमान-भाव) अर्थात् अभेद बताते हुए सादृश्य का कथन किया जाय तो वह उपमा रूपक अलंकार है। जैसे :

उपमेय-उपमान का अभेद ही रूपक है और उसे ही यहाँ उपमा-रूपक का भी लक्षण कहा गया है। अतः दोनों का विषय-भेद दिखाना कठिन है। यही कारण है कि बाद के आलंकारिकों ने इस अलंकार को नहीं माना।

उदाहरण

३६ विष्णु के चरण की जय हो जो संपूर्ण आकाश के विस्तार का मानदंड तथा सिद्ध-वनिताओं के मुख-चंद्र का अभिनव दर्पण है।

विष्णु के वामनावतार का वर्णन है जिसमें उन्होंने एक चरण फैलाकर आकाश को नाप लिया था। आकाश को नापने के कारण चरण को मानदंड कहा गया है और सिद्धों (देवयोनि-विशेष) की नारियों का मुख प्रतिबिंबित होने के कारण उसे दर्पण कहा गया है। चरण को मानदंड और दर्पण के समान कहने से उपमारूपक है।

उपमेयोपमा

३७. यदि बारी-बारी (पर्याय) से उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान बताया जाय तो उसे उपमेयोपमा कहते हैं। जैसे कहा गया कि—

एक बार उपमेय उपमान बन जाय और दूसरी बार उपमान ही उपमेय बन जाय तो उपमेयोपमा अलंकार होता है।

उदाहरण

३८. सुगंधयुक्त, नयनों को आनंद देनेवाला, शराब के नशे से लाल तुम्हारा मुख कमल के जैसा है और कमल तुम्हारे मुख के जैसा।

उपमानेन तद्भावमुपमेयस्य साधयन् ।
यां वदत्युपमामेतदुपमारूपकं यथा ॥ ३५ ॥

समग्रगगनायाममानदण्डो रथाङ्गिनः ।
पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः ॥ ३६ ॥

उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत् ।
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम् ॥ ३७ ॥

सुगन्धि नयनानन्दि मदिरामदपाटलम् ।
अम्भोजमिव वक्त्रं ते त्वदास्यमिव पङ्कजम् ॥ ३८ ॥

यहाँ मुख (उपमेय) और कमल (उपमान) को बारी-बारी से एक-दूसरे का उपमान-उपमेय कहा गया है अतः उपमेयोपमा है ।

सहोक्ति

३९. जहाँ एक ही समय में दो क्रियाएँ दो वस्तुओं से संबद्ध हों पर उनका प्रतिपादन एक ही शब्द से होता हो तो उसे सहोक्ति कहते हैं ।

उदाहरण

४०. कामियों के प्रेम के साथ रातें (भी) बढ़ रही हैं जिनमें बर्फ गिरने से दिशाएँ आविल (कुहरी) हैं तथा जो प्रगाढ आलिंगन की प्रेरक हैं ।

सहोक्ति का अर्थ है साथ कथन । इसमें भिन्नविषयाश्रित क्रियाओं का भी एक ही पद के द्वारा एक साथ होना बताया जाता है । सहार्थवाचक शब्द का प्रयोग अनिवार्यतः हुआ करता है ।

जाड़े की रातों का वर्णन है । जाड़े में रातें लंबी हो जाती हैं । ठंड के कारण कामियों की रमणेच्छा भी बढ़ जाती है । यहाँ कामियों की रति और रात—दोनों का बढ़ना 'वृद्धिमायान्ति' इस एक ही क्रियापद से कहा गया है अतः सहोक्ति है ।

परिवृत्ति

४१. यदि अन्य (अविशिष्ट) वस्तु के परित्याग से विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो और उसमें अर्थान्तरन्यास मिला हुआ हो तो परिवृत्ति अलंकार होता है ।

भामह के अनुसार परिवृत्ति में दो बातें होनी चाहिए—

१. अविशिष्ट के त्याग से विशिष्ट की प्राप्ति और २. अर्थान्तरन्यास की सत्ता ।

उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने अर्थान्तरन्यास को तो आवश्यक नहीं ही माना है, विनिमय के प्रकार में भी भेद कर दिया है । वस्तुओं का विनिमय दो तरह का हो सकता है—सम और विषम । इन दोनों के भी दो प्रकार सम्भव हैं :

तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा ॥ ३९ ॥

हिमपाताविलदिशो गाढालिङ्गनहेतवः ।
वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह ॥ ४० ॥

विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥ ४१ ॥

सम { १. उत्कृष्ट का त्याग कर उत्कृष्ट का ग्रहण ।
२. निकृष्ट का त्याग कर निकृष्ट का ग्रहण ।

विषम { १. उत्कृष्ट का त्याग कर निकृष्ट का ग्रहण ।
२. निकृष्ट का त्याग कर उत्कृष्ट का ग्रहण ।

इन चारों प्रकारों में परिवृत्ति अलंकार माना गया है। भामह को अंतिम प्रकार ही अभिमत है।

उदाहरण

४२. उन्होंने याचकों को धन देकर यश-सम्पत्ति पा ली। सबका हित करनेवाले सज्जनों का यह स्थिर व्रत है।

यहाँ धन (निकृष्ट) को देकर यश (उत्कृष्ट) की प्राप्ति होने से परिवृत्ति अलंकार है। उत्तरार्द्ध में अर्थान्तरन्यास की स्थिति है ही। चंचल होने के कारण धन निकृष्ट और स्थायी होने के कारण यश उत्कृष्ट है।

ससन्देह

४३. यदि प्रशंसा के लिए उपमान के साथ (उपमेय का) **अभेद और भेद बताते हुए संदेहयुक्त वचन बोला जाय तो ससन्देह अलंकार होता है।**

कभी उपमेय को उपमान से भिन्न और कभी अभिन्न मानना ससन्देह का साधक है। उपमेय-उपमान परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न, इसका यदि निश्चय न हो सके तो संदेह के अतिरिक्त उसे और क्या कहेंगे ? जिसमें सन्देह हो वह ससन्देह।

उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने ससन्देह न कहकर इसे केवल सन्देह कहा है।

उदाहरण

४४. क्या यह चंद्रमा है ? पर वह तो दिन में नहीं चमकता; तो क्या कामदेव है ? किन्तु इसका धनुष तो फूल का नहीं है। इस प्रकार तुम्हें देखकर आश्चर्य से विमर्श करती हुई भी मेरी बुद्धि वास्तविकता का निर्णय नहीं कर पाती।

प्रदाय वित्तमर्थिभ्यः स यशोधनमादित।
सतां विश्वजनीनानामिदमस्खलितं व्रतम् ॥ ४२ ॥
उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा ॥ ४३ ॥
किमयं शशी न स दिवा विराजते
कुसुमायुधो न धनुरस्य कौसुमम्।
इति विस्मयाद्विमृशतोऽपि मे मति-
स्त्वयि वीक्षिते न लभतेऽर्थनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

यहाँ वर्णनीय राजा का चन्द्रमा और कामदेव (उपमान) से कभी अभेद और कभी भेद बताया गया है अतः ससन्देह अलंकार है।

अनन्वय

४५. जहाँ यह बताने के लिए कि वैसा दूसरा नहीं है, उसकी उसीसे उपमानता और उपमेयता कही जाय वहाँ अनन्वय अलंकार होता है।

उपमेय और उपमान दो भिन्न वस्तुएँ हुआ करती हैं। इसके विपरीत यदि एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान दोनों कहें तो अनन्वय अलंकार होता है। अनन्वय में किसी वस्तु की अद्वितीयता बताना अभिप्रेत रहता है।

उदाहरण

४६. ताम्बूल-राग के वलय से युक्त दंत-प्रभा से चमकता हुआ नीलकमल-तुल्य नयनोंवाला तुम्हारा मुख तुम्हारे ही जैसा है।

यहाँ किसी के मुख को उसीके मुख के समान कहने से अनन्वय अलंकार है।

ओठों में लगी पान की लाली मण्डलाकार है, इसीलिए वलय शब्द का प्रयोग है।

दीधिति—किरण, प्रभा।

उत्प्रेक्षावयव

४७. श्लिष्ट अर्थ से युक्त, कुछ उत्प्रेक्षा और रूपक से अन्वित को उत्प्रेक्षावयव कहते हैं। यथा:

उत्प्रेक्षावयव कोई स्वतंत्र अलंकार न होकर तीन अलंकारों का मिश्रित रूप है। संभवत: इसीलिए किसी दूसरे अलंकार-ग्रंथ में इसका निर्देश नहीं है। श्लिष्ट (३—१४), उत्प्रेक्षा (२—९१) और रूपक (२—२१) का मिश्रण होने से इसे अलंकार-संसृष्टि मानना अधिक संगत है।

उदाहरण

४८. उदय और अवसान में समानता के कारण, सूर्य के अस्त हो जाने पर, थका हुआ दिन निवास के लिए मानों अंधकार-गृह में प्रवेश कर रहा है।

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥ ४५ ॥
ताम्बूलरागवलयं स्फुरद्दशनदीधिति।
इन्दीवराभनयनं तवेव वदनं तव॥ ४६ ॥
श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वितः।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा॥ ४७ ॥
तुल्योदयावसानत्वाद्गतेऽस्तं प्रति भास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगृहम्॥ ४८ ॥

यहाँ 'तुल्योदयावसानत्वात्' में श्लिष्ट, 'विशतीव' में उत्प्रेक्षा और 'तमोगृहम्' में रूपक होने से उत्प्रेक्षावयव अलंकार है।

संसृष्टि

४९. (अनेक) रत्नों से रचित माला के समान बहुत अलंकारों के योग से संसृष्टि नामक सुन्दर अलंकार निष्पन्न होता है। उसे ऐसे कहा गया है :

भामह अनेक अलंकारों के योग में संसृष्टि मानकर भी न जाने क्यों पूर्ववर्त्ती उत्प्रेक्षा-वयव को स्वतंत्र अलंकार मानते हैं।

उदाहरण

५०. तुम दोनों में गांभीर्य है, लावण्य है और रत्नों का प्राचुर्य है, किन्तु जहाँ लोगों के लिए तुम सुप्राप्य हो वहाँ समुद्र दुष्ट ग्राहों से भरा (अतः अप्राप्य) है। (तुम्हारे पास पहुँचना सुकर है पर ग्राहों से भरे समुद्र के पास पहुँचने का साहस कौन कर सकता है ?)

यहाँ पूर्वार्द्ध में श्लिष्ट और उत्तरार्द्ध में व्यतिरेक रहने से संसृष्टि है।

दूसरा उदाहरण

५१. कमल-सदृश कान्तियुक्त तुम्हारा मुख अलंकार-रहित होकर भी रमणीय है। निसर्ग-सुन्दर चन्द्रमा को अलंकरण की क्या अपेक्षा ?

वनज—कमल। (वन जल का पर्याय है)।

यहाँ 'वनजद्युति' में उपमा (कमल के समान कान्तियुक्त); अलंकार-रहित रहने पर भी रमणीयता का कथन होने से विभावना (कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति), और पूर्वार्द्ध-उत्तरार्ध में दृष्टान्त की स्थिति है। इस भाँति अलंकार-संसृष्टि है।

५२. इसी प्रकार अन्य अलंकारों की भी संसृष्टि करनी चाहिए। कल्पना-पटु विज्ञों को मैं कितना कह सकता हूँ ?

वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा॥ ४९॥

गाम्भीर्यलाघववतोर्युवयोः प्राज्यरत्नयोः।
सुखसेव्यो जनानां त्वं दुष्टग्राहोऽम्भसां पतिः॥ ५०॥

अनलङ्कृतकान्तं ते वदनं वनजद्युति।
निशाकृतं प्रकृत्यैव चारोः का वास्त्यलङ्कृतिः॥ ५१॥

अन्येषामपि कर्त्तव्या संसृष्टिरनया दिशा।
कियदुद्घटितज्ञेभ्यः शक्यं कथयितुं मया॥ ५२॥

तात्पर्य कि पूर्वोक्त दो उदाहरणों के आधार पर सुधी अन्यत्र भी स्वयं संसृष्टि की योजना कर लेंगे।

भाविकत्व

५३. भाविकत्व को प्रबन्धविषयक गुण कहते हैं जिसमें भूत और भावी पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दीखते हैं।

५४ अर्थ की चित्रता, उदात्तता और अद्भुतता, कथा की अभिनेयता तथा शब्दों की स्वच्छता उस (भाविक) के निष्पादक बताये जाते हैं।

भाविक का लक्षण है भूत और भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष-जैसा दीखना। इसकी स्थिति ग्रंथकार प्रबन्ध-काव्य में ही मानते हैं। स्फुट रचनाओं में भी भाविक संभव है, यह उत्तरवर्त्ती अलंकार-ग्रंथों के उदाहरणों से प्रमाणित है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि भाविक के लिए भामह 'गुण' शब्द का प्रयोग करते हैं, अलंकार का नहीं।

चूँकि भामह के अनुसार भाविक प्रबन्ध में ही हो सकता है अतः उदाहरण देना सम्भव नहीं। उसका उदाहरण तो तभी दिया जा सकता है जब पूरा प्रबन्ध-काव्य उद्धृत किया जाय।

आशीः

५५. कुछ लोगों ने आशीः को भी अलंकार माना है। उसका प्रयोग सौहार्द अथवा अविरोध के वर्णन में होता है। जैसे :

आशीः का अर्थ शुभाशंसा प्रसिद्ध ही है। आशीः अलंकार कुछ लोगों ने माना है। भामह न अपनी सहमति व्यक्त करते हैं, न असहमति। केवल उल्लेख कर देते हैं।

सौहार्द में आशीः का उदाहरण

५६. अपने इस मित्र के प्रति प्रणयकोप का परित्याग कर दो और आदरपूर्वक झुके हुए उसका प्रगाढ़ भाव से आलिंगन करो। आनन्द से उत्पन्न अश्रुओं से वह

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥ ५३ ॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥ ५४ ॥
आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मता।
सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा॥ ५५ ॥
अस्मिञ्जहीहि सुहृदि प्रणयाभ्यसूया-
माश्लिष्य गाढममुमानतमादरेण।

तुम्हें उसी प्रकार सिक्त करे जिस प्रकार समय पर बरसनेवाला मेघ विंध्य पर्वत को सिक्त करता है।

किसी कारण से दो मित्रों में अनबन हो गयी है। कोई हितचिंतक उन्हें फिर मिलाने की इच्छा से यह कह रहा है। इसमें सौहार्द-विषयक आशीः है।

अविरोध-विषयक आशीः

५७. राजवर्ग तुम्हारे शत्रुओं के नगरों को देखे जिनकी समस्त शोभा तुम्हारे तेज से भस्म हो गयी है, प्राकारों को मदांध गजराजों ने तोड़ डाला है, वीर मार डाले गये हैं और नागरिक डरकर भाग गये हैं।

किसी राजा की स्तुति है। यह अविरोध (विरोध का अभाव—शत्रुनाश) का उदाहरण है।

५८. मैंने स्वयं अपनी बुद्धि से निश्चित करके वाणी के अलंकार-प्रकार का सविस्तर वर्णन किया है। इनसे अर्थ-मर्मज्ञों की अलंकृत वाणी विभूषित नारी के समान शोभती है।

●

विन्ध्यं महानिव घनः समयेऽभिवर्ष-
आनन्दजैर्नयनवारिभिरुक्षतु त्वाम् ॥ ५६ ॥

मदान्धमातङ्गविभिन्नसाला
हतप्रवीरा द्रुतभीतपौराः।
त्वत्तेजसा दग्धसमस्तशोभा
द्विषां पुरः पश्यतु राजलोकः ॥ ५७ ॥

गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।
अनेन वागर्थविदामलङ्कृता
विभाति नारीव विदग्धमण्डना ॥ ५८ ॥

चतुर्थ परिच्छेद

पिछले दो परिच्छेदों में काव्यशोभा के निष्पादक अलंकारों का निरूपण हुआ। अब काव्यशोभा के विघातक जो दोष हैं उनका निरूपण उचित है। अतः इस तथा अगले परिच्छेद में दोष-विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

१–२. (१) अपार्थ, (२) व्यर्थ, (३) एकार्थ, (४) ससंशय, (५) अपक्रम, (६) शब्दहीन, (७) यतिभ्रष्ट, (८) भिन्नवृत्त, (९) विसन्धि, (१०) देशविरोधी, (११) कालविरोधी, (१२) कलाविरोधी, (१३) लोकविरोधी; (१४) न्यायविरोधी, (१५) आगमविरोधी, (१६) प्रतिज्ञाहीन, (१७) हेतुहीन, (१८) दृष्टांतहीन—ये दोष (काव्य) में नहीं होने चाहिए।

प्रथम १५ दोषों का चतुर्थ परिच्छेद में और अंतिम ३ का पंचम परिच्छेद में विवेचन है।

अपार्थ

३. अपार्थ कहते हैं अर्थरहित को। वह अर्थ पद और वाक्य में (रहता है)।

पद

अर्थयुक्त, सुबन्त या तिङन्त वर्ण-समूह पद कहलाता है। अपार्थ का शाब्दिक अर्थ है अर्थहीन—अपगत है अर्थ जिससे, अर्थात् जिसमें अर्थ नहीं है।

अर्थ की सत्ता या तो पद में संभव है या वाक्य में। कोई तीसरा प्रकार अकल्पनीय है।

अर्थ की सत्ता पद और वाक्य में मानने पर स्वभावतः प्रश्न उठता है कि पद और वाक्य कहते किसे हैं।

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च ॥ १ ॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥ २ ॥
अपार्थमित्यपेतार्थं स चार्थः पदवाक्ययोः।
अर्थवान्वर्णसङ्घातः सुप्तिङन्तं पदं पुनः ॥ ३ ॥

वर्णों का समूह पद है किन्तु समूह ऐसा जो सार्थक हो, साथ ही उसमें सुप् या तिङ् विभक्तियाँ लगी हों। केवल वर्ण-समूह कहने से निरर्थक वर्ण-समूह का भी ग्रहण हो जाता अतः उसके निराकरण के लिए सार्थक विशेषण दिया और प्रातिपदिक (शब्द) से पद का भेद दिखलाने के लिये सुबन्त-तिङन्त विशेषण रखे गये। शब्द और पद में यही अन्तर है कि **शब्द विभक्तिहीन** होता है और **पद विभक्तियुक्त**। विभक्तियाँ दो प्रकार की हैं : सुप् और तिङ्। सुप् विभक्तियों की संख्या २१ है जो संज्ञा-शब्दों में लगती हैं; तिङ् विभक्तियाँ १८ हैं जो धातुओं में लगती हैं। इन्हीं सुप् और तिङ् विभक्तियों के योग से निष्पन्न शब्द (सार्थक वर्ण-समूह) पद कहलाते हैं।

वाक्य

४. परस्पर साकांक्ष पदों का समूह ही वाक्य है जो (स्वयं) निराकांक्ष तथा एक अर्थ का बोधक हो।

पदों का समूह ही वाक्य है पर ऐसे पदों का जो परस्पर साकांक्ष हों, जैसे, राम पुस्तक पढ़ता है। साकांक्षता के अभाव में वाक्य मानने पर 'हाथी घोड़ा गाय बैल' जैसा पद-समूह भी वाक्य कहलाने लगेगा। वाक्य निष्पन्न होता है साकांक्ष पदों के मेल से किन्तु स्वयं वह निराकांक्ष होता है, अर्थात् उसमें कुछ और जोड़ने की आकांक्षा या अपेक्षा नहीं रहती। 'राम पुस्तक पढ़ता है', यह पद-समूह अर्थ की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण है, इसमें और कुछ सुनने की आकांक्षा नहीं है। इसके प्रतिकूल यदि कोई इतना ही कहे कि 'राम पुस्तक', तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि वक्ता राम या पुस्तक के विषय में क्या कहना चाहता है। इसलिए इतने अंश को वाक्य नहीं कह सकते।

दूसरी चीज यह कि वाक्य को एक अर्थ का बोधक होना चाहिए। तात्पर्य कि एक वाक्य में एक ही विचार व्यक्त होना चाहिए। उदाहरणार्थ, 'राम पढ़ता है, श्याम जाता है' को एक वाक्य नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें दो अर्थों (विचारों) की अभिव्यक्ति है।

पूर्वोक्त लक्षण में शंका और उसका समाधान

५. क्रमशः उच्चार्यमाण वर्णों में समूहता युक्त नहीं, तथापि (वर्णों के) प्रतिक्षण भिन्न होने पर भी बुद्धि में यह (समूहत्व) सम्भव है।

इस कारिका के पूर्वार्ध में एक शंका है और उत्तरार्ध में उसका समाधान।

पदानामेव सङ्घातः सापेक्षाणां परस्परम्।
निराकाङ्क्षं च तद्वाक्यमेकवस्तुनिबन्धनम्॥ ४॥
क्रमवृत्तिषु वर्णेषु सङ्घातादि न युज्यते।
बुद्धौ तु सम्भवत्येतदन्यत्वेऽपि प्रतिक्षणम्॥ ५॥

शंका— आप कह चुके हैं कि वर्ण-समूह पद कहलाता है और पद-समूह वाक्य। किन्तु समूह तो तब सम्भव है जब अनेक वस्तुएँ एक साथ विद्यमान हों। यहाँ उसीमें बाधा है। उदाहरण के लिए 'शरबत' शब्द ले लीजिए। इसके चारों वर्ण एक साथ नहीं सुनायी देते; एक समय एक ही वर्ण का उच्चारण और श्रवण हो पाता है। जब 'श' का उच्चारण होता है तब 'रबत' का नहीं; 'र' का उच्चारण करते समय 'श' समाप्त हो जाता है और 'बत' अनुच्चरित ही रहते हैं; इसी तरह 'त' पर पहुँचते-पहुँचते पहले के तीनों वर्ण तिरोहित हो चुके रहते हैं। तात्पर्य कि चार वर्णों से निष्पन्न 'शरबत' शब्द का एक साथ श्रवण असम्भव है। ऐसी स्थिति में क्रमशः और पृथक्-पृथक् श्रूयमाण वर्णों का 'समूहत्व' अनुपपन्न हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप आपके द्वारा विहित पद और वाक्य का लक्षण भी खंडित हो जाता है। जब वर्ण-समूह (पद) और पद-समूह (वाक्य) का ग्रहण ही सम्भव नहीं तो उनसे अर्थ की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान—यह ठीक है कि वर्णों का उच्चारण क्रमशः होने से उनका एक बार श्रवण सम्भव नहीं, फिर भी बुद्धि पर उनका संस्कार पड़ता जाता है और अन्तिम वर्ण के सुनायी पड़ जाने पर पूर्वश्रुत वर्णों के साथ बौद्धिक समूहत्व सम्भव हो जाता है जो अर्थ-बोध कराता है। जब 'श' ध्वनि सुनायी देकर विनष्ट हो जाती है तो वह श्रवण की दृष्टि से ही विनष्ट होती है किन्तु बुद्धि पर उसकी छाप पड़ जाती है। यही अवस्था शेष वर्णों की भी होती है। वे कान के रास्ते बुद्धि पर अपनी छाप छोड़ते जाते हैं और बुद्धि उन्हें एक साथ मिलाकर अर्थ की प्रतीति कराती है। इसलिए वर्णों या पदों का 'समूहत्व' श्रवण में ही सम्भव नहीं है, अर्थ-बोध में तो है ही। एक उदाहरण लें। जिस तरह टाइप करते समय एक बार एक ही अक्षर छपता है किन्तु उसी तरह अलग-अलग छपनेवाले अक्षरों से अर्थबोधक अमिट संकेत बन जाते हैं, वैसा ही श्रूयमाण वर्णों में भी होता है। अतः वर्णों के समूहत्व के अभाव के कारण पद या वाक्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती, यह शंका निराधार है।

अन्य मत

६. दूसरों का कहना है कि क्षणिक शब्द वाक्य नहीं हैं बल्कि पूर्व-पूर्व वर्णों (के श्रवण) से उत्पन्न स्मृति के साथ अन्तिम वर्णाश्रित अखंड बुद्धि ही वाक्य है।

वाक्य के सम्बन्ध में बौद्धों का मत इस कारिका में प्रतिपादित है। उनका कहना है कि वर्ण तो क्षणस्थायी हैं। ऐसी स्थिति में उनका अन्वय सम्भव नहीं और अन्वय के अभाव में वाक्यत्व सम्भव नहीं। अन्वय या सम्बन्ध तो उन्हीं का सम्भव है जो स्थायी हों। फिर वाक्य बनता कैसे है ?

धीरन्त्यशब्दविषया वृत्तवर्णाहितस्मृतिः।
वाक्यमित्याहुरपरे न शब्दाः क्षणनश्वराः॥ ६॥

यद्यपि प्रत्येक वर्ण उत्पन्न होकर तत्काल नष्ट हो जाता है पर नष्ट होने के पहले वह अपनी छाप बुद्धि पर छोड़ जाता है। इसी प्रकार एक-एक वर्ण की छाप स्मृति के रूप में अंकित होती चलती है और जब अन्तिम वर्ण की छाप पड़ जाती है तब आरम्भ से अन्त तक सभी वर्णों का समुदित प्रभाव अखंड रूप से एकबार बुद्धिगोचर होता है। उसे ही वाक्य कहते हैं।

७. यहाँ भी बहुत कुछ कहने योग्य है पर हम नहीं कह रहे हैं, क्योंकि गुरुजनों के साथ विवाद से क्या लाभ ? अब हम प्रकरण का अनुसरण करते हैं।

इस मत में भी विप्रतिपत्ति है पर अप्रासंगिक समझकर भामह ने उसकी चर्चा नहीं की।

इसी प्रकार उन्होंने शब्द के नित्यत्व-अनित्यत्व का प्रश्न षष्ठ परिच्छेद में उठाया है पर उसे भी असमाहित ही छोड़ दिया है (दे० कारिका १५)।

अपार्थक

८. समुदाय के अर्थ से जो शून्य हो वह अपार्थक कहलाता है। जैसे, दस अनार, छह पूए आदि।

पद या वाक्य तो सार्थक हों किन्तु उनके समुदाय में अर्थ का अभाव हो तो अपार्थक दोष होता है। इस दोष में पृथक्-पृथक् पदगत या वाक्यगत सार्थकता रहती है परन्तु उनकी अन्विति में अर्थ नहीं रह जाता। जैसे, 'दस अनार, छह पूए' में पृथक्-पृथक् सभी पद सार्थक हैं, फिर भी उनके मेल से कोई सुसंबद्ध अर्थ नहीं निकलता।

दंडी का उदाहरण और भी स्पष्ट है :

समुद्रः पीयते देवैरहमस्मि जरातुरः।
अमी गर्जन्ति जीमूता हरेरैरावणः प्रियः।।　　— काव्यादर्श : ३।१२९

—देवताओं से समुद्र पीया जाता है। मैं बुढ़ापे से आतुर हूँ। ये मेघ गरज रहे हैं। विष्णु को ऐरावण प्रिय है।

प्रथम वाक्य में सभी पदों के सार्थक होने पर भी योग्यता का अभाव रहने से उनका कोई संगत अर्थ नहीं निकलता। इसी तरह शेष तीन वाक्य भी परस्पर असम्बद्ध हैं जिनमें कोई अन्विति नहीं।

अत्रापि बहु वक्तव्यं जायते तत्तु नोदितम्।
गुरुभिः किं विवादेन यथाप्रकृतमुच्यते।। ७ ।।
समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थकमिष्यते।
दाडिमानि दशापूपाः षडित्यादि यथोदितम्।। ८ ।।

इसके प्रतिकूल निम्नलिखित श्लोक लें जिसके चारों वाक्य स्वतंत्र होते हुए भी परस्पर-सम्बद्ध हैं :

रावणो राक्षसेन्द्रोऽभूद् रामभार्यां जहार सः ।
रामस्तमवधीत् क्रोधात् को न नश्यत्यधार्मिकः ।।

—रावण राक्षसों का राजा हुआ । उसने राम की पत्नी का हरण किया । राम ने क्रुद्ध हो उसे मारा । किस अधार्मिक का नाश नहीं होता ?

इन सभी वाक्यों का समुदित अर्थ होता है कि रावण के समान अधार्मिक कृत्य करनेवाले का नाश हो जाता है ।

व्यर्थ

९. व्यर्थ कहते हैं विरुद्ध अर्थवाले को और विरुद्ध वह है जिसमें पूर्वापर अर्थ के विरोध से विपर्यय (उलट-फेर) हो जाय ।

व्यर्थ शब्द का प्रचलित अर्थ तो है निरर्थक किन्तु यहाँ वह अभिप्रेत नहीं है । यहाँ 'वि' उपसर्ग विरुद्ध अर्थ में प्रयुक्त है, अतः व्यर्थ का अभिप्रेत अर्थ है विरुद्धार्थक । यदि पहले और पीछे के अर्थों में विरोध हो तो यह दोष होता है ।

उदाहरण

१०. अरी सखि ! प्रिय के प्रति मान कर । उनके सामने हल्कापन मत दिखा । जो स्त्रियाँ पति की इच्छा का अनुगमन करती हैं उनका प्रेम नष्ट नहीं होता ।

यहाँ पूर्वार्द्ध में मान करने का उपदेश है और उत्तरार्द्ध में पति की इच्छा के अनुवर्त्तन का । ये पूर्वापर अर्थ परस्पर-विरोधी हैं : मान और पति की इच्छा का अनुवर्त्तन दोनों एक साथ सम्भव नहीं । अतः यहाँ व्यर्थ दोष है ।

दूसरा उदाहरण

११. गुरुओं की उपासना करके तुमने इन्द्रिय-रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है; अब बड़ों से केवल विनय का पालन सीखो ।

जिसने इन्द्रिय-दमन कर लिया है उसे विनय का पाठ पढ़ाना व्यर्थ है, क्योंकि इन्द्रिय-दमन में विनय स्वयं समाहित है ।

विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते ।
पूर्वापरार्थव्याघाताद्विपर्ययकरं यथा ॥ ९ ॥
सखि मानं प्रिये धेहि लघुतामस्य मा गमः ।
भर्त्तुश्छन्दानुवर्त्तिन्यः प्रेम घ्नन्ति न हि स्त्रियः ॥ १० ॥
उपासितगुरुत्वात्त्वं विजितेन्द्रियशत्रुषु ।
श्रेयसो विनयाधानमधुनातिष्ठ केवलम् ॥ ११ ॥

'श्रेयसः' में पंचमी मानकर उसका अर्थ करना होगा 'बड़ों से', अर्थात् उनसे जो शील-गुण में अपनी अपेक्षा बड़े हैं।

एकार्थ (पुनरुक्त)

१२. जिसका अर्थ परस्पर अभिन्न हो उसे एकाथ कहते हैं। इसे ही शब्द और अर्थ के भेद से दूसरे पुनरुक्त कहते हैं।

एकार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ शब्द भिन्न (दो) हों, फिर भी अर्थ अभिन्न (एक) हो। इसे ही पुनरुक्त भी कहते हैं। कहीं पुनरुक्ति शब्द की हो सकती है और कहीं अर्थ की। इस प्रकार इसके दो भेद हो जाते हैं: शब्द-पुनरुक्त और अर्थ-पुनरुक्त।

१३. स्थूल होने के कारण यहाँ शब्द-पुनरुक्त का वर्णन नहीं किया जा रहा है। बिना मस्तिष्क विक्षिप्त हुए कोई कहे को ही क्यों कहेगा (एक ही शब्द को क्यों दुहरायेगा) ?

शब्द-पुनरुक्त अत्यन्त स्थूल दोष है, अतः उसका निरूपण अनपेक्षित है। विचार-विमर्श की आवश्यकता वहीं होती है जहाँ कुछ सूक्ष्मता हो।

पुनरुक्त दोष का परिहार

१४. भय, शोक, असूया (डाह), हर्ष या विस्मय में पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता; जैसे, (कोई) कहता है कि जाओ, जाओ।

यदि पुनरुक्त को सदा दोष माना जाय तो भावातिरेक (भय, शोक, हर्ष आदि) में जो प्रायः शब्द दुहरा दिये जाते हैं उन्हें भी दोष ही कहना होगा। ग्रंथकार का समाधान है कि ऐसे अवसरों पर पुनरुक्त की गणना दोष में नहीं होती। जैसे, भय में किसी ने कहा कि भागो, भागो तो यहाँ दोष नहीं होगा।

१५. यहाँ (काव्यशास्त्र में) अर्थ की जो पुनरुक्ति है उसे ही एकार्थ कहते हैं। कहे को ही फिर कहने में कार्य (तात्पर्य) सम्भव नहीं। जैसे :

यदभिन्नार्थमन्योन्यं तदेकार्थं प्रचक्षते।
पुनरुक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थभेदतः॥ १२॥

न शब्दपुनरुक्तं तु स्थौल्यादत्रोपवर्ण्यते।
कथमक्षिप्तचित्तः सन्नुक्तमेवाभिधास्यते॥ १३॥

भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः॥ १४॥

अत्रार्थपुनरुक्तं यत्तदेवैकार्थमिष्यते।
उक्तस्य पुनराख्याने कार्यासम्भवतो यथा॥ १५॥

स्थूलता के कारण शब्द-पुनरुक्त की चर्चा अनावश्यक समझकर छोड़ दी गयी। परिशेषात् अर्थ-पुनरुक्त ही एकार्थ के रूप में विचारणीय होता है। अर्थ-पुनरुक्त दोष इसलिए है कि एक बार जब कुछ कह चुके तो फिर उसे दुहराने में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पिष्ट-पेषण से क्या लाभ होगा? 'कार्यासम्भवत:' का अर्थ है निष्प्रयोजनता। शब्द-प्रयोग का कार्य है अर्थ-बोध और अर्थ-बोध एक बार ही प्रयुक्त शब्द से हो जाता है, अत: पुनरुक्ति से कोई नया कार्य तो हुआ नहीं।

उदाहरण

१६. कोठों की छतों पर मेघ से बरसे और नाली से गिरनेवाले जल की ध्वनि उस (नायिका) को निश्चय ही उन्मन बना रही है।

यहाँ 'उत्कमनसं' में पुनरुक्त है। उत्क और उन्मनस् दोनों पर्याय हैं अत: उत्क कहने से ही काम चल जाता; उसमें मनस् जोड़ने से कोई लाभ नहीं। दूसरी बात यह कि जल से ध्वनि तभी उत्पन्न होगी जब वह मेघ से बरसे या नाली आदि से गिरे। अत: ध्वनि कहना ही पर्याप्त था; कोठों की छतों पर बरसने और नाली से गिरने का वर्णन पुनरुक्त-मात्र हुआ।

ससंशय

१७-१८. साधारण धर्मों के सुनने और विशेष धर्मों के न सुनने से जो ज्ञान अनिश्चित रह जाय उसे संशय कहते हैं। अतः उस (संशय) के उत्पादक वचन को संसशय कहेंगे। निश्चय के लिए इष्ट (प्रयुक्त) वाक्य को दोलायित नहीं होना चाहिए। जैसे:

पहली कारिका में यह बताते हैं कि सन्देह उत्पन्न क्यों कर होता है; दूसरी कारिका में दोष का निरूपण है।

किसी वस्तु के साधारण धर्मों को जाना जाय और विशेष धर्मों को न जाना जाय तो सन्देह की उत्पत्ति होती है, कारण कि साधारण धर्म तो अन्य-निष्ठ भी हो सकते हैं। जैसे, रस्सी में साँप का सन्देह साधारण धर्मों (पतलापन, लम्बाई, जमीन पर पड़ा रहना आदि) को देखकर ही होता है; विशेष धर्मों का ज्ञान हो जाने पर तो सन्देह दूर ही हो जाता है। साधारण धर्म अनेक-निष्ठ होने से एक साथ अनेक वस्तुओं को उपस्थापित

तामुत्कमनसं नूनं करोति ध्वनिरम्भसाम्।
सौधेषु घनमुक्तानां प्रणालीमुखपातिनाम्॥ १६॥
श्रुतेः सामान्यधर्माणां विशेषस्यानुदाहृतेः।
अप्रतिष्ठं यदत्रैतज्ज्ञानं तत्संशयं विदुः॥ १७॥
ससंशयमिति प्राहुस्ततस्तज्जननं वचः।
इष्टं निश्चितये वाक्यं न दोलायेत तद्यथा॥ १८॥

करता है जिससे निश्चय नहीं हो पाता और निश्चय का अभाव ही सन्देह है। संशय (सन्देह) जिसमें हो वह ससंशय है।

जिस वाक्य से निश्चय के बदले संशय हो उसमें ससंशय दोष मानेंगे। यदि वाक्य निश्चय के लिए प्रयुक्त हो तो उसे दोलायित नहीं होना चाहिए, अर्थात् कभी इस ओर कभी उस अर्थ का बोध नहीं कराना चाहिए।

उदाहरण

१६. भूभृत् (राजा और पर्वत) व्यालयुक्त, दुष्प्राप्य, रत्नसम्पन्न, फलान्वित एवं विषम होते हैं। वे अनवधानों के भय के आशु कारण हैं।

यहाँ राजा विवक्षित है या पर्वत इसका निश्चय नहीं हो पाता, क्योंकि जिन धर्मों का उल्लेख है वे साधारण (उभयनिष्ठ) हैं। अतः ससंशय दोष है। व्यालयुक्त—दुर्जनों से घिरे हुए (राजे); सर्पों से युक्त (पर्वत)। दुष्प्राप्य—जिसतक पहुँचना कठिन हो (दोनों पक्षों में)। रत्नसम्पन्न—रत्न राजाओं के पास भी रहते हैं और पर्वतों पर भी। फलान्वित—आम्र आदि फलों से सुशोभित (पर्वत); याचकों को अभिलषित फल देने वाले (राजे)। विषम—पर्वत की विषमता उसके निम्नोन्नत भाग के कारण और राजाओं की, बुद्धि की अस्थिरता के कारण।

अपक्रम

२०. उपदेश के अनुसार क्रमशः निर्देश को क्रम कहते हैं। (उसमें) उलट-फेर होने से क्रम का मिट जाना अपक्रम कहलाता है।

उपदेश का यहाँ अर्थ है वस्तुओं का प्रथम विन्यास। जिस क्रम से वस्तुओं का पहले उल्लेख किया गया हो उसी क्रम से तत्सम्बन्धी वस्तुओं का निर्देश होना उचित है। यदि उसमें विपर्यय हो जाय तो उसे ही अपक्रम दोष कहते हैं।

उदाहरण

२१. किरीट और चंद्रमा का वहन करनेवाले, श्याम मेघ तथा हिम के समान कांतिमान्, चक्र एवं शूल धारण करनेवाले शंकर और विष्णु आपकी रक्षा करें।

व्यालवन्तो दुरारोहा रत्नवन्तः फलान्विताः।
विषमा भूभृतस्तेभ्यो भयमाशु प्रमादिनाम्॥ १६॥
यथोपदेशं क्रमशो निर्देशोऽत्र क्रमो मतः।
तदपेतं विपर्यासादित्याख्यातमपक्रमम्॥ २०॥
विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्रहिमसच्छवी।
रथाङ्गशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ॥ २१॥

यहाँ विष्णु और शंकर के धर्मों का जिस क्रम से निर्देश है उसी क्रम से धर्मियों का भी निर्देश होना चाहिए था; पहले विष्णु के धर्म निर्दिष्ट हैं (किरीट-धारण, श्याम वर्ण और चक्र-ग्रहण), उसके बाद शंकर के (चन्द्र-धारण, शुक्ल वर्ण और शूल-ग्रहण)। यही पूर्वापर क्रम तीन चरणों में है, अतः चौथे चरण में धर्मियों का उल्लेख भी उसी क्रम से होना चाहिए था—पहले विष्णु का, पीछे शंकर का किन्तु वहाँ पहले शंकर का ही उल्लेख है, बाद में विष्णु का। इस क्रम-विपर्यय के कारण यहाँ अपक्रम दोष है।

'विदधानौ' के बदले 'दधानौ' ही अधिक उचित पाठ होता। वि-पूर्वक 'धा' धातु का प्रयोग मुख्यतः 'करना' के अर्थ में होता है।

शब्दहीन

२२. सूत्रकार (पाणिनि) और पदकार (कात्यायन, उपलक्षण से पतंजलि भी) द्वारा इष्ट प्रयोग से जो भिन्न (प्रयोग) है, उसे शब्दहीन कहते हैं, क्योंकि (इनके अतिरिक्त शब्दों के) प्रामाणिक अनुशासक (नियामक) नहीं हैं।

शब्दहीन का अर्थ है व्याकरण से असम्मत। संस्कृत में तीन ही प्रामाणिक वैयाकरण माने जाते हैं—पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि। 'त्रिमुनिव्याकरणम्' यह उक्ति प्रसिद्ध ही है। पाणिनि ने सूत्रों में, कात्यायन ने वार्तिकों में और पतंजलि ने महाभाष्य में जो शब्द-सम्बन्धी अनुशासन प्रस्तुत किये हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ भी मान्य नहीं है, क्योंकि उनके समान भाषा का नियामक और कोई नहीं हुआ। अतः उनके नियमों से जो भिन्न है वह शब्दहीन है।

उदाहरण

२३. चमकती हुई बिजली का वलय धारण किये, जल के विस्तार (आधिक्य) से भारी और सूर्य के तेज को ढकनेवाले मेघों को आकाश में चारों ओर देखो।

इस श्लोक में व्याकरणासम्मत जो प्रयोग हैं उनका सम्यक् अवगम संस्कृत व्याकरण के ज्ञाता को ही हो सकता है। 'स्फुरत्तडिद्वलयिनः' में वस्तुतः बहुव्रीहि होना चाहिए था, 'इनि' अनभिमत है। 'गरीयसः' में ईयसुन् भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि उसका प्रयोग तारतम्य की स्थिति में ही होता है। यहाँ वैसी कोई आपेक्षिकता नहीं है। 'दिवोऽभितः' में 'अभितः' का योग रहने से 'दिवः' की षष्ठी के बदले 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इस वार्त्तिक के अनुसार द्वितीया होनी चाहिए।

सूत्रकृत्पदकारेष्टप्रयोगाद्योऽन्यथा भवेत्।
तमाप्तश्रावकासिद्धेः शब्दहीनं विदुर्यथा॥ २२॥
स्फुरत्तडिद्वलयिनो विततामभोगरीयसः।
तेजस्तिरयतः सौरं घनान्पश्य दिवोऽभितः॥ २३॥

व्याकरण सम्बन्धी-नियमों का विस्तृत व्याख्यान यहाँ अनपेक्षित है।

यतिभ्रष्ट

२४. छन्द में प्रयुक्त शब्दों का जो विचार है उसे यति कहते हैं। उससे रहित यतिभ्रष्ट कहलाता है। जैसे:

छन्दःशास्त्र के अनुसार प्रत्येक छन्द में यति (विराम) के स्थान नियत हैं। छन्द का पाठ करते समय उन्हीं स्थानों पर रुकने का विधान है। यदि वहाँ न रुककर अन्यत्र रुका जाय तो यतिभ्रष्ट दोष होता है।

उदाहरण

२५. विद्युत्-युक्त और तमाल के सदृश कृष्णवर्ण ये मेघ गरज रहे हैं।

यह स्रग्धरा छन्द है जिसका लक्षण है:

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्। —छन्दोमंजरी : सू २१०

इसमें सात-सात वर्णों पर यति होती है। पहली यति 'तमाला' के आकार पर होती है जो असित के 'अ' से मिलकर दीर्घ हो गया है। अतः सन्धि के कारण पद-विभाग पर यति की व्यवस्था नहीं होती। यों, यति होनी चाहिए पद की समाप्ति पर ही। इस प्रकार यहाँ यतिभ्रष्ट है।

कुछ आचार्य ऐसे स्थलों में यतिभ्रष्ट नहीं मानते।

भिन्नवृत्त

२६. गुरु और लघु वर्णों का अस्थान में सन्निवेश अथवा उनकी न्यूनता या अधिकता भिन्नवृत्त दोष है। जसेः

छन्दों में गुरु और लघु वर्णों का स्थान नियत रहता है। उसी तरह वर्णों और मात्राओं की संख्या भी निश्चित रहती है। यदि कहीं गुरु के बदले लघु या लघु के बदले गुरु का प्रयोग हो या वर्णों और मात्राओं की संख्या निश्चित संख्या से कम या अधिक हो जाय तो भिन्नवृत्त दोष होता है। जैसे:

यतिश्छन्दोऽधिरूढानां शब्दानां या विचारणा।
तदपेतं यतिभ्रष्टमिति निर्दिश्यते यथा ॥ २४ ॥
विद्युत्वन्तस्तमालासितवपुष इमे
वारिवाहा ध्वनन्ति ॥ २५ ॥
गुरोर्लघोश्च वर्णस्य योऽस्थाने रचनाविधिः।
तन्न्यूनाधिकता वापि भिन्नवृत्तमिदं यथा ॥ २६ ॥

उदाहरण

२७. उन्मत्त भ्रमरों की यह पंक्ति वन में घूम रही है। तुम अपनी प्रेयसा से अलग हो, (अतः) आज घर जा सकते हो।

यहाँ मालिनी छन्द है जिसके प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण और दो यगण होते हैं। 'भ्रमति' का 'ति' लघु होना चाहिए पर उसके आगे भ्रमर का 'भ्र' (संयुक्ताक्षर) पड़ने से वह गुरु उच्चरित होता है। दूसरे चरण में पन्द्रह के स्थान पर तेरह ही वर्ण हैं। इस तरह प्रथम चरण में लघु-गुरु का विपर्यय और द्वितीय चरण में वर्णों की न्यूनता होने से भिन्नवृत्त दोष है।

न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगिलोकैः। —छन्दोमञ्जरी : सू० १३४

विसन्धि

विसन्धि का लक्षण नहीं, केवल उदाहरण है। जहाँ सन्धि न की जाय वहाँ विसन्धि दोष होता है।

उदाहरण

२८. सुन्दर, चमकीले चन्द्रमा तथा शिरोरत्न को धारण करनेवाले शंकर एवं पार्वती तुम्हारी रक्षा करें; इसे ही विसन्धि कहते हैं।

यहाँ 'कान्ते', 'रत्ने', 'आदधाने' में एकारान्त द्विवचन होने से 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इस पाणिनि-सूत्र से सन्धि का अवकाश नहीं है। इस प्रकार, यहाँ विसन्धि दोष होना नहीं चाहिए, क्योंकि यह दोष वहीं होता है जहाँ सन्धि की प्राप्ति होने पर भी सन्धि नहीं हो सके। यहाँ तो प्राप्ति ही नहीं है। फिर भी यहाँ दोष इसलिए मानते हैं कि तीन अव्यवहित स्थलों पर सन्धि नहीं होने से विरसता उत्पन्न होती है।

देशविरोधी

२९. देशविशेष में (किसी) द्रव्य की उत्पत्ति जैसी कही या नहीं कही गयी है, उसके स्वभाव को ध्यान में रखकर उसके विपरीत वर्णन को देशविरोधी (दोष) कहते हैं। उदाहरण :

भ्रमति भ्रमरमाला काननेषून्मदासौ।
विरहितरमणीकोऽर्हति त्वाद्य गन्तुम्॥ २७॥
कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी।
पातां वः शम्भुशर्वाण्याविति प्राहुर्विसन्ध्यदः॥ २८॥
या देशे द्रव्यसम्भूतिरपि वा नोपदिश्यते।
तत्तद्विरोधि विज्ञेयं स्वभावात्तद्यथोच्यते॥ २९॥

सभी वस्तुएँ सर्वत्र नहीं होती, जैसे, भारत में 'ओक' का पेड़ नहीं होता और इंग्लैंड में पीपल नहीं पाया जाता। तो जो वस्तु जहाँ हो वहाँ उसका अभाव वर्णित करना और जहाँ न हो वहाँ उसका भाव वर्णित करना देशविरोधी दोष है, कारण कि उस देश की जो विशेषता (स्वभाव) प्रसिद्ध है उसके विरुद्ध इसमें वर्णन रहता है।

उदाहरण

३०. मलय पर्वत पर, जिनकी कंदरा के समीप कालागुरु के वृक्ष निकले हैं। सुगन्धित फूलों से झुके देवदारु शोभते हैं।

मलय पर्वत पर चन्दन की उत्पत्ति प्रसिद्ध है, कालागुरु या देवदारु की नहीं। देवदारु काफी ऊँचाई पर हिमालय की अधित्यका में होता है। अतः देश-विशेष (मलय) के स्वभाव के प्रतिकूल वस्तुओं की उत्पत्ति का वर्णन होने से देशविरोधी दोष है।

कालविरोधी

३१. समय छह ऋतुओं के भेद से मानों छह प्रकार से विभाजित है। उसमें विपर्यय होने से कालविरोध होता है।

कालविशेष में होनेवाली वस्तु का कालान्तर में वर्णन करने से यह दोष होता है।

उदाहरण

३२. ठंडे जल-कणों से भरी बरसाती हवा को जंगल में शोभनेवाले, खिले हुए ये आम्र सुगन्धित बना रहे हैं।

वर्षा ऋतु में आम्र कुसुमित नहीं होते बल्कि वसन्त में होते हैं। अतः यहाँ स्पष्ट ही कालविरोध है।

मलये कन्दरोपान्तरूढकालागरुद्रुमे।
सुगन्धिकुसुमानम्रा राजन्ते देवदारवः ॥ ३० ॥

षण्णामृतूनां भेदेन कालः षोढेव भिद्यते।
तद्विरोधकृदित्याहुर्विपर्यासादिदं यथा ॥ ३१ ॥

उदूढशिशिरासारान्प्रावृषेण्यान्नभस्वतः।
फुल्लाः सुरभयन्तीमे चूताः काननशोभिनः ॥ ३२ ॥

कलाविरोधी

३३. संकलन करनेवाली बुद्धि को कला कहते हैं। शिल्प आदि उसके विषय हैं। उसके विपरीत (वर्णन) को उसी (पूर्वोक्त) प्रकार से कलाविरोधी कहते हैं।

प्रथम चरण में कला की व्युत्पत्ति है। लोक और शास्त्र का सम्यक् अवलोकन कर उनकी विशेषताओं को संकलित करनेवाली शक्ति कला कहलाती है।

उस कला के विषय अनेक हैं, जैसे, संगीत, चित्र, मूर्त्ति, शिल्प आदि। इन कलाओं के स्वीकृत नियमों में उलट-फेर होने से कलाविरोधी दोष होता है।

उदाहरण

३४-३५. ऋषभ के बाद पंचम, उसके बाद षड्ज, फिर धैवत का उच्चारण कर मध्यम के द्वारा ऋषभ को दबाते हुए मध्यमग्राम होता है, ऐसा अज्ञान के कारण उल्टा कोई समझ ले (तो इसे कलाविरोधी कहेंगे)। अन्य कलाओं में भी इसी प्रकार विरोधिता बतानी चाहिए।

प्रस्तुत उदाहरण कलाविरोधी का है जो संगीत से लिया गया है। प्रथमतः, यह उदाहरण बहुत स्पष्ट नहीं है। द्वितीयतः, पाठभेद के कारण अर्थ-निर्धारण दुष्कर हो गया है। तृतीयतः, इसे समझने के लिए संगीत की पारिभाषिक शब्दावली तथा सिद्धान्त का थोड़ा-बहुत परिज्ञान अनिवार्य है।

संगीत में सात मुख्य **स्वर** होते हैं : षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद। इन्हीं के प्रथम अक्षरों को लेकर क्रमशः सा रे ग म प ध नी कहते हैं। (षड्ज के ष के बदले स या सा और ऋषभ के ऋ के बदले रि या रे या ऐसे ही अन्य परिवर्त्तन उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से कर दिये गये हैं।)

इनमें सा और प ये दो अविकारी स्वर हैं, अर्थात् इनमें कोई विकार या परिवर्त्तन नहीं होता। शेष पाँच विकारी हैं, अर्थात् उनके कोमल और तीव्र दो-दो रूप माने जाते हैं। इस प्रकार दो अविकारी और दस विकारी मिलकर बारह स्वर हुए। पर ये बारह ही स्वर हैं, ऐसी बात नहीं। इनके बीच में और भी अनेक सूक्ष्म ध्वनियाँ होती हैं जिन्हें **श्रुति** कहते हैं। इन श्रुतियों का ग्रहण तार के बाजों से होता है। श्रुतियों की बारीकी को

कला संकलना प्रज्ञा शिल्पान्यस्याश्च गोचरः।
विपर्यस्तं तथैवाहुस्तद्विरोधकरं यथा ॥ ३३ ॥
ऋषभात्पञ्चमस्तस्मात्सषड्जं धैवतं स्मृतम्।
अयं हि मध्यमग्रामो मध्यमोत्पीडितर्षभः ॥ ३४ ॥
इति साधारितं मोहादन्यथैवावगच्छति।
अन्यास्वपि कलास्वेवमभिधेया विरोधिता ॥ ३५ ॥

प्रकट करना हारमोनियम जैसे बाजे का काम नहीं। उसमें पूर्वोक्त बारह स्वर ही सुने जा सकते हैं। श्रुतियों की संख्या २२ है। अतः स्वर और श्रुति का अंतर केवल मात्रा का है, प्रकार या गुण का नहीं। श्रुति में ही जब स्थिरता, स्पष्टता और विराम आ जाता है तब उसे स्वर कहने लगते हैं।

७ स्वरों में २२ श्रुतियों का विभाजन इस प्रकार किया गया है :

षड्ज—४। ऋषभ—३। गांधार—२। मध्यम—४। पंचम—४। धैवत—३। निषाद—२।

इन श्रुतियों के अलग-अलग नाम हैं जिनका उल्लेख अनपेक्षित है।

ग्राम स्वरों के समूह का नाम है। ग्राम तीन हैं : षड्ज, मध्यम और गांधार। संगीत शास्त्र के अनुसार इनमें प्रथम दो का प्रयोग पृथ्वी पर होता है और अंतिम (गांधार) का स्वर्गलोक में।

मूर्च्छना सातों स्वरों के क्रमशः आरोह और अवरोह को कहते हैं, जैसे सा रे ग म प ध नि। नि ध प म ग रे सा। संगीत सीखते समय आरंभ में स्वरों के आरोह-अवरोह, अर्थात् मूर्च्छना का ही अभ्यास करना होता है।

मध्यमग्राम में स्वरों की मूर्च्छना म से आरंभ कर ग तक होती है, अर्थात् म प ध नी सा रे ग इस क्रम से स्वरों का विन्यास होना चाहिए, जैसा संगीत-दामोदर के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है :

मध्यमग्रामजास्त्वेवं मूर्च्छनाः परिकीर्त्तिताः।
मकरादिक्रमेणैव गकारान्तास्तु ता मताः॥

—मध्यमग्राम से उत्पन्न मूर्च्छना म से आरंभ होकर उसी क्रम से ग पर्यन्त चलती है।

इस म प ध नी सा रे ग के क्रम को कोई अज्ञानवश उलट दे तो संगीत-शास्त्र के नियम का विपर्यय हो जायगा और वह दोष माना जायगा। अतः ऋ से प पर, उसके बाद सा पर और फिर ध पर जाना उपर्युक्त क्रम के विरुद्ध है। इसमें स्वरों का क्रमिक विन्यास नहीं जैसा कि आवश्यक है। मनमाने ढंग से स्वर रख दिये गये हैं। अतः मध्यमग्राम की कल्पना से प्रतिकूल होने के कारण यह दोष है।

एक बात और। पीडन का अर्थ है उत्तरवर्त्ती स्वर के द्वारा पूर्ववर्त्ती स्वर का अपने में मिला लिया जाना। ऐसा करते समय उत्तरवर्त्ती स्वर पूर्ववर्त्ती स्वर की अंतिम श्रुति का आश्रय लेकर उच्चरित होता है। इस दृष्टि से मध्यम द्वारा, बीच के गांधार को छोड़कर ऋषभ का पीडन साधारणतः संगत नहीं है किंतु फिर भी 'मध्यमोत्पीडितर्षभः' में वैसा ही कहा गया है।

उपर्युक्त उदाहरण में इन दोनों ही प्रकारों से संगीत-शास्त्र के नियम की अवहेलना है अतः यहाँ कलाविरोधी दोष है।

अन्य कलाओं में भी इसी भाँति दोषों की उद्भावना कर लेनी चाहिए।

लोकविरोधी

३६. तत्त्वज्ञों ने लोक को स्थावर-जंगम भेद से दो प्रकार का माना है। यहाँ (काव्य में) भी उसका व्यवहार वही है। उसका विरोधी (लोकविरोधी कहलाता है)। जैसे :

स्थावर-जंगमात्मक लोक की जो प्रचलित और प्रसिद्ध रीति-नीति है उसका काव्य में वैसा ही संनिवेश होना चाहिए। उससे प्रतिकूल होने पर वह मन को खटकती है और दोष बन जाती है।

उदाहरण

३७. उन गजों के कपोल-स्थल से चूनेवाले मदजल-बिन्दुओं से भयंकर नदी बन गयी जिसने हाथियों, घोड़ों और रथों को बहा दिया।

हाथियों के मदजल से ऐसी नदी का बनना जिसमें हाथी, घोड़े, रथ बह जायँ, सर्वथा लोक-विरुद्ध है।

दंडी का उदाहरण और अच्छा है :

'आधूतकेसरो हस्ती, तीक्ष्णशृङ्गस्तुरङ्गमः।
गुरुसारोऽयमेरण्डो निःसारः खदिरद्रुमः॥ —काव्यादर्श : ३।१७२

हाथी केसर हिलाता है; घोड़े के सींग नुकीले हैं; एरंड में बहुत सार है; खैर का पेड़ असार है, न हाथी को केसर होता है, न घोड़े को सींग; न एरंड सारवान् होता है, न खैर निःसार।

दूसरा उदाहरण

३८. सेना के दौड़ते हुए घोड़ों के मुँह से गिरे फेन के जल से प्रत्येक दिशा का मार्ग घुटने-भर डूब गया।

यहाँ भी फेन से घुटने-भर पानी का लग जाना लोक-विरुद्ध है।

स्थास्नुजङ्गमभेदेन लोकं तत्त्वविदो विदुः।
स च तद्व्यवहारोऽत्र तद्विरोधकरं यथा॥ ३६ ॥
तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः।
प्रावर्त्तत नदी घोरा हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ ३७ ॥
धावतां सैन्यवाहानां फेनवारि मुखच्युतम्।
चकार जानुदघ्नापान्प्रतिदिङ्मुखमध्वनः॥ ३८ ॥

न्यायविरोधी

३६. न्याय कहते हैं त्रिवर्गनिरूपक शास्त्रों को एवं दंडनीति को। उनका जहाँ विरोध हो वह न्यायविरोधी है।

लौकिक दृष्टि से तीन पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ और काम। इन्हें ही त्रिवर्ग कहते हैं। मोक्ष चौथा पुरुषार्थ है, जिसका महत्त्व पारलौकिक दृष्टि से है। जीवन का अन्तिम ध्येय होने से मोक्ष को परम पुरुषार्थ भी कहते हैं। उसे जोड़ लेने पर पुरुषार्थों की संख्या चार हो जाती है जो चतुर्वर्ग नाम से अभिहित होते हैं। इस त्रिवर्ग या चतुर्वर्ग का निरूपण जिन ग्रंथों में है उन्हें शास्त्र कहते हैं। यों दंडनीति का भी अंतर्भाव इन्हीं में हो जाता है, फिर भी ग्रन्थकार ने उसका पृथक् निर्देश कर दिया है।

इनका विरोध जहाँ हो वहाँ न्यायविरोधी दोष होता है।

उदाहरण

उदयन-वासवदत्ता के उपाख्यान से न्यायविरोध के अनेक उदाहरण भामह प्रस्तुत करते हैं।

४०. वत्सराज (उदयन) को बुद्धिमान, विजय का अभिलाषी और वृद्धों के समान दूरदर्शी बताकर पीछे उसे ही गुप्तचरों से शून्य कहा गया है।

जो राजा बुद्धिमान्, दूरदर्शी और विजय का अभिलाषी हो उसका गुप्तचरों के बिना रहना अयुक्त है। शत्रुओं का विवरण गुप्तचरों के बिना कैसे जाना जा सकता है और उस विवरण को जाने बिना उनपर विजय पाना कैसे संभव है।

४१. उदयन कैसे नकली हाथी को नहीं पहचान सका जो उसके ही राज्य में रखा गया था और जिसके भीतर सालंकायन के नेतृत्व में सैकड़ों योद्धा छिपे हुए थे।

एक तो नकली हाथी, वह भी अपने राज्य में वर्त्तमान और वह भी इतना बड़ा कि जिसके भीतर सैकड़ों योद्धा बैठे हों; उसे न पहचानना कितने आश्चर्य की बात है? उसे तो कोई मंदमति भी आसानी से पहचान लेता पर उदयन के जैसा नीति-निपुण चूक गया और सच्चा हाथी समझकर पकड़ने की चेष्टा में स्वयं पकड़ लिया गया। यह दूसरा नीतिविरोध है।

न्यायः शास्त्रं त्रिवर्गोक्तिर्दण्डनीतिश्च तां विदुः।
अतो न्यायविरोधीष्टमपेतं यत्तया यथा॥ ३६॥
विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधाच्चारशून्यताम्॥ ४०॥
अन्तर्योधशताकीर्णं सालङ्कायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत्स स्वभूगतम्॥ ४१॥

४२. यदि उसके मंत्रियों ने स्वार्थ-सिद्धि के लिए इसकी उपेक्षा कर दी तो यह उनकी (घोर) बुद्धिमंदता हुई या अपने स्वामी के प्रति भक्ति का अभाव हुआ।

यदि यह कहें कि मंत्रियों ने उदयन को उचित सूचना न दी इसीलिए उससे वैसी भूल हुई तो यह समाधान भी अग्राह्य है। मंत्रियों ने यदि स्वार्थ-सिद्धि के लिए वैसा किया तो वे विश्वासघाती प्रमाणित होते हैं; अथवा यदि उन्होंने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया तो मतिमूढता का चरम निदर्शन हुआ। वह मंत्री कैसा जो इतनी-सी साधारण बात की भी सूचना न रख सके? इस तरह दोनों प्रकार से मंत्रियों का आचरण निंद्य हो जाता है। फिर मंत्री यदि भूल कर गये तो स्वयं राजा की बुद्धि कहाँ गयी थी?

४३. क्रोधान्ध शत्रुओं के द्वारा दृढ़ धनुषों से मुक्त बाण उदयन के मर्मस्थल से (सदा) अलग गिरें, यह कितनी (अविश्वसनीय) कल्पना है।

यह एक और असंगति देखिए। शत्रुओं के धनुष मजबूत, शत्रु क्रोधांध, उदयन अकेला और एक भी बाण उदयन को न लगे! बुद्धि इसे कैसे मान सकती है?

४४-४५. 'इसने मेरे भाई, मेरे पुत्र, मेरे पिता, मेरे मामा, मेरे भानजे को मारा है', इस प्रकार क्रोधाक्रांत हृदय (से बोलने) वाले, युद्ध में विविध अस्त्र चलाते हुए बहुत सारे लोग उस घोर जंगल में एकाकी, अपराधी उदयन को कैसे नहीं मार डालेंगे।

उदयन एकाकी है। शत्रुओं के प्रियजनों का वध करने के कारण शत्रुसेना के सम्मुख अपराधी है। प्रियजनों की मृत्यु से प्रतिपक्षी सैनिक क्रोधोन्मत्त हैं। जिस जंगल में युद्ध हो रहा है वह विशाल है, अतः उससे न तो उदयन आसानी से निकल सकता है, न उसे बाहर से सहायता मिल सकती है। फिर भी उसका बाल बाँका न हो, क्या यह विश्वसनीय है?

४६. उन नीतिज्ञ विद्वानों को प्रणाम है जो शास्त्र और लोक (दोनों) की उपेक्षा कर कवि के इस अभिप्राय का अनुमोदन करते हैं।

यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्त्तरि॥ ४२॥
शरा दृढधनुर्मुक्ता मन्युमद्भिररातिभिः।
मर्माणि परिहृत्यास्य पतिष्यन्तीति कानुमा॥ ४३॥
हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसः॥ ४४॥
अस्यन्तो विविधान्याजावायुधान्यपराधिनम्।
एकाकिनमरण्यान्यां न हन्युर्बहवः कथम्॥ ४५॥
नमोऽस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो येऽभिप्रायं कवेरिमम्।
शास्त्रलोकावपास्यैवं नयन्ति नयवेदिनः॥ ४६॥

कवि ने इन अनेक लोक-शास्त्र-विरुद्ध असंगतियों का कथा में समावेश किया है और दूसरे विद्वानों ने उसे अंधभाव से स्वीकार कर लिया है। यह और भी विस्मय का विषय है। भूल करनेवाला अपनी भूल भले न देखे पर तटस्थ द्रष्टा को तो देखना चाहिए।

४७. सजीव, जंगली हाथी और चमड़े से बने हाथी का अन्तर एक बच्चा भी जानता है। क्या (इसे जानना) कष्टकर है? फिर वैसा कैसे हुआ?

पूर्वोक्त का ही उपसंहार करते हैं। जिस अन्तर को बच्चा भी जानता है उसे नीति-निपुण उदयन जैसा शासक न समझे!

ये सब न्यायविरोध के उदाहरण हैं। उदयन की उपरि-संकेतित कथा का सारांश इस प्रकार है:

उदयन वत्स देश का राजा था जिसकी राजधानी कौशांबी थी। (कौशांबी का आधुनिक नाम कोसम है जो इलाहाबाद से दक्षिण यमुना के किनारे है।) उदयन वीणा बजाने और हाथियों के शिकार की कला में सिद्धहस्त था। वह अपने युग का अप्रतिम वीणा-वादक माना जाता था। उन दिनों अवन्ती का राजा प्रद्योत था जिसे चंडमहासेन भी कहते थे। अवन्ती की राजधानी उज्जयिनी (उज्जैन) थी।

प्रद्योत की एक पुत्री थी वासवदत्ता जो परम रूपवती, साथ ही शील-गुण-सम्पन्न भी थी। उदयन के गुणों से आकृष्ट हो प्रद्योत वासवदत्ता का विवाह उससे करना चाहता था किन्तु आत्माभिमान के कारण इस प्रस्ताव को सीधे न रखकर भंग्यन्तर से रखना चाहता था। उसने दूत द्वारा उदयन को कहलाया कि यदि आप उज्जयिनी आकर मेरी पुत्री को वीणा-वादन की शिक्षा दें तो मुझे प्रसन्नता होगी। उदयन ने यह अपमान-जनक प्रस्ताव ठुकरा दिया। तब प्रद्योत ने एक दूसरी युक्ति सोची। वह जानता था कि उदयन को हाथी के शिकार का कैसा व्यसन है। इसलिए उसने एक बहुत विशाल यन्त्रमय हाथी बनवाकर कौशांबी से थोड़ी दूर पर विन्ध्यवन में रखवा दिया। उस हाथी के भीतर बहुत योद्धा बैठा दिये गये। उदयन को इस अद्भुत हाथी की सूचना मिली। वह अस्त्र-शस्त्र और वीणा लेकर हाथी को फँसाने के लिए चल पड़ा। हाथी डरकर भाग न जाय इसलिए अनुचरों को पीछे ही छोड़ दिया। वीणा बजाता वह अकेले हाथी के पास पहुँचा। उस समय अन्धकार हो रहा था इसलिए वह उसे ठीक से देख नहीं सका। तबतक एकाएक हाथी के भीतर से प्रद्योत के सैनिकों ने निकलकर उसे घेर लिया। उदयन ने बहुत युद्ध किया पर अन्त में पकड़ लिया गया और उज्जयिनी ले जाया गया। लाचार हो उसे वासवदत्ता को वीणा सिखानी पड़ी। शिक्षा के क्रम में दोनों को एक-दूसरे से प्रेम हो गया जो पीछे विवाह में परिणत हुआ। इस प्रकार प्रद्योत की इच्छा पूरी हुई।

सचेतसो वनेभस्य चर्मणा निर्मितस्य च।
विशेषं वेद बालोऽपि कष्टं किं नु कथं नु तत्॥ ४७॥

आगमविरोधी

४८. धर्मशास्त्रों तथा उनके द्वारा विहित लोक-मर्यादा को आगम कहते हैं। उन (शास्त्र और लोक-मर्यादा) के आचार का अतिक्रमण करने से आगमविरोधी (दोष) होता है।

धर्म का विधान श्रुति, स्मृति दोनों से होता है, अतः धर्मशास्त्र में दोनों की गणना होगी। धर्मशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट जो नियम हैं उनका भंग आगमविरोधी दोष का कारण बनता है।

उदाहरण

४९–५०. न्याय-मार्ग पर चलनेवाले सोमपायी राजाओं के वंश के भूषण, पिता के जीवित रहते विजय की इच्छा से प्रेरित, संस्कार के विना ही द्विजत्व धारण करनेवाले, अविवाहित नरवाहनदत्त ने वेश्यावान् को रात में मारा।

प्रस्तुत उदाहरण में आगमविरोध के चार स्थल हैं। धर्मशास्त्र में क्षत्रिय और वैश्य का सोमपान निषिद्ध है। उसके प्रतिकूल यहाँ सोमपान का वर्णन है। पिता का अतिक्रमण कर कुछ भी करना अनुचित है किन्तु यहाँ पिता के जीवित रहते नरवाहनदत्त की विजिगीषुता का उल्लेख है। उपनयन-संस्कार के बिना द्विजत्व धर्मशास्त्र-विरुद्ध है पर यहाँ स्पष्टतः कहा गया है कि संस्कार न होने पर भी उसने द्विजत्व धारण कर लिया था। एक तो विवाह के पूर्व स्त्री-प्रसंग ही गर्हित है, उसमें भी वेश्या के पास जाना, वह भी तब, जब वह किसी दूसरे पुरुष के साथ हो और वहाँ जाकर भी उस पुरुष को पीड़ित करना।

यहाँ कुल, शील, धर्म सब का उल्लंघन है अतः आगमविरोधी दोष है।

आगमो धर्मशास्त्राणि लोकसीमा च तत्कृता।
तद्विरोधि तदाचारव्यतिक्रमणतो यथा॥ ४८॥

भूभृतां पीतसोमानां न्याय्ये वर्त्मनि तिष्ठताम्।
अलङ्करिष्णुना वंशं गुरौ सति जिगीषुणा॥ ४९॥

अभार्योढेन संस्कारमन्तरेण द्विजन्मना।
नरवाहनदत्तेन वेश्यावान्निशि पीडितः॥ ५०॥

उपसंहार

५१. यह रचना (दूसरों का) दोष दिखाने के लिए नहीं की गयी है और न अभिमान से, बल्कि व्युत्पत्ति के लिए। विद्वानों और तत्त्वज्ञों के अभिप्राय (अभिसन्धि) को मेरे जैसा व्यक्ति क्या समझ सकता है?

विनय प्रदर्शित करते हुए भामह इस दोष-प्रकरण का उपसंहार करते हैं। यह प्रकरण न तो किसी का दोष दिखाने के लिए लिखा गया है, न अपनी बहुज्ञता के अभिमान से प्रेरित होकर। इसका एकमात्र उद्देश्य है दोष का परिज्ञान कराना।

न दूषणायालमुदाहृतो विधि-
  र्न चाभिमानेन किमु प्रतीयते।
कृतात्मनां तत्त्वदृशां च मादृशो
  जनोऽभिसन्धिं क इवावभोत्स्यते ॥ ५१ ॥

प्रतिज्ञाहीन आदि दोषों के निरूपण का प्रयोजन

१. अब न्याय (तर्कशास्त्र) के अनुसार प्रतिज्ञा, हेतु आदि से हीन दोषों का उनके अर्थमात्र की प्रतीति के लिए, संक्षेप में, निरूपण किया जाता है।

चतुर्थ परिच्छेद के आरम्भ की दो कारिकाओं (१-२) में भामह ने १८ दोषों का नाम्ना निर्देश किया है। उनमें से १५ का सोदाहरण निरूपण चतुर्थ परिच्छेद में हो चुका। शेष तीन—प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन और दृष्टान्तहीन—का यहाँ विचार कर रहे हैं।

चूँकि ये दोष न्याय से सम्बद्ध हैं इसलिए इनकी चर्चा तदनुसार ही उचित है। काव्य में इनके व्यापक ज्ञान की उपयोगिता नहीं होने से संक्षेप में परिचय-मात्र दे देना ही ग्रंथकार को अभिमत है।

२. दुर्बोधता के कारण बुद्धिहीन प्रायः शास्त्रों से डरते हैं। उनके अनुरंजन (उपच्छन्दन) के लिए अनुमान-पद्धति के कुछ अंश का यह संग्रह है।

कठिन होने से शास्त्र प्रायः दुर्बोध होते हैं—आसानी से समझ में नहीं आते। स्वभावतः मन्दबुद्धि उनके अध्ययन से भागते हैं। शास्त्रों का ज्ञान, अत्यल्प भी क्यों न हो, सबको रहना चाहिए। यदि सुगम बनाकर और संक्षेप में वह विषय प्रस्तुत किया जाय, तो कोमलमति भी उसको सानन्द ग्रहण करेंगे। इसीलिए अनुमान की प्रणाली का यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है। हेतु (अनुमान) का न्याय (प्रणाली), उसके लव (अंशमात्र) का उच्चय (संग्रह) है।

३. काव्य के मधुर रस में मिलाकर शास्त्र का भी उपयोग होता है। पहले मधु को चखनेवाले कड़वी दवा (भी) पी लेते हैं।

अथ प्रतिज्ञाहेत्वादिहीनं दुष्टञ्च वर्ण्यते।
समासेन यथान्यायं तन्मात्रार्थप्रतीतये॥ १॥
प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्राद्बिभ्यत्यमेधसः।
तदुपच्छन्दनायैष हेतुन्यायलवोच्चयः॥ २॥
स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ ३॥

कोई पूछ सकता है कि आप तो काव्याङ्गों का निरूपण करने चले थे। फिर अनुमान और प्रमाण का यह बेसुरा राग क्यों अलापने लगे ? उसीका यह समाधान है।

काव्य-रचना में जब कवि प्रवृत्त होते हैं, तब उनके मन में जो आता है, लिखते जाते हैं। कलम पकड़कर कोई नियमन नहीं करता कि यह लिखो और यह न लिखो। मान लीजिए कि प्रसंगानुसार किसी ने कहीं अनुमान आदि की चर्चा कर दी तो बिना पहले से परिचय रहे उसका बोध कैसे होगा ? बोध के अतिरिक्त उस विषय का संनिवेश सदोष हुआ है या निर्दोष, सही हुआ है या गलत, इसकी परख भी कैसे होगी ? काव्य की मधुरता में मिश्रित कर शास्त्रीय विषय भी प्रस्तुत कर दिये जाते हैं, जिस प्रकार मधु चटाकर कड़वी दवा भी खिला दी जाती है।

काव्य-वस्तु की व्यापकता

४. वह शब्द नहीं, वह अर्थ नहीं, वह न्याय नहीं, वह कला नहीं, जो काव्य का अंग (उपयोज्य) न बनती हो। कवि का दायित्व कितना बड़ा है !

ऐसा न कोई शब्द है, न अर्थ, न न्याय, न कला जिसका प्रयोग काव्य में न होता हो। अतः उसका सम्यक् आस्वादन वही कर सकता है, जो इनसे भलीभाँति परिचित हो।

प्रमाण की आवश्यकता, भेद तथा विषय

५. प्रमाणों से (वस्तुओं की) सत्ता आदि (की सिद्धि होती है)। वे प्रमाण) हैं: प्रत्यक्ष और अनुमान। व्यक्ति और जाति उनके (प्रत्यक्ष एवं अनुमान के क्रमशः) विषय हैं।

इस कारिका में प्रमाण की आवश्यकता क्या है, उसके भेद कितने हैं और उनके विषय क्या हैं, इन तीन प्रश्नों का निरूपण है।

प्रमाण की आवश्यकता होती है किसी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए। देखा जाता है कि छोटी-से-छोटी बात पर भी विश्वास करने के पहले लोग प्रमाण चाहते हैं, क्योंकि उसके अभाव में यह जानना कठिन है कि यथार्थतः वह बात है या नहीं।

यहाँ प्रमाणों की संख्या जो दो कही गयी है, वह बौद्ध दर्शन के अनुसार। बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं।

प्रत्यक्ष का विषय है व्यक्ति और अनुमान का जाति, अर्थात् **प्रत्यक्ष** से **व्यक्ति** का ज्ञान होता है और **अनुमान** से **जाति** का।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवेः॥ ४॥
सत्त्वादयः प्रमाणाभ्यां प्रत्यक्षमनुमा च ते।
असाधारणसामान्यविषयत्वं तयोः किल॥ ५॥

सामान्य कहते हैं जाति को। जाति, जात और सामान्य पर्याय हैं।

जातिर्जातञ्च सामान्यम्।—अमरकोश : १।४।३१

जो सामान्य का अर्थ है वही साधारण का भी। तो सामान्य—साधारण—जाति। असाधारण—जो जाति नहीं हो, अर्थात् व्यक्ति।

व्यक्ति को स्वलक्षण भी कहते हैं, क्योंकि उसके लक्षण (वैशिष्ट्य) सर्वथा उसके अपने होते हैं, उन्हीं के आधार पर उसका दूसरे व्यक्तियों से भेद सम्भव होता है।

ज्ञानेन्द्रियों और वस्तुओं के संनिकर्ष (सामीप्य) से जो ज्ञान होता है, वह **प्रत्यक्ष** है। लिंग-परामर्श से (किसी चिह्न को देखकर) जो ज्ञान होता है, वह **अनुमान** है। प्रकारान्तर से ऐसे भी कह सकते हैं कि जो वस्तु **सामने** रहती है, उसका ज्ञान **प्रत्यक्ष** प्रमाण से होता है और जो **सामने नहीं** रहती, उसका ज्ञान **अनुमान** से होता है।

इसी आधार पर बौद्धों ने व्यक्ति को प्रत्यक्ष का और जाति को अनुमान का विषय माना है। किसी **मनुष्य व्यक्ति** (जैसे राम, श्याम) को देखना तो हमारे लिए संभव है; किन्तु **मनुष्य जाति** को देखना सर्वथा असंभव है। विश्व के सभी मनुष्यों को किसी ने नहीं देखा, कोई देख सकता भी नहीं, फिर भी हम जानते हैं कि दूसरे भूखंडों में भी मनुष्य जाति के लोग बसते हैं। यह ज्ञान अनुमान पर ही आश्रित है। इससे स्पष्ट है कि जाति केवल अनुमान से जानी जा सकती है, प्रत्यक्ष से नहीं।

प्रत्यक्ष का लक्षण

६. कुछ लोग (कहते हैं) कि उस (किसी) वस्तु का जो कल्पना-रहित ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है। कल्पना का अर्थ है (व्यक्ति में) नाम, जाति आदि का आरोप।

कल्पना एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है नाम, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य—इन पाँच उपाधियों का व्यक्ति में आरोप। इस कल्पना, अर्थात् उपाधियों से रहित पदार्थ-ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। तात्पर्य यह कि व्यक्ति का केवल व्यक्ति रूप में ग्रहण (जिसपर नाम, जाति आदि का आरोप न किया गया हो) प्रत्यक्ष कहलायगा। (कुछ लोगों ने जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य ये चार ही उपाधियाँ मानी हैं, नाम को छोड़ दिया है।)

धर्मकीर्त्ति के अनुसार कल्पना का लक्षण है—

कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। —न्यायबिन्दु : पृ० ८

—कल्पनारहित एवं भ्रान्तिहीन ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। अपोढ—रहित; कल्पनापोढ—कल्पनारहित; योजना—आरोप।

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं सतोऽर्थादिति केचन।
कल्पनां नामजात्यादियोजनां प्रतिजानते॥ ६॥

व्यक्ति और जाति की चर्चा पूर्व कारिका में हो चुकी है। बौद्धों के अनुसार **व्यक्ति वास्तविक** है और **जाति कल्पित**। व्यक्ति को वास्तविक मानने का कारण यह है कि लौकिक व्यवहार उसीसे संपन्न होता है। हमारा भोजन मनुष्य व्यक्ति बनाता है। मनुष्य जाति नहीं; अभी जो यह व्याख्या लिख रहा है, वह एक व्यक्तिमात्र है, जाति नहीं; हम जिससे दूध दूहते हैं वह गो-जाति नहीं, गो-व्यक्ति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थ-क्रिया-कारिता—कार्य करने की योग्यता—व्यक्ति में ही रहती है, अतः वही वास्तविक है। नाम, जाति आदि उस पर आरोपित धर्म हैं जो कल्पित, अतः अवास्तविक, हैं। उदाहरणार्थ नाम केवल संबोधन और निर्धारण की सुविधा के लिए ऐच्छिक (कल्पित) संकेत है। उसे कोई जब चाहे बदल सकता है, किंतु उससे व्यक्तित्व में कोई अंतर नहीं आयगा। जैसे, सूर्यकांत त्रिपाठी से 'निराला' या हरिवंश राय से 'बच्चन' हो जाना व्यक्तित्व-भेद का सूचक नहीं है; नाम बदल जाने पर भी व्यक्ति वही है।

नाम के समान जाति भी आरोपित धर्म ही है, जैसे मनुष्यत्व या पशुत्व। इनका प्रत्यक्ष संभव नहीं। हम मनुष्य या पशु को तो देख सकते हैं, पर मनुष्यत्व या पशुत्व अग्राह्य है। इसी प्रकार गुण और क्रिया की सत्ता का ज्ञान वस्तु के विना नहीं हो सकता। 'उज्ज्वल' गुण है, पर आश्रयभूत किसी वस्तु के अभाव में उसका ज्ञान क्या संभव है? वस्तु को देखकर ही उसमें वर्त्तमान उज्ज्वलता का हम प्रत्यक्ष कर पाते हैं। वस्तु को हटा देने पर उसके प्रत्यक्ष का कोई साधन नहीं रह जाता। दूसरी बात यह कि गुण की स्थिति तभी तक है, जबतक वस्तु की। वस्तु के नष्ट हो जाने पर तदाश्रित गुण का नाश स्वयंसिद्ध है। अतः उसकी स्वतंत्र सत्ता अकल्पनीय है। क्रिया के साथ भी यही बात है। चलन-क्रिया अपने-आप में संभव नहीं। वह तो संभव और अनुभवगम्य होता है चलनेवाले व्यक्ति के कारण।

चूँकि ये सब-के-सब परतंत्र और व्यक्ति में आरोपित हैं, अतः मिथ्या हैं और इनका प्रत्यक्ष असंभव है, क्योंकि प्रत्यक्ष सत्य का होता है, मिथ्या का नहीं।

तो किसी वस्तु का, जो कल्पना-रहित ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष कहलाता है।

उपर्युक्त प्रत्यक्ष-लक्षण में अनुपपत्ति

७. इतना (यह सब) समारोप है और उस (प्रत्यक्ष) का आलम्बन सत् हुआ करता है। तब जात्यादि का अपोह होने पर (प्रत्यक्ष का) विषय क्या होगा, व्यावृत्ति (पार्थक्य) कहाँ होगी और उसका आधार क्या होगा?

जैसा पूर्व कारिका की व्याख्या के प्रसंग में देखा गया है, बौद्धों के अनुसार जाति, गुण, क्रिया इत्यादि कल्पना-मात्र होने से अवास्तविक हैं, अर्थात् उनकी सत्ता नहीं और जिसकी सत्ता ही नहीं, उसका प्रत्यक्ष कैसा? इस मत में भामह विप्रतिपत्ति प्रदर्शित कर रहे हैं।

समारोपः किलैतावान्सदर्थालम्बनश्च तत्।
जात्याद्यपोहे वृत्तिः क्व क्व विशेषः कुतश्च सः॥ ७॥

आप मानते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान उसी वस्तु का होता है जो सत्, अर्थात् यथार्थ हो और जाति, गुण, क्रिया इत्यादि उपाधियाँ असत् (कल्पना) हैं, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। किन्तु जात्यादि का निषेध कर देने पर किसी वस्तु का ज्ञान सम्भव है क्या? यदि इन उपाधियों को स्वीकार न करें तो राम से श्याम का, बैल से घोड़े का अन्तर क्या रहेगा?

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है : निर्विकल्पक और सविकल्पक। विकल्प शब्द यहाँ भेद का वाचक है। निर्विकल्प वह है जिसमें विकल्प या भेद नहीं हो और सविकल्पक वह है जिसमें विकल्पक या भेद हो। एक उदाहरण लें। बहुत दूर मैदान में हम किसी पशु को देखते हैं तो इतना जान जाते हैं कि वह कोई पशु है, पर यह नहीं निश्चय कर पाते कि वह गाय है या बैल या साँड़ या और कुछ। परन्तु समीप जाने पर उसके रूप-रंग को देखकर निश्चय हो जाता है कि वह क्या है। इनमें पहला ज्ञान निर्विकल्पक है, क्योंकि उसमें केवल इतना ही मालूम होता है कि कोई पशु है; पर कौन-सा पशु है यह भेद नहीं ज्ञात हो पाता। इस तरह भेदरहित ज्ञान होने से उसे निर्विकल्पक कहेंगे। किन्तु जब हम समीप से देखने पर यह जान लेते हैं कि वह कौन-सा पशु है, अर्थात् जब उसका भेद समझ लेते हैं तब वह ज्ञान सविकल्पक हुआ। **कोई वस्तु** है, केवल इतने का बोध निर्विकल्पक ज्ञान है, पर **कौन-सी वस्तु** है, यह बोध सविकल्पक ज्ञान है। अब प्रश्न है कि इन दोनों ज्ञानों में अन्तर करने वाला तत्त्व क्या है? हमने कैसे जाना कि यह गाय है, बैल नहीं या बैल है, साँड़ नहीं? थोड़ी ही देर पहले सब एक-से लग रहे थे; दूरी कम होते ही अन्तर स्पष्ट हो गया। किन्तु कैसे? उत्तर है : उपाधि-चतुष्टय के बल से; जाति, गुण, क्रिया, नाम के द्वारा। गाय से बैल का अन्तर इसलिए है कि दोनों भिन्न जातियों के पशु हैं जिनके भिन्न गुण, नाम आदि हैं। उन उपाधियों (विशेषताओं) के रहने पर उनकी भिन्नता का बोध होता है; उनका लोप हो जाने पर भिन्नता भी लुप्त हो जाती है। अतः सच्ची बात यह है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष इन उपाधियों के कारण ही होता है। बौद्ध इन्हीं का खंडन कर देते हैं। स्वभावतः आपत्ति होती है कि यदि जात्यादि को न मानें तो ज्ञान का विषय क्या होगा, अर्थात् ज्ञान किसका होगा? फिर, एक वस्तु से दूसरी वस्तु का पार्थक्य कैसे होगा और उस पार्थक्य का आधार क्या होगा?

प्रकारान्तर से खंडन

८. जात्यादि का अपोह होने पर भी वह (जात्यादि) बुद्धिगोचर सिद्ध होती है। यदि प्रत्यक्ष को अवस्तुक (निर्विषयक) मानकर अयथार्थ कहें (तो ठीक नहीं), क्योंकि वह यथार्थ का बोधक है।

तदपोहेषु न तथा सिद्धा सा बुद्धिगोचरा।
अवस्तुकं चेद्वितथं प्रत्यक्षं तत्त्ववृत्ति हि॥ ८॥

बौद्ध मत के खंडन की यह दूसरी युक्ति है। अपोह की व्याख्या के लिए देखिए षष्ठ परिच्छेद की सोलहवीं कारिका।

यों आप जात्यादि का अपोह भले ही कर दें, फिर भी उसे बुद्धिगोचर होने से नहीं रोक सकते। आपके कथनानुसार 'गो' के अर्थ की प्रतीति गो-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति (अपोह) के द्वारा सिद्ध होती है। किन्तु गो-भिन्न को समझने के लिए भी 'गो' का अर्थ समझना आवश्यक हैं; जबतक 'गो' को नहीं जानें, तबतक उससे भिन्न का ज्ञान कैसे हो? और 'गो' को जानने के लिए गोत्व का परिज्ञान अपरिहार्य है, जैसा पहले दिखा चुके हैं। जात्यादि के अभाव में किसी वस्तु का ज्ञान असम्भव है। यह 'गोत्व' जाति नहीं तो और क्या है? इस तरह एक प्रकार से जात्यादि का निषेध कर प्रकारान्तर से उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। तात्पर्य कि अपोह भी जात्यादि के विना नहीं टिक पाता और यदि जात्यादि का प्रत्यक्ष होता है तो उसकी सत्ता प्रमाणित हो ही जाती है।

यदि कहिए कि गोत्व मान भी लीजिए तो क्या हुआ, कारण कि वह ज्ञान अयथार्थ है। वस्तु तो गो है, गोत्व नहीं; वह (गोत्व) तो काल्पनिक है और जो प्रत्यक्ष उस काल्पनिक गोत्व का ज्ञान कराता है, वह भी काल्पनिक ही होगा, यथार्थ नहीं। फलतः प्रत्यक्ष अयथार्थ ही रहता है, उसके स्वरूप में परिवर्त्तन नहीं होता।

इसका उत्तर है कि नहीं, प्रत्यक्ष अयथार्थ नहीं रहता। अयथार्थ तो तब रहता जब उससे वस्तु का ज्ञान होता ही नहीं, किन्तु ज्ञान तो होता है। प्रत्यक्ष गोत्व (जाति) का ज्ञान कराते हुए गो (व्यक्ति) का भी ज्ञान कराता है। यह तो दुहरा लाभ हुआ। फिर आप कैसे कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान अयथार्थ है! वह तो सर्वथा तत्त्ववृत्ति—यथार्थ-विषयक सिद्ध होता है।

तृतीय युक्ति

६. यदि ग्राह्य-ग्राहक-भेद से ज्ञान मानें तो ज्ञानमात्र के सादृश्य के कारण उसका वैशिष्ट्य (भेद) अवास्तविक हो जायगा।

ग्राह्य—जिसका ग्रहण, अर्थात् ज्ञान हो।

ग्राहक—जो ग्रहण, अर्थात् ज्ञान करावे।

मान लीजिए कि गो का ज्ञान कराना है तो **गो-व्यक्ति** का ज्ञान **ग्राह्य** हुआ, और वह ज्ञान बौद्धों के अनुसार अपोह से प्राप्त होगा, अतः **अगो-व्यावृत्ति**-ज्ञान **ग्राहक** हुआ, अर्थात् गो से भिन्न जितनी वस्तुएँ हैं उनकी निराकृति (व्यावृत्ति) हो जाने पर गो ही बच रहेगी और अनायास उसका प्रत्यक्ष हो जायगा। तो गो के ज्ञान के लिए अगो-व्यावृत्ति का

ग्राह्यग्राहकभेदेन विज्ञानांशो मतो यदि।
विज्ञानमात्रसादृश्याद्विशेषोऽस्य विकल्पना ॥ ६ ॥

ज्ञान आवश्यक है और दोनों में ग्राह्य-ग्राहकभाव स्पष्ट है। इसे इस प्रकार देखें :

गो-व्यक्ति-ज्ञान—ग्राह्य।

अगो-व्यावृत्ति-ज्ञान—ग्राहक।

इन दोनों में से यदि गो को निकाल दें तो 'व्यक्ति' और 'व्यावृत्ति' आप-से-आप निकल जायँगी, क्योंकि उनकी पृथक् सत्ता नहीं है; वे गो पर ही आश्रित हैं। तब गणित की रीति से जो बचेगा वह होगा :

ज्ञान—ग्रा ।

ज्ञान—ग्राहक।

जब ज्ञान ही ग्राह्य भी होगा और वही ग्राहक भी तो दोनों में अन्तर क्या रहेगा? पर नियमतः दोनों में अन्तर होता है। अतः ज्ञान का स्वरूप जब **एक** (अभिन्न) हो जायगा तो एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का भेद नहीं रहेगा और भेद के अभाव में लोक-व्यवहार बाधित हो जायगा; साथ ही, प्रत्यक्ष ज्ञान का उद्देश्य भी सिद्ध नहीं होगा। प्रत्यक्ष तो वस्तुओं के पारस्परिक भेद को स्पष्ट करता है, उसे मिटाता नहीं और आपकी इस पद्धति से भेद तिरोहित हो जायगा। संसार में केवल ज्ञान ही ज्ञान रहेगा जिसका वस्तु से कोई सम्बन्ध न होगा। यह स्थिति कितनी अभिनन्दनीय होगी, यह आप ही सोच लीजिए।

चतुर्थ युक्ति

१०. सिद्धान्त है कि (किसी वस्तु का ज्ञान उस) वस्तु से ही होता है, (अतः) रूप आदि (की उत्पत्ति भी) उसी (वस्तु) से (माननी होगी) अन्यथा घट का ज्ञान अन्य (वस्तु) के द्वारा अभिहित होगा।

यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का भी ज्ञान होता है वह उसी वस्तु से प्राप्त होता है। फूल का ज्ञान फल से नहीं, फूल से ही होगा। घट के ज्ञान के लिए पट की आवश्यकता नहीं। और वस्तु जब भी रहेगी तब अपनी उपाधियों के साथ। किसी भी वस्तु का रूप, आकार, जाति, गुण, क्रिया, नाम आदि उसके साथ ही रहेंगे अतः उसका प्रत्यक्ष होते समय इनका भी प्रत्यक्ष अनिवार्य होगा। यदि ऐसा न मानें तो बैल में घोड़े का रूप दिखायी देगा; हाथी को देखकर ऊँट का बोध होगा; वृक्ष को देखकर कोई कह सकता है कि मैं घड़ा देख रहा हूँ। ऐसी स्थिति में ज्ञान का नियम रह ही नहीं जायगा।

इन तर्कों से सिद्ध है कि उपाधि-विशिष्ट व्यक्ति का ही प्रत्यक्ष होता है, उपाधि-रहित का नहीं, जैसा बौद्ध मानते हैं।

अर्थादेवेति रूपादेस्तत एवेति न्यायतः।
अन्यथा घटविज्ञानमन्येन व्यपदिश्यते ॥ १० ॥

अनुमान

११. कुछ लोग (कहते हैं) कि त्रिविध लिंग (हेतु) से (साध्य का) ज्ञान अनुमान है।

लिंग (साधन) से लिंगी (साध्य) का ज्ञान अनुमान कहलाता है। बहुत बार ऐसा होता है कि हमें केवल धुआँ दिखायी देता है, आग नहीं दिखायी देती, फिर भी धुआँ देखकर ही हम समझ लेते हैं कि वहाँ आग अवश्य है। ऐसा समझने का कारण यह है कि हमने जहाँ भी धुआँ देखा वहाँ आग अवश्य पायी; दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् आग के बिना धुआँ हो नहीं सकता। (अविनाभाव—न+विना+भाव—विना नहीं रहना—एक वस्तु के बिना दूसरी वस्तु का नहीं रहना। अविनाभाव को नित्य सम्बन्ध भी कहते हैं।) यहाँ आग का ज्ञान सीधे (प्रत्यक्ष) नहीं, धुएँ के द्वारा होता है, तात्पर्य कि आग के ज्ञान में धुआँ सहायक है, अतः धुआँ साधन (लिंग—चिह्न) हुआ और आग साध्य (लिंगी—जिसमें लिंग रहे)। साध्य-साधन के नित्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

ऊपर अनुमान के लक्षण में कहा गया कि साधन (धुआँ) से साध्य (आग) का ज्ञान अनुमान है। और अनुमान की रीढ़ है व्याप्ति—साध्य और साधन का नित्य सम्बन्ध। यदि उस सम्बन्ध में कभी अन्तर पड़ गया तो अनुमान टिक नहीं सकता।

अनुमान में **पंचावयव वाक्य** का प्रयोग होता है। वे पाँच अवयव निम्नलिखित हैं :

१. प्रतिज्ञा—पर्वत में आग है;

२. हेतु—कारण कि (वहाँ) धूआँ है;

३. दृष्टान्त—जहाँ धूआँ रहता है वहाँ आग रहती है, जैसे रसोईघर (अन्वय); जहाँ आग नहीं, वहाँ धूआँ नहीं, जैसे जलाशय (व्यतिरेक);

४. उपनय—इस पर्वत में धूआँ है;

५. निगमन—अतः इसमें आग है।

दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं : (१) अन्वय तथा (२) व्यतिरेक।

अन्वय—एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु का भी रहना।

व्यतिरेक—एक वस्तु के न रहने पर दूसरी वस्तु का भी न रहना।

अन्वय का अर्थ है विधि और व्यतिरेक का निषेध। एक ही बात को अन्वय (विधिवाक्य) के द्वारा भी कह सकते हैं और व्यतिरेक (निषेधवाक्य) के द्वारा भी। किसी

त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन।
तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनं चापरं विदुः॥ ११॥

बात को अधिक स्पष्ट और दृढ करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक दोनों का प्रयोग किया जाता है।

प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँचों वाक्यों की सहायता से अनुमान का पूण रूप खड़ा होता है।

हेतु या साधन के तीन रूप होते हैं :

पक्षसत्त्व (पक्ष में रहना), सपक्षसत्त्व (सपक्ष में रहना) और विपक्षव्यावृत्तत्व (विपक्ष में नहीं रहना)।

पक्ष उसे कहते हैं जहाँ **साध्य का संदेह** हो। उपर्युक्त उदाहरण में **पर्वत पक्ष** है, क्योंकि वहाँ आग (साध्य) है या नहीं इसका संदेह है। इसी संदेह का निवारण करने के लिए धुएँ (साधन) की सहायता ली जाती है। धुआँ देखकर यह संदेह मिट जाता है निश्चय हो जाता है कि वहाँ आग है।

सपक्ष का अर्थ है पक्ष के समान। सपक्ष उसे कहते हैं जिसमें **साध्य** का रहना **निश्चित** हो; जैसे रसोईघर। रसोईघर में आग निश्चित रूप से रहती है। वहीं बार-बार इस व्याप्ति का भी निर्धारण होता है कि जहाँ धुआँ रहता है वहाँ आग भी रहती है।

पक्ष और सपक्ष में अंतर यही है कि **पक्ष** में साध्य की स्थिति **संदिग्ध** रहती है और **सपक्ष** में **निश्चित**।

सपक्ष से जो विपरीत हो वह **विपक्ष**, अर्थात् जिसमें साध्य का अभाव (न रहना) निश्चित हो; जैसे जलाशय। जिस प्रकार रसोईघर (सपक्ष) में आग (साध्य) का रहना निश्चित है, उसी प्रकार जलाशय (विपक्ष) में आग का नहीं रहना निश्चित है। सपक्ष से बिलकुल विपरीत धर्मवाला होने से उसे विपक्ष कहते हैं।

पक्ष—जिसमें **साध्य** की स्थिति **संदिग्ध** हो।

सपक्ष—जिसमें **साध्य** की स्थिति **निश्चित** हो।

विपक्ष—जिसमें **साध्य** का **अभाव** हो।

तो, जो हेतु (साधन) पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व इन तीन गुणों से विशिष्ट हो उसीसे साध्य की सिद्धि होती है। उसे सद्धेतु (सत्+हेतु) भी कहते हैं, क्योंकि वह हेतु सत् (अच्छा—साध्य की सिद्धि करानेवाला) है। जिस हेतु से साध्य की सिद्धि नहीं होती उसे हेत्वाभास (हेतु का आभास, जो हेतु जैसा दीखे किंतु वस्तुतः हेतु हो नहीं) कहते हैं।

अनुमान की इस संक्षिप्त चर्चा से प्रस्तुत कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट हो जाना चाहिए।

प्रतिज्ञा

१२. विवाद का विषय जो धर्म है उससे विशेषित धर्मी पक्ष कहलाता है। उस (पक्ष) के निदश को प्रतिज्ञा कहते हैं।

जहाँ साध्य का संदेह हो वह पक्ष है। इसीको ग्रंथकार यहाँ प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हैं। विवाद का विषय वही होता है जिसमें संदेह हो; जिसमें संदेह नहीं उसमें विवाद कैसा? निर्दिष्ट उदाहरण में विवाद (संदेह) का विषय है आग (क्योंकि पर्वत में आग है या नहीं यह अनिश्चित है); उस आग (धर्म) से विशेषित (युक्त) धर्मी है पर्वत। धर्मी में धर्म रहता है; यहाँ पर्वत में आग है, अतः पर्वत धर्मी और आग धर्म। धर्मी को ही पक्ष कहते हैं। दूसरे शब्दों में आगरूपी संदिग्ध धर्म से युक्त धर्मी हुआ **पर्वत**। वह कहलायगा **पक्ष**।

पक्ष का निर्देश करनेवाला वाक्य है प्रतिज्ञा, जैसे, पर्वत में आग है। इसी प्रतिज्ञा (कथन) को प्रमाणित करने के लिए हेतु (धूमवत्त्व) उपस्थापित किया जाता है।

प्रतिज्ञा के दोष

१३. (१) तदर्थविरोधिनी, (२) हेतुविरोधिनी, (३) सिद्धान्तविरोधिनी, (४) सर्वागमाविरोधिनी, (५) प्रसिद्धधर्मा, (६) प्रत्यक्षबाधिनी, इस प्रकार (प्रतिज्ञा) दूषित होती है अर्थात् प्रतिज्ञा के इतने दोष हैं।

अभी निरूपणीय हैं प्रतिज्ञा के दोष, किन्तु दोषों का सम्यक् बोध तबतक नहीं हो सकता जबतक प्रतिज्ञा का स्पष्टीकरण न हो ले और चूँकि प्रतिज्ञा अनुमान का अंग है, इसलिए उसका लक्षण भी प्रसंग-प्राप्त था। अतएव पहले अनुमान का, उसके बाद प्रतिज्ञा का स्वरूप निर्धारित करके, अब दोषों का प्रतिपादन करते हैं।

उपर्युक्त ६ दोषों के लक्षण-उदाहरण आगे की कारिकाओं में हैं। ये सभी स्त्री-लिंग शब्द प्रतिज्ञा के विशेषण हैं।

तदर्थविरोधिनी प्रतिज्ञा

१४. उसी (प्रतिज्ञा) से उसके अर्थ का विरोध तदर्थविरोधिनी है। जैसे, मेरे पिता बाल्याकाल से ही संन्यासी रहे, जिनका मैं औरस पुत्र हूँ।

विविधास्पदधर्मेण धर्मी कृतविशेषणः।
पक्षस्तस्य च निर्देशः प्रतिज्ञेत्यभिधीयते॥ १२॥
तदर्थहेतुसिद्धान्तसर्वागमविरोधिनी।
प्रसिद्धधर्मा प्रत्यक्षबाधिनी चेति दुष्यति॥ १३॥
तयैव हि तदर्थस्य विरोधकरणं यथा।
यतिर्मम पिता बाल्यात्सूनुर्यस्याहमौरसः॥ १४॥

जो बात कही जाय वह अपना विरोध आप करे और उस तरह अग्राह्य हो जाय तो उसे तदर्थविरोधिनी कहेंगे। जैसे कोई कहे कि मैं वैसे पिता का औरस पुत्र हूँ जो बाल-संन्यासी हैं, तो यह कथन आत्मविरोधी है, क्योंकि बाल-संन्यासी का कोई पुत्र कैसे हो सकता है ?

हेतुविरोधिनी

१५. आत्मा है या प्रकृति इसे हेतुविरोधिनी प्रतिज्ञा समझना चाहिए। इस धर्मी (आत्मा या प्रकृति) के असिद्ध होने से उसका धर्म (अस्तित्व) भी सिद्ध नहीं होगा।

धुआँ (धर्म) देखकर आग (धर्मी) का ज्ञान इसीलिए सम्भव होता है कि दोनों पहले से दृष्ट एवं सिद्ध हैं, तथा उनका नित्य सम्बन्ध सुज्ञात है। यदि उनमें से कोई भी असिद्ध (अप्रमाणित) हो तो अनुमान का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। अगर किसी ने धुआँ ही नहीं देखा या आग ही नहीं देखी तो वह किस आधार पर अनुमान करेगा ?

सांख्य-दर्शन आत्मा और प्रकृति को नित्य मानता है। अब इस आधार पर कोई कहे कि आत्मा और प्रकृति की सत्ता है, क्योंकि वे नित्य हैं तो प्रतिपक्षी आपत्ति कर सकता है कि आत्मा और प्रकृति की सत्ता में प्रमाण क्या है ? क्या आपने उन्हें देखा है ? यदि आत्मा और प्रकृति, जो धर्मी हैं, स्वयं असिद्ध हैं, तो उनका धर्म नित्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? धर्मी के रहने पर ही धर्म, आग के रहने पर ही गरमी (या धुआँ) सम्भव है। आग नहीं तो गरमी कैसे ? उसी तरह आत्मा या प्रकृति जब स्वयं असिद्ध है तब उसका नित्यत्व कसे सिद्ध होगा ? इसलिए ऐसा हेतु देना हेतुविरोधिनी प्रतिज्ञा का उदाहरण खड़ा करना होगा।

पूर्वोक्त दोष का ही अन्य उदाहरण से स्पष्टीकरण

१६. ध्वनि प्रसिद्ध (पूर्व सिद्ध) धर्मी है; (अतः) वह नित्य है या अनित्य, इस धर्म (भेद) के विषय में वादियों के बीच विवाद हो सकता है।

दूसरा उदाहरण देकर पूर्व कारिका को ही स्पष्ट करते हैं। धर्मी का अस्तित्व सिद्ध हो तो उसके धर्म को लेकर कोई विवाद करे, यह बात समझी जा सकती है। जैसे, यदि राम नाम का कोई व्यक्ति है तो उसके सम्बन्ध में यह विवाद हो सकता है कि वह गोरा है या साँवला, धनी है या निर्धन, पर यदि राम नाम का व्यक्ति ही नहीं तो उसके धर्म (गुण) को लेकर झगड़ने का क्या अर्थ ?

अस्त्यात्मा प्रकृतिर्वेति ज्ञेया हेत्वपवादिनी।
धर्मिणोऽस्याप्रसिद्धत्वात्तद्धर्मोऽपि न सेत्स्यति ॥ १५ ॥
शाश्वतोऽशाश्वतो वेति प्रसिद्धे धर्मिणि ध्वनौ।
जायते भेदविषयो विवादो वादिनोर्मिथः ॥ १६ ॥

आत्मा या प्रकृति का अस्तित्व कल्पित ही है, वास्तविक नहीं, क्योंकि किसी ने देखा-सुना नहीं है। जब उसीका रहना निश्चित नहीं तो उसकी नित्यता-अनित्यता पर विवाद करना निष्प्रयोजन है।

इसके प्रतिकूल यह दूसरा उदाहरण लीजिए जिसमें धर्मी (ध्वनि) सिद्ध है। ध्वनि (आवाज) का अस्तित्व सभी को मान्य है; भाषा के रूप में उसीसे मानव जाति का क्रिया-कलाप संपन्न होता है। अब ध्वनि को लेकर कोई चाहे तो यह विवाद कर सकता है कि ध्वनि नित्य है या अनित्य। जैसे, नैयायिक ध्वनि को अनित्य मानते हैं और मीमांसक या वैयाकरण नित्य। यहाँ हेतुविरोधिनी प्रतिज्ञा का दोष नहीं है।

'भेदविषयः' में भेद धर्म का वाचक है : भिद्यते धर्मी येन स भेदः धर्मः—जिससे धर्मी का भेद प्रकट हो; धर्म से ही धर्मी का भेद प्रकट होता है। भेद-विषयक अर्थात् धर्म के विषय में।

स्वसिद्धान्तविरोधिनी

१७. स्वसिद्धान्तविरोधिनी (प्रतिज्ञा) वह है जिसमें अपने ही सिद्धान्त का विरोध हो। जैसे, कणाद कहें कि शब्द नित्य (अविनश्वर) है।

अपने स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ कहना इस दोष का लक्षण है। जैसे, वैशेषिक मत में शब्द अनित्य माना गया है। अब, यदि कणाद (वैशेषिक मत के प्रतिष्ठापक), जिन्होंने स्वयं शब्द (ध्वनि) को अनित्य बताया है, उसे नित्य कहने लगें, या कोई साम्यवादी पूँजीवाद का समर्थन करने लगे तो यह स्वसिद्धान्तविरोधिनी प्रतिज्ञा होगी।

कणभक्ष—कण खानेवाला, अर्थात् कणाद नामक ऋषि जो वैशेषिक दर्शन के प्रणेता हैं।

सर्वागमविरोधिनी

१८. जिसका सभी शास्त्रों से विरोध हो वह सर्वागमविरोधिनी। जैसे, शरीर पवित्र है, प्रमाण तीन हैं या प्रमाण नहीं हैं।

वैसा कथन, जिसका किसी शास्त्र से समर्थन न हो, इस दोष में गिना जायगा। इसके तीन उदाहरण हैं।

किसी ने कहा कि 'शरीर पवित्र है' तो इसका कोई शास्त्र समर्थन नहीं करता; शरीर को समग्रतः सभी अपवित्रताओं (कायिक, मानसिक, वाचिक) का आगार माना गया है।

स्वसिद्धान्तविरोधित्वाद्विज्ञेया तद्विरोधिनी।
कणभक्षो यथा शब्दमाचक्षीताविनश्वरम्॥ १७॥
सर्वशास्त्रविरुद्धत्वात्सर्वागमविरोधिनी।
यथा शुचिस्तनुस्त्रीणि प्रमाणानि न सन्ति वा॥ १८॥

संभव है कि इस उदाहरण में कोई यह कहकर आशंका करे कि योगियों का शरीर तो तपोबल से पवित्र हो ही जाता है, फिर इसमें विरोध कहाँ है ?

अतः दूसरा उदाहरण देते हैं। प्रमाण तीन हैं, यह प्रतिज्ञा सभी शास्त्रों के विरुद्ध पड़ती है। यथा, चार्वाक एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं; बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दो को; नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन चार को; मीमांसा के प्रभाकर-मत में पाँच प्रमाण हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। मीमांसा के भाट्ट (कुमारिल भट्ट के) मत एवं वेदान्त ने छह प्रमाण माने हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि।

इस प्रकार प्रमाणों की संख्या तीन कहीं नहीं है। अतः यह कथन सर्वशास्त्रविरोधी है। पर इसमें भी आपत्ति हो सकती है क्योंकि पतंजलि ने योगसूत्र में तीन ही प्रमाण माने हैं :

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। — योगसूत्र : १।७

—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द) (ये तीन) प्रमाण) हैं।

दूसरे उदाहरण में भी अव्याप्ति देखकर तीसरा उदाहरण देते हैं।

यदि कोई कहे कि प्रमाण नामक वस्तु है ही नहीं तो यह निश्चय ही सभी शास्त्रों से विरुद्ध है, क्योंकि संख्या में चाहे जो भी अन्तर हो, प्रमाण मानते हैं सभी। अतः यह तीसरा सर्वागमविरोधिनी प्रतिज्ञा का अखंडनीय उदाहरण है।

प्रसिद्धधर्मा

१९. प्रसिद्धधर्मा उसे कहते हैं जिसके धर्म को असंदिग्ध रूप में बच्चा तक जानता है, जैसे ध्वनि कान से सुनी जाती है।

अनुमान का प्रयोजन है असिद्ध की सिद्धि। जो सिद्ध ही है उसके लिए अनुमान का प्रयोग निरर्थक है और निरर्थकता भी दोष ही है।

प्रसिद्धधर्मा दोष वहाँ होता है जहाँ वैसी बात को प्रमाणित करने की चेष्टा करें जिसे आबालवृद्ध सभी जानते हों। जैसे, कोई बड़ी तैयारी से यह साबित करने चले कि ध्वनि कान से सुनी जाती है या रूप आँख से देखा जाता है। पर इसे कौन नहीं जानता ? तो यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि इसको प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं है।

प्रत्यक्षबाधिनी

२०. प्रत्यक्षबाधिनी (प्रतिज्ञा) वह है जो इस (प्रत्यक्ष) प्रमाण से ही बाधित हो; जैसे, आग ठंडी है; रूप नहीं है; चंद्रमा गरम है।

आकुमारमसन्दिग्धधर्माहितविशेषणा।
प्रसिद्धधर्मेति मता श्रोत्रग्राह्यो ध्वनिर्यथा॥ १९ ॥
प्रत्यक्षबाधिनी तेन प्रमाणेनैव बाध्यते।
यथा शीतोऽनलो नास्ति रूपमुष्णः क्षपाकरः॥ २० ॥

जिस उक्ति में प्रत्यक्ष बाधा दीखे वह प्रत्यक्षबाधिनी कहलाती है। जैसे, कोई कहे कि आग ठंडी है तो इसमें प्रत्यक्ष विरोध है, क्योंकि आग गरम होती है। इसी तरह रूप का अभाव कहना भी प्रत्यक्षविरुद्ध है कारण कि संसार में जो कुछ है, नाम-रूपात्मक ही है। प्रत्येक वस्तु का कुछ-न-कुछ रूप होता है और कोई-न-कोई नाम। चंद्रमा को गरम बताना वैसा ही अग्राह्य है।

हेतु और हेत्वाभास

२१. हेतु के तीन लक्षण समझने चाहिए (१) दोनों स्वपक्ष-परपक्ष—वादी-प्रतिवादी में हो, अर्थात् दोनों द्वारा स्वीकृत हो; (२) सपक्ष में हो और (३) विपक्ष में न हो। इसके विपर्यय (हेरफेर) से हेत्वाभास होता है।

हेतु (साधन) के इन तीन लक्षणों का परिचय ११वीं कारिका में दिया जा चुका है। आगे भी व्याख्या हुई है।

'सन् द्वयोः' की व्याख्या

२२. 'दोनों में हो' का अर्थ यह है कि स्वपक्ष और परपक्ष में सिद्ध हो अर्थात् वादी तथा प्रतिवादी दोनों को स्वीकार हो। पक्ष (धर्मी) तो (दोनों की दृष्टि में) एक ही होगा (किंतु) फलभेद के कारण वह दो प्रकार का हो जाता है।

ऊपर की कारिका में कह चुके हैं कि 'दोनों में हो' प्रश्न है कि किन दोनों में? उसकी व्याख्या करते हैं। हेतु ऐसा होना चाहिए जिसका पक्ष में (स्थित) रहना वादी-प्रतिवादी दोनों को मान्य हो—यदि दोनों का मिलन-बिन्दु कोई हो ही नहीं तो तर्क होगा किस आधार पर? इसलिए हेतु पर दोनों का ऐकमत्य आवश्यक है, निष्कर्ष में भेद भले ही हो।

पक्ष के संबंध में भी यही बात लागू है; उसमें भी वादी-प्रतिवादी को एकमत होना चाहिए। कहिए कि पक्ष भी एक ही रहा तो विवाद का अवकाश क्या है? यही कि निष्कर्ष (फल) दोनों के भिन्न हैं। जैसे, ध्वनि धर्मी एक ही है पर किसी के मत में नित्य और किसी के मत में अनित्य होने से दोनों के निष्कर्ष में भेद हो जाता है।

२३. परपक्ष को स्वीकार नहीं करने और उसमें हेतु की स्थिति नहीं मानने पर अन्यतरासिद्ध (नामक) हेत्वाभास की व्यवस्था कैसे (होगी)?

सन्द्वयोः सदृशे सिद्धो व्यावृत्तस्तद्विपक्षतः।
हेतुस्त्रिलक्षणो ज्ञेयो हेत्वाभासो विपर्ययात्॥ २१॥
सन्द्वयोरिति यः सिद्धः स्वपक्षपरपक्षयोः।
अभिन्नलक्षणः पक्षः फलभेदादयं द्विधा॥ २२॥
परपक्षानुपादानं तद्वृत्तेश्चानुदाहृतौ।
कथमन्यतरासिद्धहेत्वाभासव्यवस्थितिः॥ २३॥

पूर्व कारिका में कह चुके हैं कि हेतु ऐसा होना चाहिए जो वादी-प्रतिवादी दोनों के पक्ष में वर्त्तमान हो तभी तर्क का सामान्य आधार प्रस्तुत हो सकता है। उसी को यहाँ और स्पष्ट करते हैं।

यदि प्रतिवादी के पक्ष को स्वीकार किया ही नहीं जाय और हेतु की सत्ता उसमें मानी ही नहीं जाय तो फिर अन्यतरासिद्ध नामक हेत्वाभास की क्या स्थिति होगी ? अर्थात् उसकी व्यवस्था का कोई आधार ही नहीं रह जायगा।

असत् या मिथ्या हेतु को हेत्वाभास कहते हैं, अर्थात् जो हेतु न होकर भी हेतु के जैसा दिखायी दे। हेत्वाभास तर्क का बहुत बड़ा दोष है, यह पहले कहा गया है।

हेत्वाभास के अनेक प्रकार हैं; जैसे : सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध, बाधित। इनमें असिद्ध के भी चार भेद हैं— उभयासिद्ध, अन्यतरासिद्ध, तद्भावासिद्ध और अनुमेयासिद्ध। इन नामों में ही लक्षण भी सन्निविष्ट हैं। उभयासिद्ध, अर्थात् जो दोनों पक्षों में असिद्ध हो; इसी प्रकार अन्यतरासिद्ध का अर्थ हुआ कि जो किसी एक में असिद्ध हो।

हेत्वाभासों के अधिक विवरण के लिए मुक्तावली या वैशेषिकभाष्य आदि ग्रंथ देखने चाहिए। यहाँ उनकी चर्चा से अनावश्यक विस्तार होगा।

२१वीं कारिका के 'सदृशे सिद्धः' की व्याख्या

२४. साध्यधर्म (अग्नि) के अनुगम (विद्यमानता) के कारण जो (पक्ष—पर्वत के) समान हो (जैसे महानस), उसमें जो रहे। (उसे ही सदृश में रहना कहेंगे) भिन्न भी वह (धर्म) सजाति होने से अभिन्न (एक) जैसा व्यवहृत होता है।

'सदृशे सिद्धः' में दो अवयव हैं : सदृशे और सिद्धः। कारिका के पूर्वार्ध में दोनों की व्याख्या है। पहले **सदृशे** का अर्थ : पक्ष के समान साध्य धर्म जिसमें रहे वही उसका सदृश, अर्थात् सपक्ष कहा जायगा। पक्ष है पर्वत, साध्य धर्म है अग्नि। अब पर्वत में जिस प्रकार अग्नि की स्थिति है वैसी ही अग्नि की स्थिति जहाँ हो वही उसका सदृश होगा। तो ऐसा स्थान महानस (रसोईघर) है। सदृश होने से ही उसे सपक्ष कहते हैं। **सिद्धः** का अर्थ है निश्चित रूप से रहना।

आप कहते हैं कि जो पक्ष में रहे वही सपक्ष में भी रहे तो उसको 'सदृशे सिद्धः' कहते हैं, पर प्रश्न है कि एक ही वस्तु दो स्थानों में कैसे रह सकती है ? जो आग मेरे घर में जल रही है वह आपके घर की आग से भिन्न है, जो धुआँ मेरे यहाँ निकल रहा है वही आपके यहाँ नहीं निकल रहा है। फिर, आप कैसे कहते हैं कि जो आग पर्वत में है वही

साध्यधर्मानुगमतः सदृशस्तत्र यश्च सन्।
अन्योऽप्यसावेक इव सामान्यादुपचर्यते॥ २४॥

महानस में भी ? समाधान : यह ठीक है कि दोनों भिन्न हैं, किन्तु उनमें साजात्य (सजातीयता) तो है ही; दोनों की जाति एक है, अर्थात् दोनों अग्नि-जाति की हैं। व्यक्ति के रूप में दोनों भिन्न हैं, जाति के रूप में एक। इसी साजात्य को लेकर भेद होने पर भी अभेद-व्यवहार होता है।

२१वीं कारिका के 'व्यावृत्तस्तद्विपक्षतः' की व्याख्या

२५. उस (पक्ष—पर्वत) के जो विसदृश (असमान) हो वह विपक्ष है। उसमें (विपक्ष में) जो नहीं रहे उसे व्यावृत्त, कहेंगे। इस प्रकार दो (पक्ष और सपक्ष) में अनुगति (स्थिति) और एक (विपक्ष) से व्यावृत्ति यही हेतु की साधुता (निर्दोषता) है।

पक्ष के जो विरुद्ध धर्मवाला हो वह विपक्ष। पक्ष (पर्वत) में आग है तो विपक्ष (जलाशय) में जल। विपक्ष-व्यावृत्त का अर्थ है कि जो विपक्ष में नहीं रहे। इस प्रकार हेतु तब निर्दोष माना जायगा जब वह पक्ष में रहे, सपक्ष में रहे किन्तु विपक्ष में नहीं रहे। इसी को ११वीं कारिका में पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्त्व कहा गया है।

द्वयैकानुगतिव्यावृत्ति में यथासंख्य अन्वय अपेक्षित है, द्वय एक अनुगति व्यावृत्ति—द्वय के साथ अनुगति और एक के साथ व्यावृत्ति अन्वित होगी। द्वय से अभिप्रेत हैं पक्ष एवं सपक्ष; पक्ष एवं सपक्ष में अनुगति (स्थिति)। एक से अभिप्रेत है विपक्ष; विपक्ष से व्यावृत्ति।

अग्नि की स्थिति प्रमाणित करनेवाला हेतु है धूम; वह पक्ष (पर्वत) में है; सपक्ष (महानस) में भी है, किन्तु विपक्ष (जलाशय) में नहीं है। इसीलिए वह सद्धेतु या निर्दोष हेतु है। यदि इसमें कोई त्रुटि होती तो हेत्वाभास हो जाता। इसीको **हेतुहीन दोष** कहेंगे।

दृष्टान्तहीन दोष

२६. साध्य और साधन (इन दो) धर्मों से सिद्ध को दृष्टान्त कहते हैं। वह विपर्यय से भी होता है। उनके (साध्य-साधन क) नहीं रहने से दृष्टान्ताभास होता है।

दृष्टान्तहीन दोष का निरूपण करना है, अतः पहले दृष्टान्त का स्पष्टीकरण करते हैं।

विपक्षस्तद्विसदृशो व्यावृत्तस्तत्र यो ह्यसन्।
इति द्वयैकानुगतिर्व्यावृत्तिर्लक्ष्मसाधुता॥ २५॥
साध्यसाधनधर्माभ्यां सिद्धो दृष्टान्त उच्यते।
तद्विपर्ययतो वापि तदाभस्तदवृत्तितः॥ २६॥

साध्य (अग्नि) और साधन (धुआँ) इन दो धर्मों का रहना जहाँ निश्चित हो, अर्थात् ये दोनों जहाँ पाये जायँ वह दृष्टान्त है। दृष्टान्त के दो भेद ११वीं कारिका की व्याख्या में निर्दिष्ट हैं।

जहाँ साध्य-साधन दोनों रहें वह **अन्वय** दृष्टान्त।

जहाँ ये दोनों **नहीं रहें** वह **व्यतिरेक** दृष्टान्त।

प्रस्तुत कारिका के प्रथम-द्वितीय चरणों में अन्वय दृष्टान्त का लक्षण है; तृतीय चरण में व्यतिरेक का और चतुर्थ में दृष्टान्ताभास का।

दृष्टान्त विपर्यय से भी होता है, यह कहने का अभिप्राय यह है कि वह व्यतिरेक से भी होता है। यहाँ विपर्यय व्यतिरेक का वाचक है।

अन्वय और व्यतिरेक को क्रमशः साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्त भी कहते हैं। अन्वय या साधर्म्य दृष्टान्त का उदाहरण है महानस (क्योंकि उसमें आग और धुआँ दोनों वर्त्तमान हैं और उसका पर्वत से साधर्म्य है)। व्यतिरेक या वैधर्म्य दृष्टान्त का उदाहरण है जलाशय (क्योंकि उसमें न आग है, न धुआँ, इसलिए पर्वत से उसका वैधर्म्य है)।

अन्वय और व्यतिरेक दोनों साध्य की सिद्धि में सहायक होते हैं, अतः दोनों दृष्टान्त कहलाते हैं।

तदाभः तदवृत्तितः—वृत्ति=रहना, न वृत्ति—अवृत्ति=नहीं रहना; तत् अवृत्तितः= तत् उसके, अर्थात् साध्य-साधन के, अवृत्तितः नहीं रहने से। तदाभः—तत्=वह, अर्थात् दृष्टान्त, आभः=जैसा; तदाभः, अर्थात् दृष्टान्त के जैसा; जो वस्तुतः दृष्टान्त हो नहीं पर दृष्टान्त के जैसा प्रतीत हो, अर्थात् दृष्टान्ताभास।

जो दृष्टान्त के रूप में उपन्यस्त हो पर उसमें साध्य या साधन हो ही नहीं तो उसे दृष्टान्त न कहकर दृष्टान्ताभास कहेंगे। दृष्टान्त तो वैसा होना चाहिए जो साध्य-साधन से युक्त होकर कथन को प्रमाणित करे। महानस इसलिए दृष्टान्त है कि उसमें साध्य-साधन (आग और धुआँ) दोनों रहते हैं। इसके विपरीत यदि कोई कहे कि पर्वत में आग है जिस तरह पुस्तक में, तो पुस्तक को दृष्टान्त न कहकर दृष्टान्ताभास कहेंगे, क्योंकि उसमें न आग है, न धुआँ।

दृष्टान्तहीन दोष वहीं होता है जहाँ दृष्टान्ताभास रहता है।

दृष्टान्त का दूसरा लक्षण

२७. दूसरों के द्वारा वह (दृष्टान्त) दो प्रकार से कहा जाता है—जिससे साध्य के साथ साधन का रहना और उसके (साध्य के) अभाव में (साधन का) नहीं रहना बताया जाय, वह दृष्टान्त है।

साध्येन लिङ्गानुगतिस्तदभावे च नास्तिता।
ख्याप्यते येन दृष्टान्तः स किलान्यैर्द्विधोच्यते॥ २७॥

ग्रन्वय : येन साध्येन लिङ्गानुगतिः तदभावे (साध्याभावे) च (लिङ्गस्य) नास्तिता ख्याप्यते स दृष्टान्तः ग्रन्यैः द्विधा उच्यते किल ।

जो यह बतावे कि जहाँ साध्य रहता है वहाँ साधन भी रहता है, या जहाँ साध्य नहीं रहता है वहाँ साधन भी नहीं रहता वह दृष्टान्त है ।

दूसरे शब्दों में जो साध्य ग्रौर साधन के बीच व्याप्ति (नित्य सम्बन्ध) को निर्धारित करे वही दृष्टान्त है ।

दृष्टान्त का व्याप्ति-निर्धारण-परक यह लक्षण भामह को ग्रभिमत नहीं है यह 'किल' इस ग्रनास्थासूचक ग्रव्यय से ध्वनित होता है ।

ग्रनुमान-विषयक दोषों का उपसंहार

२८. (अनुमान का) दोष है न्यूनता आदि का कथन; न्यूनता हेतु (साधन) आदि की। चूँकि वाद के मूल में प्रतिज्ञा अवश्य रहती है, अतः उसकी न्यूनता अभिमत नहीं है।

प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त की सविस्तर चर्चा करके ग्रब ग्रनुमान-सम्बन्धी दोष का उपसंहार करते हैं ।

ग्रनुमान के ग्रवयवों में किसी प्रकार की न्यूनता या त्रुटि रहने से दोष होता है । जैसे, प्रतिज्ञा के रूप में जो बात प्रस्तुत की गयी उसका समर्थन करने के लिए हेतु नहीं हो या दृष्टान्त नहीं हो या हा भी तो विचार करने पर वह हेत्वाभास ग्रथवा दृष्टान्ताभास निकले तो ग्रनुमान की पुष्टि नहीं हो सकती । इसलिए ये ग्रनुमान के दोष हैं ।

कहिए कि केवल हेतु ग्रौर दृष्टान्त की ही न्यूनता का ग्राप उल्लेख करते हैं; प्रतिज्ञा की न्यूनता का भी क्यों नही करते ? इसलिए कि प्रतिज्ञा के ग्राधार पर ही तो सारा तर्क खड़ा होता है, यदि उसी में कोई न्यूनता ग्रायी तो वाद होगा कैसे; उसे तो पूर्ण होना ही चाहिए । इसीलिए प्रतिज्ञा की न्यूनता का निर्देश नहीं किया ।

जाति

२९. दोषाभास को जाति कहते हैं। वे साधर्म्यसम आदि हैं। उसके प्रपंच अनेक प्रकार के हैं; बहुत होने के कारण यहाँ नहीं कहे गये।

दूषणं न्यूनताद्युक्तिर्न्यूनं हेत्वादिनाथ च ।
तन्मूलत्वात्कथायाश्च न्यूनं नेष्टं प्रतिज्ञया ॥ २८ ॥
जातयो दूषणाभासास्ताः साधर्म्यसमादयः ।
तासां प्रपञ्चो बहुधा भूयस्त्वादिह नोदितः ॥ २९ ॥

जिस तरह प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त आदि में न्यूनता के कारण आभासत्व आता है उसी तरह बहुत बार वस्तुतः दोष नहीं रहने पर भी ऐसा प्रतीत होता है जैसे दोष हो। अतः उसे दोष नहीं कहकर दोषाभास कहेंगे। दोषाभास को ही न्याय की बोली में जाति कहते हैं। गौतम ने सोलह ज्ञातव्य पदार्थों में इसका भी निर्देश किया है।

प्रमाण, प्रभेद, संशय, प्रयोजन, दष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। —न्यायदर्शन १।१।१

जाति के २४ भेद गौतम ने गिनाये हैं: (न्यायदर्शन ५।१।१)। उनका वर्णन यहाँ अनावश्यक है।

निरूपित न्याय-सिद्धान्त का काव्य में उपयोग-प्रदर्शन

३०. काव्य सम्बन्धी न्याय का स्वरूप दूसरा है जो (आगे) कहा जायगा। यह (पूर्वोक्त) शास्त्रगर्भ काव्यों को दृष्टि में रखकर कहा गया है।

भामह ने प्रथम परिच्छेद की १७वीं कारिका में काव्य के भेद करते हुए शास्त्र-काव्य का उल्लेख किया है। यहाँ उसी की ओर इंगित है।

एक तो शास्त्राश्रित काव्य होता है दूसरा उससे भिन्न। शास्त्राश्रित काव्य में शास्त्रीय विषयों, जैसे न्याय, व्याकरण आदि का उपयोग होता है। दूसरी कोटि के काव्य को लोकाश्रित कह सकते हैं। उसमें लोक-व्यवहार का रमणीय निरूपण रहता है।

अबतक जो न्यायविषयक चर्चा हुई वह शास्त्राश्रित काव्य की दृष्टि से। लोकाश्रित काव्य का न्याय दूसरा है जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

कहिए कि अबतक की चर्चा से क्या व्यावहारिक लाभ हुआ? तो सुनिए।

उदाहरण

३१. संसार में कारण को नित्य और अविनाभावी (नियत) कहा जाता है (पर यह कथन अग्राह्य है), क्योंकि यदि वह कारण है तो नित्य नहीं (हो सकता) और नित्य है तो कारण नहीं (हो सकता)।

अपरं वक्ष्यते न्यायलक्षणं काव्यसंश्रयम्।
इदन्तु शास्त्रगर्भेषु काव्येष्वभिहितं यथा॥ ३०॥
अथ नित्याविनाभावि दृष्टं जगति कारणम्।
कारणञ्चेन्न तन्नित्यं नित्यञ्चेत्कारणं न तत्॥ ३१॥

कारण का अर्थ है उत्पन्न करनेवाला किन्तु जो किसी को उत्पन्न करता है वह किसी से स्वयं उत्पन्न होता भी है। अतः उत्पन्न होने से वह कार्य कहलायगा और कार्य विनश्वर होता है; जो भी वस्तु उत्पन्न होती है उसका विनाश निश्चित है; इसलिए कार्य को नित्य नहीं कह सकते; नित्य वही कहलाता है जो सदा रहे— न उत्पन्न हो, न विनष्ट हो। इस प्रकार यदि कोई कहता है कि कारण नित्य है तो उसका यह कथन अमान्य है; कारण हुआ तो नित्य नहीं और नित्य हुआ तो कारण नहीं।

जो न्याय से सर्वथा अपरिचित है वह इस प्रकार की भ्रांति से न तो स्वयं आसानी से बच सकता है न दूसरों की भूल को पकड़ सकता है। इसलिए न्याय की जो संक्षिप्त चर्चा की गयी है वह अनुपादेय नहीं है।

प्रसक्त प्रकरण का उपसंहार

३२. इस (पूर्वोक्त) रीति से प्रयोग सम्बन्धी दोषों का भेदसहित लक्षण प्रतिज्ञा आदि न्याय की सिद्धि के लिए शास्त्रों में अन्य प्रकार से कहा गया है।

पंचम परिच्छेद के आरम्भ से अबतक प्रतिज्ञाहीन आदि दोषों का भेदसहित निरूपण हुआ। उसका उपसंहार करते हुए भामह कहते हैं कि यह प्रकरण निरुपयोगी नहीं है। इसकी उपयोगिता है प्रतिज्ञा आदि के प्रयोग में जो दोष होते हैं उनसे परिचय कराना, क्योंकि किसी वस्तु को बिना अच्छी तरह जाने उसका ग्रहण या त्याग सुकर नहीं होता।

कारिका का अन्वय : अनेन वर्त्मना प्रयोगदोषाणां भेदेन (सह) लक्ष्म सन्धादि-साधनासिद्ध्यै शास्त्रेषु अन्यथा उदितम्।

सन्धा—प्रतिज्ञा। साधना—न्याय। सिद्धि—व्युत्पत्ति।

काव्य में प्रतिज्ञा आदि के दोषों का निरूपण

३३. उसके (न्यायशास्त्र के) जाननेवालों ने काव्य-प्रयोगों में उसका भिन्न प्रकार से उद्घाटन किया है। उनमें (शास्त्र और काव्य में अन्तर यह है कि) काव्य लोकाश्रित होता है और आगम तत्त्वदर्शी।

लक्ष्म प्रयोगदोषाणां भेदेनानेन वर्त्मना।
सन्धादिसाधनासिद्ध्यै शास्त्रेषूदितमन्यथा ॥ ३२ ॥
तज्ज्ञैः काव्यप्रयोगेषु तत्प्रादुष्कृतमन्यथा।
तत्र लोकाश्रयं काव्यमागमास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३३ ॥

उपर्युक्त प्रतिज्ञा, हेतु आदि के दोषों की स्थिति शास्त्र और काव्य में विभिन्न प्रकार से पायी जाती है, क्योंकि शास्त्र और काव्य के स्वरूप में ही भेद है। काव्य लोकाश्रित होता है, अर्थात् सांसारिक वस्तुओं को आधार बनाकर चलता है और उसका लक्ष्य होता है चमत्कार उत्पन्न करना। किन्तु शास्त्र तत्त्वदर्शन का आग्रही होता है; वह काव्य के समान दृश्यमान जगत् को ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकार कर लेता, उसके पीछे जो वास्तविकता है उसे देखने का प्रयास करता है। उसका लक्ष्य है सत्य-असत्य, नित्य-अनित्य का अन्वेषण कर सांसारिक दुःखों से मुक्ति का मार्ग बताना। अतः विभिन्न लक्ष्य-वाले दो विषयों में किसी वस्तु का निरूपण एक प्रकार से कैसे संभव है? यही कारण है कि न्याय में निरूपित प्रतिज्ञा आदि से काव्योपयोगी प्रतिज्ञा आदि का पृथक् निरूपण उचित तथा अपेक्षित है।

उदाहरण

३४. आकाश तलवार के जैसा (कृष्णवर्ण) है; यह शब्द दूर तक जाता है; नदियों का जल सदा वही रहता है; महान् ज्योतियों का स्थैर्य अद्भुत है; रूप आदि की वृत्ति द्रव्यानुसार होती है (और उसका) नाश भी होता है।

पूर्व कारिका में लोक और शास्त्र के दृष्टिभेद का उल्लेख कर चुके हैं। उसी को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। लौकिक व्यवहार में तत्त्वतः भ्रांत वस्तु भी स्वीकृत हो जाती है पर शास्त्र उसका ग्रहण नहीं कर सकता। जैसे, तथ्य है कि आकाश का कोई रंग नहीं होता, फिर भी सभी उसे नीला कहते हैं। अब, काव्य उसकी नीलिमा को तथ्य मानकर वर्णन करता है पर शास्त्र जब भी कहेगा तो उसे वर्ण-रहित ही। इसी तरह, शब्द जाता है, यह कहना तात्त्विक दृष्टि से अनुपपन्न है, क्योंकि शब्द में क्रियाकारिता नहीं है। नदियों का जल ऋतु के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है पर कवि ऐसा मान-कर वर्णन करते हैं, जैसे जल सदा एक जैसा हो। इससे अच्छा उदाहरण है नदियों में कमल का वर्णन। नदियों में कमल होता नहीं फिर भी कवि वर्णन करते हैं। इसी प्रकार प्रकाश में स्थिरता बताना अवास्तविक है। जैसे-जैसे प्रकाश का आश्रय आधार जलता जाता है वैसे-वैसे प्रकाश में भी परिवर्त्तन होता जाता है। कहने का अभिप्राय यह कि रूप, क्रिया आदि की स्थिति आश्रय-द्रव्य के अनुसार ही होती है पर काव्य से उससे भिन्न वर्णन भी पाया जाता है। यदि ऐसा न होता तो रूप-रंग से रहित आकाश को नीला कैसे कहा जाता? शब्द में गति की कल्पना कैसे की जाती? जलाशयों में जल को अथवा काष्ठ आदि में ज्वाला को सदा एक समान स्थित कैसे माना जाता? इससे स्पष्ट हैं कि काव्य और शास्त्र की दृष्टि में भेद है और उसके अनुसार उनके द्वारा वर्णनीय विषयों में भी भेद रहेगा।

असिसंकाशमाकाशं शब्दो दूरानुपात्ययम्।
तदेव वापीसिन्धूनामहो स्थेमा महार्चिषः।
रूपादीनां यथा द्रव्यमाश्रयो नश्यतीति च ॥ ३४ ॥

प्रतिज्ञा

३५. अभिमत कार्य की स्वीकृति (संकल्प) को प्रतिज्ञा कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम और कोप पर आश्रित होने से वह (प्रतिज्ञा) चार प्रकार की होती है।

लोकाश्रित काव्य के दोषों की चर्चा के प्रसंग में पहले प्रतिज्ञा को विवृत करते हैं जो अनुमान की प्रतिज्ञा से भिन्न है।

अभिमत कार्य को सम्पन्न करने के लिए जो संकल्प किया जाता है उसे प्रतिज्ञा कहते हैं। उस प्रतिज्ञा के मूल में धर्म, अर्थ, काम, कोप में से कोई रह सकता है। इस प्रकार धर्ममूलक, अर्थमूलक, काममूलक और कोपमूलक ये चार भेद प्रतिज्ञा के हुए।

धर्ममूलक प्रतिज्ञा का उदाहरण

३६. यह मैं (आपका) बुढ़ापा धारण करता हूँ, पिता के सम्मुख ऐसी प्रतिज्ञा कर पुरु ने उनका बुढ़ापा धारण कर लिया। यह धर्ममूलक प्रतिज्ञा है।

'पितृदेवो भव' इस वचन में श्रद्धा रखते हुए पुरु ने पिता की इच्छापूर्त्ति के लिए अपना यौवन देकर त्याग का स्तुत्य उदाहरण प्रस्तुत किया। वह प्रतिज्ञा पिता के आज्ञा-पालनरूप धर्माचरण के निमित्त की गयी, अतः धर्ममूलक है।

पुरु शर्मिष्ठा के गर्भ से उत्पन्न राजा ययाति के पुत्र थे। वृद्ध हो जाने पर भी ययाति सांसारिक सुख-भोग से तृप्त नहीं हुए थे। अतः उन्होंने पुरु से यौवन माँगा। पुरु ने सहर्ष अपना यौवन पिता को देकर उनका बुढ़ापा स्वयं ग्रहण किया। यह कथा महाभारत के आदि पर्व में आयी है।

अर्थमूलक प्रतिज्ञा

३७. 'मैं स्वयं सीता का पता लगाऊँगा' — अपने स्वामी (सुग्रीव) के आदेश से हनूमान् ने यह प्रतिज्ञा करके (सीता का पता लगाया)। यह अर्थमूलक है।

यहाँ अर्थ का तात्पर्य केवल धन नहीं, बल्कि लौकिक लाभ है। हनूमान् ने यह प्रतिज्ञा इसलिए की कि उपकृत होकर राम बालि का वध करें जिससे सुग्रीव को राज्य मिले। इस प्रतिज्ञा के पीछे राज्यप्राप्ति का लौकिक लाभ था, अतः अर्थमूलक है।

इष्टकार्याभ्युपगमं प्रतिज्ञां प्रतिजानते।
धर्मार्थकामकोपानां संश्रयात्सा चतुर्विधा॥ ३५ ॥
जरामेष बिभर्मीति प्रतिज्ञाय पितुर्यथा।
तथैव पुरुणाभारि सा स्याद्धर्मनिबन्धनी॥ ३६ ॥
उपलप्स्ये स्वयं सीतामिति भर्त्तृर्निदेशतः।
हनूमता प्रतिज्ञाय सा ज्ञातेत्यर्थसंश्रया॥ ३७ ॥

काममूलक प्रतिज्ञा

३८. वत्सराज (उदयन) ने प्रतिज्ञा का कि आज मैं महासेन की उस पुत्री (वासवदत्ता) का हरण करूँगा और हरण किया। यह काममूलक (प्रतिज्ञा) है।

वासवदत्ता-जैसी सुन्दरी की प्राप्ति के लिए उदयन का प्रयास काम-प्रेरित था। अतः यह प्रतिज्ञा काममूलक है।

कोपमूलक प्रतिज्ञा

३९. क्रोध से विवश भीम ने प्रतिज्ञा की कि भाई (युधिष्ठिर) के शत्रु (दुर्योधन) का युद्ध में वध कर मैं उसका रक्त पीऊँगा।

भीम की इस प्रतिज्ञा के मूल में कोप है, अतः कोपमूलक।

भ्रातृव्य के दो अर्थ हैं—भतीजा तथा शत्रु :

भ्रातृव्यौ भ्रातृजद्विषौ।—अमरकोष २३।१४६

दुर्योधन पांडवों का शत्रु था, यह सभी जानते हैं।

आहव—युद्ध। असृक्—रक्त। उन्मथ्य—चूर कर, वध कर।

अन्यत्र प्रतिज्ञा का निषेध

४०. (इन चार के अतिरिक्त) दूसरे स्थान पर कभी प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए। साथ ही इन चारों का परित्याग भी नहीं करना चाहिए।

जिस किसी तुच्छ वस्तु के लिए प्रतिज्ञा नहीं करते चलना चाहिए। जहाँ कुछ पुरुषार्थ-प्रदर्शन का अवसर हो वहाँ ही की गयी प्रतिज्ञा उचित होती है।

एक बार प्रतिज्ञा कर लेने पर उसे तोड़ना भी नहीं चाहिए, क्योंकि उससे चरित्र की निर्बलता प्रकट होती है। प्रतिज्ञा तोड़ने पर प्रतिज्ञाभास दोष होता है।

आहरिष्याम्यमूमद्य महासेनात्मजामिति।
कृत्वा प्रतिज्ञां वत्सेन हृतेति मदनाश्रया॥ ३८॥
भ्रातुर्भ्रातृव्यमुन्मथ्य पास्याम्यस्यासृगाहवे।
प्रतिज्ञाय यथा भीमस्तच्चकारावशो रुषा॥ ३९॥
कार्योऽन्यत्र प्रतिज्ञायाः प्रयोगो न कथञ्चन।
परित्यागश्च कर्त्तव्यो नाऽऽसां चतसृणामपि॥ ४०॥

धर्मप्रतिज्ञाभास

४१. अनशन से मरने की प्रतिज्ञा कर दुर्योधन राज्य के लिए फिर उठ खड़ा हुआ, यह धर्मविरोधिनी प्रतिज्ञा है।

धर्म है सत्य बोलना। यदि कोई की हुई प्रतिज्ञा तोड़ता है तो सत्य से विमुख होता है, धर्म-विरुद्ध आचरण करता है। अतः उसे प्रतिज्ञा का आभास कहेंगे।

प्राय—अन्नत्याग। उपवेश—बैठना। अतः प्रायोपवेश का अर्थ है मरने की दृष्टि से अनशन करना।

दुर्योधन ने गंधर्वों के साथ युद्ध किया किन्तु पराजित हो गया और चित्रसेन के द्वारा बन्दी बना लिया गया। गंधर्वों से छुटकारा पाने के लिए उसने सहायतार्थ पांडवों के सामने हाथ फैलाया। छूटने पर उसने अपनी दुरवस्था कर्ण को सुनायी, दुःशासन को राजा बनने का आदेश दिया और स्वयं आमरण अनशन की प्रतिज्ञा की। पर दानवों और कर्ण के समझाने से उसने वह प्रतिज्ञा तोड़ दी और हस्तिनापुर आ गया। वहाँ उसने जो-जो दुरभिसंधि की वह ज्ञात ही है।

यह कथा महाभारत के वनपर्व में २४१ से २५२ अध्यायों के बीच में कही गयी है।

अर्थबाधिनी प्रतिज्ञा

४२. 'जूए के लिए बुलाने पर मैं मुँह नहीं मोड़ूँगा', यह प्रतिज्ञा करके युधिष्ठिर ने शकुनि के साथ जूआ खेला। यह अर्थबाधिनी है।

युधिष्ठिर की यह प्रतिज्ञा अर्थबाधिनी इसलिए है कि इससे अर्थ (राज्य) का नाश हो गया। कहिए कि आप के ही अनुसार, की हुई प्रतिज्ञा का परित्याग नहीं करना चाहिए (४०वीं कारिका) और यहाँ युधिष्ठिर ने प्रतिज्ञा की रक्षा की तो आप उसमें दोष बताते हैं। ऐसा क्यों?

अपने आप में प्रतिज्ञा न गुण है, न दोष। देखना यह होगा कि जिस उद्देश्य को ध्यान में रखकर वह की गयी है वह सिद्ध होती है या नहीं। यदि कोई ऐसी प्रतिज्ञा करे कि मैं समुद्र का जल न उलीच फेंकूँ या आकाश से तारे न तोड़ लाऊँ तो नाक कटा दूँगा तो उसे क्या कहेंगे? प्रतिज्ञा करने के पहले उसके फलाफल पर विचार कर लेना चाहिए।

प्रायोपवेशाय यथा प्रतिज्ञाय सुयोधनः।
राज्याय पुनरुत्तस्थाविति धर्मविरोधिनी॥ ४१ ॥
आहूतो न निवर्त्तेऽहं द्यूतायेति युधिष्ठिरः।
कृत्वा सन्धां शकुनिना दिदेवेत्यर्थबाधिनी॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर की यह प्रतिज्ञा दो दृष्टियों से अवांछनीय थी। एक तो जूआ गर्हित दुर्व्यसन है, कोई महनीय उद्देश्य नहीं। दूसरा यह कि युधिष्ठिर जानते थे कि जिन लोगों से उन्हें जूआ खेलना है वे इस कपट-क्रीडा में अप्रतिम हैं। अतः पराजय के अतिरिक्त कोई अन्य परिणाम संभावित नहीं था। फिर भी वह डटे रहे और अपना सर्वनाश कर बैठे। इससे बढ़कर अर्थबाधिनी प्रतिज्ञा और क्या हो सकती है।

युधिष्ठिर ने यह प्रतिज्ञा विदुर के सामने की थी जो धृतराष्ट्र के आदेश से युधिष्ठिर को द्यूत-क्रीडा के लिए निमंत्रित करने इन्द्रप्रस्थ गये थे। यह प्रसंग महाभारत, सभापर्व के अध्याय ५८ में आया है।

कामबाधिनी प्रतिज्ञा

४३. 'आज से मैं मुनि के समान (ब्रह्मचारी) रहूँगा', यह कहकर पिता की प्रसन्नता के लिए भीष्म ने जो (प्रतिज्ञा) की वह कामबाधिनी है।

भीष्म की इस प्रतिज्ञा से मनुष्य की जो सहज कामवृत्ति है उसकी तृप्ति में बाधा पड़ी, अतः इसे कामबाधिनी कहेंगे।

प्रियाय—प्रसन्नता के लिए : वचनात्—कहने से, कहकर।

अपने पिता शांतनु के सत्यवती से विवाह की इच्छा व्यक्त करने पर भीष्म ने जो आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा की थी, वह सुविदित है। महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १०० में वह कथा सविस्तर वर्णित है।

कोपबाधिनी प्रतिज्ञा

४४. परशुराम को युद्ध में जीतकर रामने (उनकी) सभी क्षत्रियों के वध की प्रतिज्ञा तुड़वा दी, उसे कोपबाधिनी समझना चाहिए।

परशुराम ने कोप से प्रेरित होकर पृथ्वी को निःक्षत्रिय करने की प्रतिज्ञा की थी किन्तु राम ने उन्हें पराजित कर यह प्रतिज्ञा भग्न करा दी। कोप में बाधा पड़ने से यह कोपबाधिनी प्रतिज्ञा है।

आर्थी प्रतिज्ञा

४५. अब प्रतिज्ञा किये बिना अभीप्सित की प्राप्ति बताते हैं जिसमें शब्द प्रयोग के अभाव में (अनुक्त) भी अर्थ से ही प्रतीत हो जाता है।

अद्यारभ्य निवत्स्यामि मुनिवद्वचनादिति।
पितुः प्रियाय यां भीष्मश्चक्रे सा कामबाधिनी॥ ४३॥
अत्याजयद्यथा रामः सर्वक्षत्रवधाश्रयाम्।
जामदग्न्यं युधा जित्वा सा ज्ञेया कोपबाधिनी॥ ४४॥
अथाभ्युपगमप्राप्तिः सन्धाभ्युपगमाद्विना।
अनुक्तमपि यत्रार्थादभ्युपैति यथोच्यते॥ ४५॥

चार प्रकार की प्रतिज्ञा और प्रत्येक के आभास का वर्णन कर चुके। अब यह कहना चाहते हैं कि प्रतिज्ञा शब्दतः और अर्थतः दोनों प्रकार से संभव है। शाब्दी प्रतिज्ञा वहाँ होती है जहाँ स्पष्ट कहकर उसका निदश किया जाता है। आर्थी प्रतिज्ञा में बिना कुछ कहे, अर्थ से ही प्रतिज्ञा का आक्षेप हो जाता है।

उपर्युक्त सभी उदाहरण शाब्दी प्रतिज्ञा के हैं।

संधा— प्रतिज्ञा; अभ्युपगम— स्वीकार, ग्रहण; प्रतिज्ञा का ग्रहण, अर्थात् शब्द से (बोलकर) प्रतिज्ञा करना। अभ्युपगम-प्राप्ति—स्वीकृत (संकल्पित) की प्राप्ति।

उदाहरण

४६. जितेन्द्रिय को क्या जानना चाहिए ?—(ब्रह्म)। शत्रुओं से कौन पराजित होता है ?—(निर्बल)। चंचल धन तुरत याचकों को कौन नहीं देता ?—(कृपण) आर्थ आक्षेप अर्थ ज्ञान की सुगमता का कारण है।

यहाँ इन प्रश्नों की सहायता से आर्थी प्रतिज्ञा की प्रतीति होती है, जैसे 'मैं ब्रह्म को जानूंगा,' 'मैं निर्बल नहीं रहूँगा', 'मैं शत्रुओं को पराजित करूँगा', 'मैं याचकों को अवश्य दान दूंगा। 'चूँकि ये प्रतिज्ञाएँ शब्दतः नहीं की गयी हैं, अर्थ से ही प्रतीत होती हैं, अतः आर्थी हैं।

हेतु

४७. विद्वानों ने काव्यों में भी जो हेतु माना है वह तीन लक्षणों से विशिष्ट है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से ही अर्थ (साध्य) की सिद्धि होती है।

अनुमान में जो हेतु (साधन) उपयोगी माना गया है उसमें तीन विशेषताएँ—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व—होनी चाहिए, यह अनेकशः प्रतिपादित हो चुका है। यहाँ, काव्य में उपयोज्य हेतु कैसा होना चाहिए, इसपर विचार कर रहे हैं।

भामह का कहना है कि हेतु चाहे काव्य का हो या अनुमान का, उसमें पूर्वनिर्दिष्ट तीनों विशेषताएँ रहनी चाहिए। काव्य में प्रयुक्त होने से हेतु के रूप में कोई अन्तर नहीं आता।

हेतु का प्रयोजन है साध्य को सिद्ध करना, जैसे धुएँ (हेतु) से आग (साध्य) का रहना सिद्ध होता है। यह साध्य-सिद्धि इसलिए संभव होती है कि आग और धुएँ में

किमिन्द्रियद्विषा ज्ञेयं को निराक्रियतेऽरिभिः।
को वा गत्वरमर्थिभ्यो न यच्छति धनं लघु॥ ४६॥
किमत्ययं तु यः क्षेपः सौकर्यं दर्शयत्यसौ।
हेतुस्त्रिलक्ष्मैव मतः काव्येष्वपि सुमेधसाम्॥ ४७॥
अन्वयव्यतिरकौ हि केवलावर्थसिद्धये।

अन्वय-व्यतिरेक बहुत बार देखा जा चुका है : जहाँ-जहाँ धुआँ रहता है वहाँ-वहाँ आग भी अवश्य रहती है (अन्वय); और जहाँ आग नहीं रहती वहाँ धुआँ भी नहीं रहता (व्यतिरेक)। अन्वय-व्यतिरेक का केवल शास्त्रीय उपयोग ही नहीं है, वह लौकिक दृष्टि से भी अनिवार्य है। किसी भी वस्तु को प्रमाणित करने के लिए ऐसा ही कारण (हेतु) देना पड़ता है जो उसे निश्चित रूप से प्रमाणित कर सके और ऐसा कारण वही हो सकता है जो अन्वय तथा व्यतिरेक से युक्त हो।

उदाहरण

४८. जैसे कुररियों (पक्षिविशेष) के कूजन और कमलों के सौरभ से (ज्ञात होता है कि) वन-प्रदेश के चारों ओर वह विशाल सरोवर है।

वन के समीप सरोवर है यह कुररियों का कूजन सुनकर और कमलों की सुगंधि से ही मालूम हो जाता है। कुररी-कूजन और कमल-सौरभ हेतु हैं जिनसे सरोवर (साध्य) का अनुमान हो रहा है। कुररी जलचर पक्षी है और कमल जल में ही होता है। यदि जल न होता तो ये भी न होते। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से इनके द्वारा जलाशय का अनुमान होता है।

आभोग—विस्तार; वनाभोग—वन का विस्तार। 'एतत्' नपुंसक होने से 'सरः' के साथ अन्वित होगा। एतत् से सरोवर की दृष्टपूर्वता या निश्चितता व्यक्त होती है।

४९. अन्य (कुररी और कमल) का धर्म (कूजन और सौरभ) भी उस (सरोवर) की सिद्धि सम्बन्ध से कराता है, जिस प्रकार आकाश तक उठनेवाला धुआँ अग्नियुक्त स्थान का अनुमान (कराता है)।

अनुमान-सम्बन्धी एक शंका का इस कारिका में समाधान है। शंका यह है कि साध्य का अनुमान तो उस साधन से होता है जो उसी का (साध्य का) धर्म हो; जैसे, धुआँ आग का धम है, अतः धुआँ देखकर आग का अनुमान होता है। किन्तु यहाँ कूजन और सौरभ से सरोवर का अनुमान हो रहा है, यद्यपि कूजन आर सौरभ सरोवर के धर्म नहीं हैं; वे धर्म हैं क्रमशः कुररी आर कमल के। कूजन कुररी में है और सौरभ कमल में। अतः दूसरे के धर्म से दूसरे का अनुमान कसे संभव है ?

उत्तर— सरोवर कुररी और कमल का अधिकरण है, अर्थात् वे उसी में रहते हैं। बिना जल के कुररी या कमल का रहना संभव नहीं। अतः उनसे अनायास यह अनुमान

यथाऽभितो वनाभोगमेतदस्ति महत्सरः ॥ ४८ ॥
कूजनात्कुररीणाञ्च कमलानाञ्च सौरभात्।
अन्यधर्मोऽपि तत्सिद्धिं सम्बन्धेन करोत्ययम् ॥ ४९ ॥
धूमादभ्रङ्कषात्साग्नेः प्रदेशस्यानुमामिव।

हो जाता है कि हो न हो यहाँ जलाशय अवश्य है। इस प्रकार कूजन और सौरभ कुररी तथा कमल के धर्म होते हुए भी परंपरया सरोवर में भी आरोपित हो जाते हैं और उसका अनुमान कराते हैं।

धुआँ देखकर आग का ही अनुमान होना चाहिए चूँकि वह आग का धर्म है, किन्तु आग के साथ उस **स्थान का भी** अनुमान होता है जहाँ आग रहती है। ऊपर-ऊपर दिखायी देनेवाला धुआँ नीचे के आगवाले स्थान की प्रतीति कराता है। तो, जो परंपरा-सम्बन्ध यहाँ है वही उपर्युक्त उदाहरण में भी। इसलिए इस अनुमान में कोई असंगति नहीं है।

वैयधिकरण्य से हेतु-निर्देश

५०. यहाँ ऐसा हेतु भी देखा जाता है जिसका पृथक् निर्देश नहीं किया गया हो। (ऐसे स्थलों में) अन्वय-व्यतिरेक के बिना ही अर्थबोध हो जाता है। जैसे;

अनुमान में हेतु का निर्देश दो प्रकार से होता है—सामानाधिकरण्य से अथवा वैयधिकरण्य से। सामानाधिकरण्य का अर्थ है समानविभक्तिकता और वैयधिकरण्य का भिन्नविभक्तिकता। यदि पक्ष और हेतु का निर्देश **एक ही विभक्ति** से हो तो वहाँ **समान-विभक्तिकता** होगी और यदि उनका निर्देश **दो भिन्न विभक्तियों** से हो तो वहाँ **भिन्न-विभक्तिकता** होगी। समानविभक्तिक को ही समानाधिकरण कहते हैं और भिन्नविभक्तिक को ही व्यधिकरण। समानाधिकरण—समान है अधिकरण, अर्थात् आधार, अर्थात् विभक्ति-निर्देश जिसका; व्यधिकरण—वि अर्थात् विभिन्न हैं अधिकरण विभक्तिनिर्देश जिसके। समानाधिकरण और व्यधिकरण विशेषण हैं; इन्हींसे संज्ञा बनाने पर सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य शब्द बनते हैं।

सामानाधिकरण्य का उदाहरण—**पर्वतः** वह्निमान् **सधूमः।**
वैयधिकरण्य का उदाहरण—**पर्वतः** वह्निमान् **धूमवत्त्वात्।**

पहले वाक्य में पक्ष (पर्वत) और हेतु (धूमवत्त्व) का एक ही, विभक्ति (प्रथमा) द्वारा निर्देश है : 'पर्वतः सधूमः' दोनों में प्रथमा है, अतः यहाँ सामानाधिकरण्य हुआ दूसरे उदाहरण में पक्ष (पर्वत) में प्रथमा है और हेतु (धूमवत्त्व) में पंचमी : 'पर्वतः धूम-वत्त्वात्', अतः दो भिन्न विभक्तियों से निर्देश होने के कारण वैयधिकरण्य। बात दोनों में एक ही कही गयी है, अन्तर है केवल कहने के ढंग का। हेतु-निर्देश की प्रचलित प्रणाली वैयधिकरण्य की ही है किन्तु यदि कोई चाहे तो सामानाधिकरण्य का भी प्रयोग कर सकता है। कारिका के पूर्वार्ध का यही अभिप्राय है। हेतु ऐसा भी देखा जाता है जिसका

अपृथक्कृतसाध्योऽपि हेतुश्चात्र प्रतीयते ॥ ५० ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विनैवार्थगतिर्यथा।

पृथक् अर्थात् **भिन्न विभक्तियों से** निर्देश नहीं किया गया हो। सामान्यतः भिन्न विभक्तियों से ही हेतु-निर्देश किया जाता है : पक्ष में प्रथमा रहती है और हेतु में पंचमी, किन्तु वह अनिवाय नहीं है। दोनों को समानविभक्तिक या समानाधिकरण भी रख सकते हैं, जैसा ऊपर के उदाहरण में प्रदर्शित है।

अनुमान में पंचावयव वाक्य का प्रयोग होता है, यह इस परिच्छेद की ग्यारहवीं कारिका में स्पष्ट किया जा चुका है। पंचावयव वाक्यों में एक है दृष्टान्त। दृष्टान्त दो प्रकार का होता है—अन्वय और व्यतिरेक। इसका भी स्पष्टीकरण वहीं हो चुका है।

प्रस्तुत (पचासवीं) कारिका के उत्तरार्ध में भामह यह बताना चाहते हैं कि अन्वय-व्यतिरेक का रहना अनिवार्य नहीं, उसके बिना भी अर्थबोध हो जाता है। अन्वय-व्यतिरेक का उपयोग स्पष्टता के लिए है, उससे कथन अधिक विशद होता है किन्तु उसके अभाव में अर्थबोध हो ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। दूसरी बात यह कि अन्वय-व्यतिरेक की जितनी आवश्यकता तर्कशास्त्र में है, उतनी काव्य में नहीं। अन्वय-व्यतिरेक रहे तो ठीक, पर न रहे तो कोई हानि नहीं।

इस प्रकार प्रस्तुत कारिका में भामह ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि तर्क-शास्त्रीय अभिव्यंजना-प्रणाली का कठोर अनुसरण कवि के लिए अपेक्षित नहीं है। उसकी उक्ति युक्तिसंगत हो, इतना ही पर्याप्त है। और, इसके लिए उन्होंने दोनों प्रकार की छूट की ओर ध्यान आकृष्ट किया : (१) हेतु-निर्देश का अवसर हो तो कवि स्वेच्छानुसार सामानाधिकरण्य अथवा वैयधिकरण्य जिसका चाहे प्रयोग करे ; (२) दृष्टान्त देते समय वह अन्वय-व्यतिरेक का प्रयोग करे ही, यह भी आवश्यक नहीं। आवश्यकता और विवक्षा के अनुसार उसे स्वतन्त्रता है कि दोनों का प्रयोग करे या किसी एक का या किसी का भी नहीं। तात्पर्य कि काव्य की अभिव्यंजना तर्कशास्त्र की अभिव्यंजना से भिन्न है और उसका नियामक एकमात्र कवि है।

उदाहरण

५१. रात के चमकीले दीपकों से सूर्य का अस्त होना ज्ञात हुआ। यहाँ चमकीले दीपक सूर्य के अस्त होने के (ज्ञापक) कारण हैं।

इस उदाहरण में हेतु का निर्देश सामानाधिकरण्य द्वारा है। पक्ष और हेतु दोनों में प्रथमा विभक्ति है। 'दीप्रदीपा' हेतु है। रात के चमकीले दीपक बता रहे हैं कि सूर्य छिप गया—सूर्य रहता तो दीपकों की चमक कैसे दिखायी देती ? यहाँ वैयधिकरण्य के बिना भी हेतु-निर्देश से कोई क्षति नहीं है, यही दिखाना ग्रंथकार को अभीष्ट है।

दीप्रदीपा निशा जज्ञे व्यपवृत्तदिवाकरा।
हेतुः प्रदीप्रदीपत्वमपवृत्तौ रवेरिह ॥ ५१ ॥

सामानाधिकरण्य के द्वारा हेतु-निर्देश में इस वाक्य का रूप है :

दीप्रदीपा निशा व्यपवृत्तदिवाकरा जज्ञे ।

यदि वैयधिकरण्य के द्वारा हेतु-निर्देश करते तो वाक्य का रूप होता :

दीप्रदीपत्वात् निशा व्यपवृत्तदिवाकरा जज्ञे ।

'दीप्रदीपत्व' में पंचमी हो जाती ।

काव्य-हेतु के दोष

५२. उस (काव्यहेतु) के भी विद्वानों ने पूर्वोक्त तीन दोष बताये हैं जो अज्ञान, संशयज्ञान तथा विपर्यय को उत्पन्न करनेवाले हैं ।

अनुमान के हेतु के समान काव्य के हेतु में भी तीन दोष होते हैं । यदि हेतु पक्ष में नहीं रहा तो अज्ञान, विपक्ष में नहीं रहा तो संशयज्ञान और सपक्ष में नहीं रहा तो विपर्यय उत्पन्न होता है । इस प्रकार अज्ञान, संशयज्ञान और विपर्यय ये तीन काव्यहेतु-संबंधी दोष हैं ।

अग्रिम दो कारिकाओं में इन दोषों के उदाहरण हैं ।

अज्ञान और संशयज्ञान के उदाहरण

५३. ये काश अपने फूलों की सुगन्धि से मन मोहते हैं । जल के समीप रहने से जाना जाता है कि ये शरारि (पक्षी) हैं ।

पूर्वार्ध अज्ञान का उदाहरण है और उत्तरार्द्ध संशयज्ञान का ।

काश के फूलों में सुगन्धि होती ही नहीं, फिर भी उसका उल्लेख है जो अज्ञान-कृत है ।

जल के समीप रहनेवाले सभी पक्षी शरारि ही नहीं होते; बगुले, सारस आदि भी जल के समीप रहते हैं । अतः 'जल के समीप रहना' यह हेतु संशयज्ञान का जनक है, क्योंकि शरारि के अतिरिक्त दूसरे पक्षियों में भी लागू है ।

तस्यापि सुधियामिष्टा दोषाः प्रागुदितास्त्रयः ।
अज्ञानसंशयज्ञानविपर्ययकृतो यथा ॥ ५२ ॥
काशा हरन्ति हृदयममी कुसुमसौरभात् ।
अपामभ्यर्णवर्त्तित्वादेते ज्ञेयाः शरारवः ॥ ५३ ॥

विपर्यय

५४. नेत्रों का प्रांतभाग उजला होने के कारण उसे चकोर समझना चाहिए। तुल्यजाति (दूसरे चकोरों में) नहीं देखे जाने से (यह साधन) उसका चकोर नहीं होना सिद्ध करता है।

दूर-स्थित पक्षी को दिखाकर कोई कह रहा है कि वह चकोर है, क्योंकि उसके नेत्रों का प्रांतभाग उज्ज्वल है। यहाँ नेत्रों के प्रांतभाग की उज्ज्वलता (हेतु) से दृश्यमान पक्षी का चकोर होना (साध्य) सिद्ध किया जा रहा है किन्तु नेत्रों की उज्ज्वलता चकोर का धर्म है ही नहीं। इसीको उत्तरार्ध में कहते हैं कि यह धर्म चकोर के सजातीयों में (उस जाति के किसी पक्षी में, अर्थात् किसी चकोर में) नहीं पाया जाता। अतः इस हेतु से स दृश्यमान पक्षी का चकोर **नहीं होना** सिद्ध होता है। यह विपर्यय का उदाहरण है, जिस हेतु से जो बात सिद्ध करने का प्रयास हो रहा है उससे सर्वथा उल्टी बात सिद्ध हो रही है।

दृष्टान्त

५५. कथित वस्तु के समान वस्तु का निर्देश दृष्टान्त कहलाता है। तब उपमा को अनुमान ही क्यों न मानें? इसलिए कि (उसमें) हेतु का कथन नहीं रहता।

प्रतिज्ञा और हेतु का निरूपण करने के बाद स्वभावतः दृष्टान्त का स्थान आता है। अतः पहले उसका लक्षण कहते हैं। कोई बात कहकर उसका प्रतिबिंब दिखलाना, अर्थात् उसके समान दूसरी बात कहना, यही दृष्टान्त है।

यहाँ यह शंका उठाते हैं कि दृष्टान्त तो अनुमान का अंग है (अन्वय और व्यतिरेक इन दो रूपों में उसका अनुमान में प्रयोग होता है यह बहुशः प्रतिपादित हो चुका है); और दृष्टान्त कहते हैं एक वस्तु के समान दूसरी वस्तु के निर्देश को; यही स्थिति (एक वस्तु के समान दूसरी वस्तु का निर्देश) उपमा में भी रहती है; तो उपमा भी दृष्टान्त के सदृश क्या अनुमान का अंग नहीं बन जाती? उत्तर है नहीं। अनुमान का प्रधान अंग है हेतु और उपमा में हेतु का बिलकुल निर्देश नहीं रहता, अतः उसे अनुमान का अंग नहीं माना जा सकता।

असौ शुक्लान्तनेत्रत्वाच्चकोर इति गृह्यताम्।
तुल्यजातावदृष्टत्वात्साधयत्यचकोरताम् ॥ ५४ ॥
उक्तस्यार्थस्य दृष्टान्तं प्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
ननूपमानुमैवास्तु न हेत्वनभिधानतः ॥ ५५ ॥

५६. साध्य और साधन का कथन निर्दिष्ट (स्थलों) से अन्यत्र अभिमत नहीं है। मुख कमल जैसा है, इस (वाक्य) में क्या साध्य है और क्या साधन ?

अनुमान के जो स्थल ऊपर कहे जा चुके हैं उन्हीं में साध्य-साधन का निर्देश अभिमत है, अन्यत्र नहीं। हर जगह साध्य-साधन का निर्देश न वांछित है, न आवश्यक। उदाहरणार्थ, मुख कमल जैसा है। इस वाक्य में कमल से मुख की केवल तुलना अभीष्ट है, साध्य-साधन की कोई विवक्षा नहीं है। और, यदि हो भी तो यहाँ किसे साध्य मानेंगे और किसे साधन ? यहाँ तो दोनों में कोई नहीं है। अतः सादृश्यमात्र पर आधृत उपमा अनुमान का अंग नहीं हो सकती; उपमा में सादृश्य विवक्षित रहता है, अनुमान में साधन-साध्य का व्याप्तिमूलक ज्ञान। इस प्रकार दोनों का क्षेत्र परस्पर-भिन्न है।

उपमा से दृष्टान्त के पार्थक्य का उदाहरण

५७. जैसे यह प्रयोग (लीजिए) : (राजन् !) वृद्धों से अनुशिष्ट होने के कारण सत्ययुग के प्राचीन पुरुषों के समान इस कलियुग में भी आप श्रेष्ठ हैं।

यह दृष्टान्त का उदाहरण है अतः इसमें उपमा की तरह केवल सादृश्य नहीं बल्कि साध्य-साधनभाव भी वर्त्तमान है। राजा की श्रेष्ठता **साध्य** है; वृद्धों से अनुशिष्ट होना **साधन** (हेतु) है और सत्ययुग के प्राचीन पुरुष **दृष्टान्त** हैं। इसमें साध्य-साधन का जैसा निर्देश है वैसा उपमा में नहीं रहता।

शुद्ध दृष्टान्त

५८. जहाँ केवल दृष्टान्त से साध्य-साधन की व्यंजना होती है उसे शुद्ध दृष्टान्त कहते हैं, क्योंकि वहाँ केवल दृष्टान्त का ही प्रतिपादन रहता है।

पूर्वोक्त (५७वीं कारिका) में जो दृष्टान्त का उदाहरण है उसमें साध्य, साधन और दृष्टान्त तीनों का निर्देश है। इस कारिका में कहते हैं कि तीनों के बदले केवल दृष्टान्त का भी निर्देश हो सकता है। जहाँ वैसा हो उसे शुद्ध दृष्टान्त कहेंगे; शुद्ध इसलिए कि उसमें दृष्टान्त के अतिरिक्त और किसी वस्तु (जैसे साध्य-साधन) का उल्लेख बिलकुल नहीं रहता।

साध्यसाधनयोरुक्तिरुक्तादन्यत्र नेष्यते।
मुखं पद्ममिवेत्यत्र किं साध्यं किञ्च साधनम् ॥ ५६ ॥
इति प्रयोगस्य यथा कलावपि भवानिह।
श्रेयान्वृद्धानुशिष्टत्वात्पूर्वे कार्त्तयुगे यथा ॥ ५७ ॥
यत्र दृष्टान्तमात्रेण व्यज्येते साध्यसाधने।
तमाहुः शुद्धदृष्टान्तं तन्मात्राविष्कृतेर्यथा ॥ ५८ ॥

शुद्ध दृष्टान्त का उदाहरण

५९. हे वीर ! तुम भरत हो, तुम दिलीप हो, तुम इलापुत्र पुरूरवा हो, तुम्हीं प्रद्युम्न और तुम्हीं नरवाहन हो।

यहाँ वर्णनीय राजा का अनेक राजाओं से सादृश्य प्रतिपादित है। ५७वीं कारिका के उदाहरण में साध्य, साधन और दृष्टान्त तीनों का उल्लेख है; यहाँ साध्य-साधन को छोड़ दिया गया है, केवल दृष्टान्त निर्दिष्ट है। अतः शुद्ध दृष्टान्त का उदाहरण है। भरत से सादृश्य का प्रयोजक हेतु है यशस्विता, दिलीप से आचारपरायणता, पुरूरवा से उत्तमगुणशालिता प्रद्युम्न से सुन्दरता और नरवाहन से लौकिकभोगशालिता।

इला वैवस्वत मनु की पुत्री थीं जिनके गर्भ से पुरूरवा का जन्म हुआ था।

६०. इस (वर्णनीय राजा) के वे गुण किस प्रकार एक शब्द से ही व्यक्त हो जायँ यही सोचकर विस्तार से डरनेवाले कुछ सज्जन ऐसा प्रयोग करते हैं।

जिन्हें अधिक विस्तार अभिमत नहीं है वैसे लोग एक ही शब्द से काम चला लेना चाहते हैं। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक तात्पर्य व्यक्त कर देना उनका लक्ष्य होता है।

दोष की त्याज्यता

६१. एक भी रमणीय पद अच्छा है; उसके विपरीत (महान्) प्रबन्ध भी नहीं; वैपरीत्य के कारण वह (काव्य) यश को भी विपर्यस्त कर देता है।

शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध में कवि को कितनी सतर्कता बरतनी चाहिए, उसकी ओर भामह इंगित करते हैं। अशुद्ध, असुन्दर शब्दों से प्रस्तुत महान् ग्रंथ की अपेक्षा एक भी शुद्ध, सुन्दर शब्द का प्रयोग कहीं अच्छा है। अरमणीय शब्दों के प्रयोग से कवि को यश के बदले अयश ही मिलता है।

महाभाष्यकार ने भी कहा है: **एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति**—सम्यक् ज्ञात और सुष्ठु प्रयुक्त एक शब्द भी स्वर्ग और संसार में इच्छा का पूरक होता है।

अर्वाचीन—विपरीत; साधु के विपरीत, अर्थात् असाधु। निबंधन—प्रबन्ध।

भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहनः ॥ ५९ ॥
कथमेकपदेनैव व्यज्येरन्नस्य ते गुणाः।
इति प्रयुञ्जते सन्तः केचिद्विस्तरभीरवः ॥ ६० ॥
पदमेकं परं साधु नार्वाचीननिबन्धनम्।
वैपरीत्याद्विपर्यासं कीर्त्तेरपि करोति तत् ॥ ६१ ॥

अहृद्यता, अभेद्येता, अपेशलता

६२　कुछ लोगों का काव्य कच्चे कपित्थ (कैथ के फल) के समान अहृद्य, अभेद्य और रसयुक्त होने पर भी अरमणीय होता है।

कपित्थ वेल के आकार का फल है जो खाने में स्वादयुक्त नहीं होता, कड़ा होने से आसानी से नहीं फूटता और भीतर रस रहने पर भी स्वादहीन लगता है। कुछ लोगों का काव्य भी उसी कपित्थ के जैसा होता है; आस्वादन में अरुचिकर; अर्थ-प्राप्ति में अत्यन्त दुरूह और रस-युक्त होता हुआ भी सर्वथा अनावर्जक।

उदाहरण

६३. हे प्रजाजनों के मान्य! हे विस्तृत यश के आगार! तुम्हारे चरण वरिष्ठ भूपों के मस्तकों से पूजित हैं, सेना शत्रुओं का नाश करनेवाली है और (स्वयं) सूर्य (अग्नि) के समान तेजस्वी हो; यह चरित्र तुम्हारे ही पुत्र का है, किसी दूसरे के (पुत्र का) नहीं।

अंघ्रि—चरण। पृथु—विस्तृत। धिष्ण्य—वासस्थान। अहि—शत्रु, घ्न—नाशक, अहिघ्न—शत्रुनाशक। पद्म—सेना का व्यूह-विशेष। जलारि—जल का शत्रु, सूर्य और अग्नि दोनों हो सकते हैं। धाम—तेज।

इस पद्य में अहृद्यता, अभेद्यता और अपेशलता तीनों दोष हैं। श्रेष्ठ, वरिष्ठ, भूभृच्छिरः, धिष्ण्य आदि में श्रुति-कटुता के कारण अहृद्यता है। अहिघ्नपद्मस्य और जलारिधाम्नः में अभेद्यता स्पष्ट है। पिता के अनुरूप पुत्र का चरित्र-वर्णन होने से रसवत्ता रहने पर भी पद्य के समुदित प्रभाव में अपेशलता वर्त्तमान है।

समृद्धि के वर्णन से वाणी में अलंकारिता नहीं आती

६४. दूसरे (कवि) भास्वर मणियों, फल से झुके वृक्षों और विकसित पुष्पों से वाणी को अलंकृत करते हैं। जैसे;

अहृद्यमसुनिर्भेदं　　　　रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
काव्यं कपित्थमामं यत्केषाञ्चित्सदृशं यथा॥ ६२॥
प्रजाजनश्रेष्ठवरिष्ठभूभृ-
　　च्छिरोर्चिताङ्घ्रेः पृथुकीर्त्तिधिष्ण्य!
अहिघ्नपद्मस्य जलारिधाम्न-
　　स्तवैव नान्यस्य सुतस्य वृत्तम्॥ ६३॥
अंशुमद्भिश्च मणिभिः फलनिम्नैश्च शाखिभिः।
फुल्लैश्च कुसुमैरन्यैर्वाचोऽलङ्कुरुते यथा॥ ६४॥

कुछ ऐसे कवि हैं जो बहुमूल्य या सुन्दर वस्तुओं के वर्णन से अपनी रचना को सजाना चाहते हैं।

उदाहरण

६५. सुन्दर मरकत और पद्मराग मणियों से चित्रित, फल-पल्लव-सम्पन्न अनेक मनोहर वृक्षों से युक्त, बहुत पुष्पों से विभूषित, देव-मुनि-सिद्ध-सेवित सुमेरु-पृष्ठ पर वह रहता था।

सुमेरु पर्वत के वर्णन में मणियों, वृक्षों और पुष्पों का उपयोग हुआ है। जिस क्रम से ६४वीं कारिका में अलंकृत करनेवाली वस्तुओं का निर्देश है उसी क्रम से इस उदाहरण में उनका संनिवेश है।

वाणी के सौंदर्य के लिए वक्रोक्ति की अपेक्षा

६६. इन उपादानों से आभूषण, उपवन और माला की शोभा बढ़ती है। वाणी की शोभा तो वक्र शब्द और अर्थ से ही निष्पन्न होती है।

मणियों से आभूषण की, वृक्षों से उपवन की, पुष्पों से माला की शोभा बढ़ती है, वाणी की नहीं। वाणी की शोभा तो शब्द और अर्थ की वक्रता (वक्रोक्ति) से बढ़ती है, अतः कवि को इन बाह्य उपादानों के संचयन में व्यस्त न रहकर काव्य के निष्पादक उस आन्तरिक तत्त्व (वक्रोक्ति) पर ध्यान देना चाहिए।

आगे चलकर ऐसे वर्णनों में उदात्त अलंकार माना गया।

व्यायतता की हेयता

६७. (रचना को अनावश्यक रूप से) विस्तृत बनाने की इच्छा रखनेवाले (कुछ) और (कवि) होते हैं जिनके काव्य में पद-विरोध, असुन्दर अर्थ, भरती के शब्द और कठिनता रहती है।

शुभमरकतपद्मरागचित्रे
सफलसपल्लवभूरिचारुवृक्षे।
बहुकुसुमविभूषिते स तस्थौ
सुरमुनिसिद्धयुते सुमेरुपृष्ठे ॥ ६५ ॥

तदेभिरङ्गैर्भूष्यन्ते भूषणोपवनस्रजः।
वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ॥ ६६ ॥

विरुद्धपदमस्वर्थं बहुपूरणमाकुलम्।
कुर्वन्ति काव्यमपरे व्यायताभीप्सया यथा ॥ ६७ ॥

काव्य का जो अनावश्यक विस्तार करना चाहेंगे उनमें ये दोष आ ही जायँगे। इसलिए यदि कोई इन दोषों से बचना चाहे तो उसे अनुपात का ध्यान रखना चाहिए।

उदाहरण

६८. जो इलायची, तक्कोल (?) नागकेशर, पुष्पित वकुल (मौलश्री) की लताओं (शाखाओं) तथा चंदन के स्पंदन से सम्पन्न है, जिसका तट मुक्ता, कर्पूरराशि, अगरु मैनसिल आदि सुगंधित द्रव्यों से व्याप्त है, जो शंख-समूह से भरा है तथा जिसकी लहरों का विस्तार भीतर (रहनेवाले) तिमि, मकर (आदि भयंकर जल-जंतुओं) के समुदाय से आकीर्ण है, (उस) समुद्र ने जिस (राजा) की चंद्रमा, कुमुद, अमृत तथा दुग्ध के समान स्वच्छ कीर्त्ति धारण की।

यह पद्य दोषों का भांडार है जो स्थूल दृष्टि से देखने पर भी पर्याप्त उद्वेजक हैं।

उपसंहार

६९. मैंने दूसरों की अनेकविधि रचनाओं को देखकर और स्वयं विचारकर वाणी के उन-उन (पूर्वोक्त) अलंकारों का वर्णन किया है। लब्धकीर्त्ति, सज्जन विद्वान् (ही) इसमें प्रमाण हैं। वे ही कह सकते हैं कि मेरा यह प्रयास कहाँतक सफल है। सीमित बुद्धिवालों से उत्कृष्ट बुद्धिवालों का हृदय सुगमतापूर्वक संतुष्ट नहीं होता।

इस पद्य में भामह ने अपने अध्ययन, मनन, विवेचन और विनय का प्रदर्शन किया है।

●

एलातक्कोलनागस्फुटवकुललताचन्दनस्पन्दनाढ्यः
मुक्ताकर्पूरचक्रागरुकमनशिलास्थासकव्याप्ततीरः ।
शङ्खव्राताकुलान्तस्तिमिमकरकुलाकीर्णवीचीप्रतानो
दध्रे यस्याम्बुराशिः शशिकुमुदसुधाक्षीरशुद्धां सुकीर्त्तिम् ॥ ६८ ॥

इति निगदितास्तास्ता वाचामलङ्कृतयो मया
बहुविधकृती दृष्ट्वान्येषां स्वयं परितर्क्य च।
प्रथितवचसः सन्तोऽभिज्ञाः प्रमाणमिहापरे
गुरुतरधियामस्वाराधं मनोऽकृतबुद्धिभिः ॥ ६९ ॥

षष्ठ परिच्छेद

व्याकरण-ज्ञान की आवश्यकता

१-३. (व्याकरण रूपी समुद्र के) सूत्र हैं जल, वार्त्तिक भँवर, पारायण (भाष्य) रसातल, धातुपाठ-उणादि-गणपाठ ग्राह, (उसे पार करने के लिए) मनन विशाल नौका; धीर उसके प्रान्त (कूल) को देखते हैं किंतु बुद्धिहीन उसकी निंदा करते हैं; अन्य समस्त विद्यारूपी करेणुएँ (हथिनियाँ) उसका उपभोग करती हैं। उस दुरवगाह व्याकरण-समुद्र को पार किये बिना यह पुरुष (कोई व्यक्ति) (शब्द-रत्न तक पहुँचने में समर्थ नहीं हो सकता।

शब्द और अर्थ दोनों समान भाव से कवि के उपयोज्य हैं और शब्द-प्रयोग के पूर्व शुद्धाशुद्धि-विवेक सबसे अधिक आवश्यक है जो व्याकरण द्वारा ही अधिगत हो सकता है। अतः यहाँ व्याकरण का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। व्याकरण की अगाधता के कारण लेखक ने समुद्र का रूपक खड़ा किया है। रूपक स्पष्ट है। धातुपाठ; उणादि तथा गणपाठ जटिलता के कारण भयोत्पादक होने से ग्राह कहे गये हैं। कोई भी विद्या व्याकरण के अभाव में नहीं पुष्ट हो सकती। जिस तरह जलावगाहन से हथिनियों को तृप्ति होती है, उसी तरह व्याकरण से सभी विद्याओं की पुष्टि होती है।। व्याकरण की महत्ता भर्तृहरि ने बड़े विस्तार से कही है :

> **तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।**
> **तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।**
> **पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥—वाक्यपदीय : १। १३-१४**

—शब्दों का तत्त्वज्ञान व्याकरण को छोड़कर अन्य से नहीं हो सकता। वह मोक्ष का द्वार, वाणी के विकारों का निवारक, सभी विद्याओं में पवित्र और सब से बढ़कर प्रकाशित है।

सूत्राम्भसं पदावर्त्तं पारायणरसातलम्।
धातूणादिगणग्राहं ध्यानग्रहबृहत्प्लवम् ॥ १ ॥
धीरैरालोकितप्रान्तममेधोभिरसूयितम्।
सदोपभुक्तं सर्वाभिरन्यविद्याकरेणुभिः ॥ २ ॥
नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम्।
शब्दरत्नं स्वयंगम्यमलं कर्तुमयं जनः ॥ ३ ॥

तीसरी कारिका का अन्वय इस प्रकार है : अमुं दुर्गाधं व्याकरणार्णवम् अपारयित्वा अयं जनः शब्दरत्नं स्वयं गम्यं कर्त्तुं न अलम् ।

४. काव्य-रचना के अभिलाषी को उस (व्याकरण) के अवगम के लिए प्रयास करना चाहिए। दूसरे के विश्वास से (दूसरे के प्रयोग को प्रामाणिक मानकर) जो रचना की जाती है उससे क्या संतोष होगा ?

स्वयं व्याकरण का अध्ययन किये बिना केवल पूर्ववर्त्ती कवियों के काव्यों को देख-कर जो रचना होगी उसमें भ्रांति का अवकाश सदा रहेगा और इस तरह उससे कभी पूर्ण संतोष नहीं हो सकता ।

५. जिसके शब्द दूसरे के प्रामाण्य पर निर्भर हों वैसी वाणी, दूसरे के द्वारा धारण कर उतार दी गयी सरस पुष्पमाला के समान, विद्वानों को प्रसन्न नहीं कर सकती ।

पूर्वोक्त को ही भंग्यंतर से कहते हैं । पुष्पमाला चाहे सरस भी क्यों न हो, यदि किसी व्यक्ति के द्वारा पहनकर उतार दी गयी है तो उसे पहनने में दूसरे को आनन्द नहीं आता । उसी तरह काव्य सरस भी हो किन्तु उसमें लेखक की प्रौढि के बदले दूसरे का अनुकरण हो तो उससे सहृदय तृप्त नहीं होते । वैसा करना लेखक की अशक्ति का द्योतक है ।

६. मुख्य पक्ष यही है कि अपनी शक्ति से (कोई काव्य-रचना में) प्रवृत्त हो । दूसरे के ज्ञान का उपयोग करनेवाले उनके कथन का अनुवाद-मात्र करते हैं ।

दूसरे के प्रयोगों पर आश्रित होकर भी कोई काव्य कर सकता है पर उससे कहीं अच्छा है कि व्याकरण का स्वयं अनुशीलन कर शब्दों का शुद्धाशुद्धि-विवेक किया जाय । इसमें प्रमाद की संभावना नहीं रहती । दूसरों के कथन का उपयोग करनेवाला कवि कुछ मौलिक नहीं कह पाता, अनुवाद-मात्र कर देता है ।

शब्द क्या है ?

७. कुछ लोग शब्द उसे कहते हैं जिससे अर्थ की प्रतीति हो (तब तो) अग्नि की प्रतीति में धूम और प्रकाश को भी शब्द मानना पड़ेगा ।

तस्य चाधिगमे यत्नः कार्यः काव्यं विधित्सता ।
परप्रत्ययतो यत्तु क्रियते तेन का रतिः ॥ ४ ॥
नान्यप्रत्ययशब्दा वागाविभाति मुदे सताम् ।
परेण धृतमुक्तेव सरसा कुसुमावली ॥ ५ ॥
मुख्यस्तावदयं न्यायो यत्स्वशक्त्या प्रवर्त्तते ।
अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः ॥ ६ ॥
प्रतीतिरर्थेषु यतस्तं शब्दं ब्रुवते परे ।
धूमभासोरपि प्राप्ता शब्दताऽन्यानुमां प्रति ॥ ७ ॥

कुछ लोगों ने शब्द का इतना ही लक्षण किया कि जिससे अर्थ (वस्तु) की प्रतीति हो उसे शब्द कहते हैं। भामह इस लक्षण का दोष दिखाकर खंडन करते हैं। यदि शब्द का यह लक्षण स्वीकार करें तो धूम और प्रकाश को भी शब्द कहना पड़ेगा, क्योंकि उनसे भी तो अग्नि-रूप अर्थ (वस्तु) की प्रतीति होती है—धुआँ या प्रकाश देखकर अग्नि का ज्ञान अनायास हो जाता है। फिर भी यह निर्विवाद है कि ये शब्द नहीं, अनुमान के साधन हैं। इसी तरह इंगित से भी अर्थ का बोध होता है पर इंगित शब्द नहीं है। तात्पर्य कि अर्थ की प्रतीति के सभी साधन शब्द नहीं कहला सकते।

दूसरा मत

८. अर्थ की प्रतीति के लिए उच्चारित अकारादि वर्णों का सार्थक समुदाय शब्द कहलाता है।

मूलतः वर्ण-समुदाय ही शब्द है किन्तु अव्याप्ति-अतिव्याप्ति बचाने के लिए कुछ विशेषण अपेक्षित हैं। केवल वर्ण-समुदाय को शब्द मान लेने पर अर्थ-हीन वर्ण-समुदाय भी शब्द कहलाने लगेगा। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारण के लिए 'सार्थक' विशेषण दिया गया। पूर्वोक्त धूम या प्रकाश की व्यावृत्ति की दृष्टि से 'वर्ण-समुदाय' कहा, क्योंकि धूम या प्रकाश अर्थ-प्रतीति (अनुमान) का साधन होते हुए भी वर्ण-समुदाय नहीं है। अर्थ-प्रतीति का वही साधन शब्द है जिसका निर्माण वर्णों से हुआ हो।

'उच्चारित' विशेषण से अभीष्ट है लिपि से पार्थक्य दिखाना। इस प्रकार शब्दत्व की निष्पत्ति के लिए उच्चारितता, वर्ण-समुदायता और सार्थकता, ये तीन अपेक्षित धर्म हैं और शब्द-प्रयोग का प्रयोजन है वस्तु का बोध कराना।

इस मत में आपत्ति

९-१०. एक-एक असमर्थ (अर्थहीन वर्ण) का समुदाय अथवान् कैसे हो सकता है? फिर वर्णों के क्रमवर्त्ती होने से उनका समुदाय भी संगत नहीं है।

समुदायी से समुदाय पृथक् नहीं होता। लकड़ी, दीवार और भूमि को छोड़ भवन और किसे कहते हैं?

नन्वकारादिवर्णानां समुदायोऽभिधेयवान्।
अर्थप्रतीतये गीतः शब्द इत्यभिधीयते ॥ ८ ॥
प्रत्येकमसमर्थानां समुदायोऽर्थवान्कथम्।
वर्णानां क्रमवृत्तित्वान्न्याय्या नापि च संहतिः ॥ ९ ॥
न चापि समुदायिभ्यः समुदायोऽतिरिच्यते।
दारुभित्तिभुवोऽतीत्य किमन्यत्सद्म कल्प्यते ॥ १० ॥

आठवीं कारिका में भामह ने प्रतिपादित किया कि वर्णों के सार्थक समुदाय को शब्द कहते हैं। शब्द का यह लक्षण स्फोटवादियों को मान्य नहीं है। नवीं और दसवीं कारिकाओं में स्फोटवादियों द्वारा प्रदर्शित दोषों का उपस्थापन है।

स्फोटवादियों की पहली आपत्ति

आपने कहा कि वर्णों के सार्थक समुदाय को शब्द कहते हैं, पर यह तो बताइए कि वह सार्थकता रहती कहाँ है, अर्थात् अर्थ-प्रतीति कराने की शक्ति है किसमें? (१) एक-एक वर्ण में या (२) वर्णों के समुदाय में? यदि कहिए कि सार्थकता **प्रत्येक वर्ण** में रहती है तो एक ही वर्ण के उच्चारण से अर्थ-प्रतीति हो जानी चाहिए। जैसे, कमल शब्द में केवल 'क' के उच्चारण से कमल का अर्थ स्पष्ट हो जाना चाहिए किन्तु हम देखते हैं कि जबतक तीनों वर्णों का उच्चारण नहीं हो लेता तबतक कमल का अर्थ प्रतीत नहीं होता। इससे सिद्ध है कि अर्थ की स्थिति **प्रत्येक वर्ण में नहीं** है।

प्रत्येक वर्ण में अर्थ की स्थिति खंडित हो जाने पर अब एक ही विकल्प और है कि वर्ण-समुदाय में अर्थ की स्थिति स्वीकार कीजिए। पर यह पक्ष भी निर्दोष नहीं।

पहली आपत्ति तो यह है कि जबतक कोई धर्म अवयव में नहीं रहेगा तबतक अवयवी में कहाँ से आयगा, क्योंकि अवयवों के मिलने से ही अवयवी का निर्माण होता है। जैसे चीनी के प्रत्येक दाने में मिठास रहती है इसलिए उसे जमा कर तैयार की गयी मिसरी की डली में भी मिठास पायी जाती है। यदि कोई चीनी के दानों के बदले बालू के दानों को जमावे तो मिठास नहीं मिलेगी कारण कि उनमें मिठास है ही नहीं। इसी तरह जब प्रत्येक वर्ण अलग-अलग निरर्थक है तो उसे मिला देने से अर्थ कैसे उत्पन्न हो जायगा? अवयव (वर्ण) के निरर्थक होने पर अवयवी (शब्द) का निरर्थक होना अनिवार्य है। जब प्रत्येक वर्ण सार्थक होता तभी उसके समुदाय में भी सार्थकता की कल्पना की जा सकती। समुदायियों (समुदाय का निर्माण करनेवाले अवयवों) से भिन्न समुदाय कोई वस्तु नहीं है। जिसे भवन कहते हैं वह लकड़ी, दीवार और भूमि का ही तो मिला-जुला रूप है। अतः **वर्ण-समुदाय में भी अर्थ** की स्थिति सिद्ध **नहीं** हो पाती क्योंकि यदि प्रत्येक वर्ण अनर्थक हुआ तो वर्ण-समुदाय स्वभावतः अनर्थक हो गया।

एक **दूसरी आपत्ति** भी है। समुदाय का अर्थ है अनेक वस्तुओं का एक देश (स्थान) और काल में उपस्थित रहना। किन्तु अनेक वर्ण एक काल में उपस्थित हो ही नहीं सकते, क्योंकि उनका उच्चारण क्रमशः—बारी-बारी से ही किया जा सकता है। जैसे कमल में जो तीन वर्ण हैं उनमें एक का उच्चारण हो लेने पर ही दूसरे का उच्चारण सम्भव है—जब क कहते हैं तो म-ल नहीं; जब म पर पहुँचते हैं तो क तिरोहित हो चुका रहता है और ल का उच्चारण बाकी रहता है; ल पर आते-आते क-म दोनों विनष्ट हो रहते हैं। इस प्रकार उच्चारण के साथ ही प्रत्येक वर्ण का अविलम्ब विनाश होता

जाता है। ऐसे क्षणिक वर्णों का समुदाय सम्भव कहाँ है? समुदाय तो तब होता जब किसी शब्द के निष्पादक सभी वर्ण एक साथ सुनायी पड़ते। अतः यह कहना कि **वर्णों का समुदाय** शब्द है, सर्वथा अनुपपन्न है।

इन दोषों के कारण आपका लक्षण अग्राह्य है।

तब शब्द किसे कहते हैं?

११. अतः (शब्द) नित्य है—(स्फोटवादी)। (ग्रंथकार स्फोटवादी के इस मंतव्य का खण्डन करते हैं।) शब्द-सम्बन्धी तुम्हारी यह कल्पना अग्राह्य है, क्योंकि जहाँ प्रत्यक्ष या अनुमान (में से कोई प्रमाण) हो उसीका परमार्थतः (वस्तुतः) रहना (संगत है)।

उपयुक्त दोषों के परिहार के लिए वैयाकरणों ने स्फोट की कल्पना की है। स्फोट शब्द स्फुट धातु से बना है, जिसका अर्थ है फूटना—निकलना। व्युत्पत्ति—स्फुटति अर्थ अस्मात् इति स्फोटः, अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित हो (निकले) उसे स्फोट कहते हैं।

यह दिखा चुके हैं कि अर्थ-प्रतीति न तो एक-एक वर्ण से सम्भव है, न वर्ण-समुदाय से। यदि एक-एक वर्ण से अर्थ-प्रतीति होती तो अनेक वर्णों के उच्चारण की आवश्यकता क्या थी? किन्तु अनेक वर्णों का उच्चारण किये बिना अर्थ की प्रतीति होती नहीं है और उच्चारण के साथ वर्ण का विनाश हो जाने से समुदाय सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए उभयथा अर्थ-प्रतीति में बाधा है। इस कठिनाई को हल करने के लिए वैयाकरणों ने स्फोट की कल्पना की।

स्फोट का अर्थ है नित्य, अखंड शब्द। यदि नित्य और अखंड न मानें तो पूर्वोद्दिष्ट दोषों से मुक्ति नहीं मिलेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द का न तो विनाश होता है, न खंड। सामान्यतः ऐसा भान होता है कि कमल शब्द क म ल इन तीन खंडों के मेल से बना है। पर बात ऐसी नहीं है। क म ल जो खंड जैसे प्रतीत होते हैं वे वस्तुतः खंड नहीं, हमारे उच्चारण की असमर्थता के अनिवार्य परिणाम हैं। यदि सम्भव होता तो उन ध्वनियों का हम एक साथ ही उच्चारण करते पर प्रत्येक ध्वनि पृथक्-पृथक् और क्रमशः ही उच्चरित हो सकती है। इन ध्वनियों से जिस अर्थ (वस्तु) का हम बोध कराना चाहते हैं वह तो अखंड रूप में ही बुद्धि में भासित होता है; ऐसा तो होता नहीं कि क से पंखुड़ी समझें, म से कोष और ल से नाल।

तस्मात्कूटस्थ इत्येषा शाब्दी वः कल्पना वृथा।
प्रत्यक्षमनुमानं वा यत्र तत्परमार्थतः॥ ११॥

स्फोटवादियों के मत का खण्डन

शब्द-संबंधी तुम्हारी यह कल्पना अमान्य है, क्योंकि इसकी सिद्धि न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है, न अनुमान से। अस्तित्व उसी वस्तु का मानते हैं जो या तो प्रत्यक्ष दिखायी दे या अनुमान से समर्थित हो। यहाँ दोनों में कोई नहीं है। स्फोट का प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्यक्ष होता है वर्णों का। पर आप उन्हें शब्द मानते नहीं। आप तो वर्णों से भिन्न किसी तत्त्व को शब्द कहते हैं। प्रत्यक्ष में बाधा पड़ने पर अनुमान से काम चलाया जाता है किन्तु यहाँ अनुमान का भी अवकाश नहीं है। अनुमान के लिए साधन-साध्य की व्याप्ति होनी चाहिए। वैसी कोई व्याप्ति है ही नहीं। फिर किस आधार पर आप स्फोट स्वीकार कराने को बद्धपरिकर हैं ?

१२. स्फोटवादियों का वचन शपथ लेकर कहने पर भी अग्राह्य है। आकाश का कुसुम है, इस (कथन) पर कौन सचेतन विश्वास करेगा ?

स्फोटवाद की अग्राह्य ता को ही प्रौढि से यहाँ दुहराया गया है। आकाश-कुसुम के समान स्फोटवाद भी अविश्वसनीय है।

ग्रन्थकार का अपना मत

१३. इतने, ऐसे वर्ण ऐसे अर्थ का बोध करावें, इस प्रकार पहले (सृष्टि के आरंभ में) लोक-व्यवहार के लिए संकेत किया गया।

स्फोटवाद का खण्डन करके ग्रंथकार अब अपना मत प्रस्तुत करते हैं।

सृष्टि के आरंभ में ही यह संकेत निश्चित कर लिया गया कि इतने वर्ण, इस क्रम से उच्चरित होने पर अमुक अर्थ का बोध करायेंगे। जैसे, क के बाद म और म के बाद ल रहे तो उससे पुष्प-विशेष का बोध होगा, यह शुरू में ही निश्चित हो गया। इसी तरह से अनंत संकेत बना लिये गये जिनसे आजतक काम चलता आ रहा है।

'वादी दोषं न पश्यति' के अनुसार भामह ने स्फोटवाद के दोषों को तो बड़ी स्पष्टता से देखा पर स्वयं अपने मत की त्रुटियों पर ध्यान नहीं दिया। सृष्टि के आरंभ में इस प्रकार का संकेत कर लिया गया। पर यह संकेत किसने किया ? और, जबतक संकेत स्थिर हुआ नहीं था तबतक लोक-व्यवहार कैसे संपन्न होता था ? आखिर कुछ लोगों ने मिलकर यह निर्णय किया होगा कि अमुक क्रम से अमुक वर्ण उच्चरित होकर अमुक अर्थ

शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्।
नभःकुसुममस्तीति श्रद्दध्यात्कः सचेतनः ॥ १२ ॥
इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः ॥ १३ ॥

के बोधक हों। जिस दिन यह निर्णय हुआ होगा उसके पहले कैसे काम चलता था ? जिस प्रकार पहले चलता था, उसी प्रकार बाद में भी चल सकता था। फिर, एकाएक यह कैसे अनुभव हुआ कि हमें सुनिश्चित संकेतों की आवश्यकता है ? अनुभव हुआ भी तो संकेतों का निर्धारण किस माध्यम के द्वारा किया गया ? फिर, जो संकेत निर्धारित हुए वे आगे चलकर बदले क्यों गये ? बदले गये तो किसकी सम्मति से ? (आज वही भाषा तो नहीं बोली जा रही है जो सृष्टि के आरंभ में बोली जाती थी। न जाने उसका कितनी बार रूप-परिवर्त्तन हुआ ?) इस तरह की अनेक शंकाएँ हैं जिनका समाधान इस मत से नहीं होता।

शब्द का स्वरूप

१४. वह (शब्द) नित्य और अविनाशी है तथा ध्वनि से भिन्न है। मंदबुद्धि सांकेतिक अर्थों को पारमार्थिक मानते हैं।

पूर्व कारिका में भामह ने जिस संकेत का निर्देश किया उसे वर्णों से निष्पन्न माना किन्तु वर्ण अनित्य हैं, क्योंकि उच्चारण के साथ ही उनका विनाश हो जाता है। ऐसी स्थिति में अनित्य अवयवों (वर्णों) से निष्पन्न संकेत (शब्द) भी अनित्य होगा और अनित्य होने से हानि यह है कि उससे दुबारे अर्थ का बोध नहीं हो पायगा। दियासलाई की जो बत्ती अभी जल गयी उसे कल नहीं जला सकते, कल दूसरी बत्ती की आवश्यकता पड़ेगी। शब्द में भी यदि नित्यता नहीं रही तो एक बार अर्थ का बोध करा देने पर वह समाप्त हो गया। अब दूसरी बार उससे अर्थ नहीं मिल सकता। इस तरह प्रतिदिन नया संकेत गढ़ना अनिवार्य होगा। प्रतिपक्षी की इसी आपत्ति का समाधान प्रस्तुत कारिका में है।

भामह कहते हैं कि जिस संकेत का मैंने निर्देश किया है वह कूटस्थ (विकार-रहित) और अनपायी (अविनाशी) है, अर्थात् शब्द में न तो कोई परिवर्त्तन होता है, न उसका विनाश होता है। अभी किसी ने 'कमल' कहा तो वस्तु-विशेष का बोध हुआ, दूसरी बार भी यदि कोई इसी क्रम से इन वर्णों का उच्चारण करेगा तो उस वस्तु का बोध होगा। अतः शब्द की नित्यता खंडित कहाँ हुई ? तब प्रतिपक्षी की दूसरी आपत्ति यह है कि वर्णों को शब्द मानने पर आप प्रकारांतर से नाद (ध्वनि) को ही शब्द मानने को बाध्य हुए। वर्ण नाद-स्वरूप है, अर्थात् जिसे वर्ण कहते हैं वह ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उन्हीं वर्णों से शब्द बनता है; इसका अर्थ यह हुआ कि शब्द ध्वनिमात्र है। इस तरह शब्द और ध्वनि (नाद) में अभेद हो जाता है, यद्यपि होना चाहिए उनमें अभि-व्यंग्य-अभिव्यंजकभाव-सम्बन्ध, क्योंकि ध्वनि अभिव्यंजक है और शब्द अभिव्यंग्य।

स कूटस्थोऽनपायी च नादादन्यश्च कथ्यते।
मन्दाः साङ्केतिकानर्थान्मन्यन्ते पारमार्थिकान् ॥ १४ ॥

भामह का कहना है कि शब्द और नाद (ध्वनि) के भेद को मैंने भी ध्यान में रखा है। मैं जिन वर्णों से शब्द की निष्पत्ति मानता हूँ वे नादस्वरूप नहीं बल्कि नाद से अभिव्यंग्य हैं; नाद व्यंजक है और वर्ण व्यंग्य, इसलिए दोनों का भेद स्पष्ट है।

१५. सत्तात्मक अर्थ से (शब्द का) सम्बन्ध नित्य हो अथवा अनित्य (विनश्वर), उन विद्वानों को नमस्कार है जो इसके निश्चय में प्रमाण हैं।

इस विवाद को भामह और अधिक पल्लवित करना नहीं चाहते, अतः उपसंहार करते हैं। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर कई मत हैं, जैसे कुछ लोग उसे नित्य मानते हैं तो कुछ लोग अनित्य। दोनों के पक्ष तर्क-समर्थित हैं। वे श्रद्धा के भाजन हैं। बस !

'सत्ता' इस विशेषण का अर्थ सत्तात्मक अर्थात् विधिरूप लेना उचित होगा, क्योंकि अगली कारिका में अभावात्मक अर्थ का निरूपण है।

बौद्धों का मत

१६. दूसरों का कथन है कि अन्य (वस्तुओं) के अपोह से शब्द अर्थ का बोध कराता है। अन्य के अपोह का तात्पर्य है अन्य पदार्थ का निराकरण।

वैयाकरणों, नैयायिकों आदि ने जहाँ अर्थबोध की प्रक्रिया को भावात्मक (positive) माना है वहाँ बौद्धों ने अभावात्मक (negative)। कमल शब्द का उच्चारण करने पर पुष्पविशेष का बोध हुआ, गाय शब्द को सुनकर पशुविशेष का बोध हुआ तो यह भावात्मक प्रक्रिया कहलायगी। बौद्धों का मत इसके विपरीत है।

उनका कहना है कि अर्थ में शब्द की सीधे प्रवृत्ति नहीं होती बल्कि उससे तदतिरिक्त वस्तुओं की निराकृति होती है, परिशेषात् जिस अर्थ के लिए उस शब्द का प्रयोग हुआ रहता है उसका बोध हो जाता है। जैसे, किसी ने कमल शब्द का उच्चारण किया तो अपोह-वाद के अनुसार यह सीधे कमल अर्थ (वस्तु) का बोध नहीं करायगा बल्कि कमल के अतिरिक्त और जो भी वस्तुएँ हैं उनको बुद्धि से हटा देगा; जब शेष सभी वस्तुएँ हट गयीं तब एक कमल बच रहा। स्वभावतः उसका बोध हो गया। इसी तरह गाय कहने पर गाय का साक्षात् बोध नहीं होता; गाय से भिन्न जितनी वस्तुएँ हैं पहले उनका निराकरण होता है। इसीलिए अपोह को अभावात्मक कहा गया है। अपोह का सीधा अर्थ है **अतद्व्यावृत्ति**—

विनश्वरोऽस्तु नित्यो वा सम्बन्धोऽर्थेन वा सता।
नमोऽस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो प्रमाणं येऽस्य निश्चितौ ॥ १५ ॥
अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।
अन्यापोहश्च नामान्यपदार्थापाकृतिः किल ॥ १६ ॥

(न तत् = अतत् = वह नहीं, अर्थात् उससे भिन्न की व्यावृत्ति = निवृत्ति) अर्थात् जिस वस्तु का बोध करने के लिए शब्द का प्रयोग हुआ उससे भिन्न जितनी वस्तुएँ हैं उनको हटा देना।

अपोहवाद का खंडन

१७. यदि 'गो' शब्द अन्य (गो-भिन्न पदार्थों) के निराकरण में ही (अपनी) शक्ति समाप्त कर चुका तो 'गो' में गो-बुद्धि उत्पन्न करनेवाली (गो-अर्थ का बोध करानेवाली) दूसरी ध्वनि ढूँढ़नी होगी।

अपोहवाद के अनुसार शब्द से अर्थ का बोध साक्षात् नहीं, अपितु अन्यापोह या अतद्व्यावृत्ति के द्वारा होता है। जैसे, गो का अर्थ पशुविशेष नहीं, गो-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति है। पर प्रश्न यह है कि जबतक गो का ज्ञान नहीं होता तबतक गो-भिन्न की व्यावृत्ति (निराकरण) कैसे संभव है? दूसरी चीज यह कि एक गाय का परिज्ञान सुकर है या उससे भिन्न अनंत वस्तुओं का? तीसरी कठिनाई भी है। 'गो' शब्द में अर्थबोध की जो शक्ति है वह तो समाप्त हो चुकी गो-भिन्न की व्यावृत्ति में। अब उससे गो का बोध कैसे होगा? क्योंकि एक बार प्रयुक्त शब्द एक ही अर्थ का बोध करा सकता है। (सकृत् प्रयुक्तः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति।) यहाँ दो अर्थ हैं: (१) गो और (२) गो-भिन्न की व्यावृत्ति। यदि आप दूसरा अर्थ लेते हैं तो पहला छट जाता है। फिर, उसके बोध का कोई साधन नहीं है। तब एक ही उपाय है कि उसका बोध कराने के लिए कोई दूसरी ध्वनि गढ़ी जाय, अर्थात् दूसरा शब्द ढूँढ़ा जाय। तो इस शब्द-प्रयोग से क्या लाभ जो वांछित के बदले अवांछित का ही बोध करावे!

अपोहवाद के खंडन की दूसरी युक्ति

१८. शब्द का फल है अर्थबोध, और एक (शब्द) के दो फल नहीं होते। आप के यहाँ निषेध (अपवाद) और विधि का ज्ञान (ये) दो फल एक (शब्द) से ही कैसे (उपलब्ध होते हैं)?

शब्द का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि अर्थ का बोध हो पर उसके साथ यह नियम है कि एक बार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ का बोध करा सकता है। यदि ऐसा न होता तो आज कोई शब्द, जैसे पानी, कह देते और उसी से प्रतिदिन काम चलता रहता। किन्तु दो घंटे बाद भी यदि फिर प्यास लगे तो 'पानी' शब्द का उच्चारण करना होगा, अन्यथा पानी नहीं मिलेगा। इस तरह जब-जब अर्थबोध की आवश्यकता पड़ती

यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः॥ १७॥
अर्थज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम्।
अपवादविधिज्ञाने फले चैकस्य वः कथम्॥ १८॥

तब-तब शब्द का उच्चारण करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि एक शब्द से दो अर्थों का बोध नहीं हो सकता।

जैसा देख चुके हैं, अपोहवादी की दृष्टि में शब्द का अर्थ है अतद्व्यावृत्ति, न कि स्वयं वह वस्तु। अतद्व्यावृत्ति में शब्द की प्रवृत्ति होने से वस्तु का निषेधात्मक बोध ही होता है, विध्यात्मक नहीं। इस असंगति को दूर करने के लिए रत्नकीर्त्ति ने शब्द की विध्यात्मक और निषेधात्मक उभयथा प्रवृत्ति मानी है :

नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः। नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रं किन्त्वन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः।—अपोहसिद्धि : पृ० ३

—अपोह शब्द से हमें न केवल विधि अभिमत है और न केवल अन्य-व्यावृत्ति (निषेध), अपितु अन्यव्यावृत्ति-विशिष्ट विधि शब्द का अर्थ है, अर्थात् एक ही शब्द से निषेध और विधि दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं; 'गो' शब्द से गो-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति (निषेध) भी हो जाती है और गो की प्रतीति (विधि) भी।

भामह इस विधि-निषेधात्मक द्विविध शब्द-प्रवृत्ति का खंडन करते हैं। शब्द से या तो विधि हो सकती है या निषेध; दोनों नहीं हो सकते। शब्द-प्रयोग के जो स्वीकृत नियम हैं उनमें दोनों का अवकाश नहीं है। उन नियमों की यदि कोई अवहेलना करता है तो यह उसकी स्वच्छंदता-मात्र है। इसलिए अपोहवाद अमान्य है।

अपवाद का अर्थ है निषेध।

अपोहवाद के खंडन की तीसरी युक्ति

१६. गो-शब्द सुनने से पहले गो अर्थ का ज्ञान होना चाहिए, तभी उससे गो-भिन्न के निषेध (व्यावृत्ति) में गो की ध्वनि की प्रवृत्ति होगी।

जबतक गाय को कोई न पहचाने तबतक वह कैसे निर्णय कर सकता है कि यह गाय है और यह गाय से भिन्न। और, जब 'गाय' शब्द सुनकर गाय का ज्ञान हो ही गया तब उससे भिन्न वस्तुओं के ज्ञान के चक्कर में कोई क्यों पड़े? लक्ष्य तो था गाय का ही बोध, वह जब सीधे निष्पन्न हो जाता है तब द्राविड प्राणायाम निरर्थक है। इसलिए विधिरूप अर्थ लेने में ही सौकर्य है, निषेधरूप में नहीं।

२०. वर्ण-भेद के कारण शब्द भिन्न (हुआ), और अपने अंशों के विकल्प के कारण स्वयं वर्ण (भी भिन्न हुए)। (तब) शब्द किसे (कहें)? उसका अर्थ क्या होगा? यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है।

पुरा गौरिति विज्ञानं गोशब्दश्रवणाद्भवेत्।
येनागोप्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः॥ १६॥
वर्णभेदादिदं भिन्नं वर्णाः स्वांशविकल्पतः।
के शब्दाः किञ्च तद्वाच्यमित्यहो वर्त्म दुस्तरम्॥ २०॥

बाद्धों के अनुसार शब्द-अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध की जो अनुपपत्ति थी उसका तीन कारिकाओं में खंडन किया। अब शब्द में ही जो अनुपपत्ति है उसकी चर्चा करते हैं।

बौद्ध क्षणिकवादी हैं, अर्थात् किसी भी वस्तु की स्थिति क्षण-मात्र से अधिक नहीं मानते। अतः वर्ण भी क्षणिक ही हुए। क्षणिक वर्णों से निष्पन्न शब्द भी क्षणिक। फिर ऐसे क्षणिक शब्दों से अर्थों का सम्बन्ध स्थायी किस प्रकार हो सकता है? यदि सम्बन्ध स्थायी न हो तो आज यदि किसी शब्द का अर्थ जाना गया तो वह आज ही विनष्ट हो गया, कल उसका अर्थ फिर जानना पड़ेगा तभी प्रयोग हो सकेगा। किन्तु इसका प्रत्यक्ष विरोध है। आज जाना हुआ शब्द का अर्थ जीवन भर काम में आता है अतः शब्द को या शब्दार्थ-सम्बन्ध को क्षणिक (अनित्य) मानना कथमपि न्याय्य नहीं है।

शब्द-विभाग

२१. द्रव्य, क्रिया, जाति और गुण के भेद से वे (शब्द) चार प्रकार के हैं। दूसरे, डित्थ आदि यदृच्छा शब्दों को भी स्वीकार करते हैं।

शब्द चार प्रकार के माने जाते हैं: (१) द्रव्यवाचक, जैसे जल, पृथ्वी आदि; (२) क्रियावाचक, जैसे पढ़ता है, खेलता है; (३) जातिवाचक, जैसे मनुष्य, पशु आदि; (४) गुणवाचक, जैसे उजला, पीला आदि। इन्हीं चार भेदों में सभी शब्द गतार्थ हो जाते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ लोग एक पाँचवाँ भेद भी मानते हैं और वह है यदृच्छावाचक। यदृच्छा का अर्थ है जैसी इच्छा (यादृशी इच्छा), अर्थात् वह शब्द जो वक्ता की इच्छा का अनुगामी हो। यदृच्छा से संज्ञावाची शब्द का बोध होता है। जैसे, कोई अपने पुत्र का नाम 'हीरा' रखता है तो कोई 'मोती', किसी को 'रामचन्द्र' पसंद है तो किसी को 'कृष्ण-चन्द्र'। अब ये नाम केवल वक्ता की स्वेच्छा से प्रेरित हैं, इनके पीछे कोई तर्क या सार्थकता नहीं है।

भामह स्वयं 'यदृच्छा' को पृथक् भेद के रूप में स्वीकार नहीं करते जैसा उनके 'अन्ये' से स्पष्ट है। वस्तुतः यदृच्छावाची शब्द द्रव्य का—किसी-न-किसी वस्तु का ही—बोधक होता है। अतः द्रव्यवाचक में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है, फिर उसकी पृथक् कल्पना से क्या लाभ? यही कारण है कि शब्द के चार विभाग ही सामान्यतः स्वीकृत और प्रसिद्ध हैं।

२२. विभिन्न भाषाओं और अनन्त अर्थों के बोधक इन शब्दों की विशेषता-सहित सीमा कौन निर्धारित कर सकता है?

द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात्ते च चतुर्विधाः।
यदृच्छाशब्दमित्यन्ये डित्थादिं प्रतिजानते॥ २१॥
नानाभाषाविषयिणामपर्यन्तार्थवर्त्तिनाम्।
इयत्ता केन वाऽमीषां विशेषादवधार्यते॥ २२॥

लोक में जितने प्रयोज्य शब्द हैं उन सबका अवगम किसे हो सकता है ? एक तो भाषाएँ असंख्य, फिर प्रत्येक में शब्द अनन्त । उन असंख्य भाषाओं के अनन्त शब्दों का परिचय भी असंभव है, विशिष्ट ज्ञान की बात तो दूर रही ।

इस प्रसंग में महर्षि पतंजलि का यह कथन ध्यातव्य है :

महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः—सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्नाः एकशतम् अध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणम्, वैद्यकम् इत्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयम् अननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रम् ।
—महाभाष्य : पस्पशाह्निक

शब्द-प्रयोग का क्षेत्र बहुत विस्तृत है । सात द्वीपों से युक्त पृथ्वी, तीन लोक, अंगों और रहस्यों से समन्वित बहुधा विभिन्न चार वेद, यजुर्वेद की सौ शाखाएँ, सामवेद की सहस्र शाखाएँ, ऋग्वेद के इक्कीस प्रकार, नवधा अथर्ववेद, तर्कशास्त्र, इतिहास, पुराण आयुर्वेद आदि इतने शब्द-प्रयोग के क्षेत्र हैं । शब्द-प्रयोग के इस व्यापक क्षेत्र को बिना देखे यह कहना कि 'ये शब्द अप्रयुक्त हैं' साहसमात्र है ।

काव्योपयोगी शब्दों का विचार

२३. जो शब्द वक्रोक्तिप्रवण कवियों के प्रयोग के योग्य हैं और जो प्रयोग के योग्य नहीं हैं यहाँ उनका विवेचन किया जा रहा है ।

उपर्युक्त कारिका में कह चुके हैं कि शब्दों का अनन्त विस्तार जानना किसी के लिए भी संभव नहीं हैं । अतः यहाँ उन्हीं शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व पर विचार किया जा रहा है जो काव्य में प्रयुक्त होने के योग्य हों । साधारण, दैनिक व्यवहार में आनेवाले और काव्य में उपयोज्य होनेवाले शब्दों में अन्तर है । यहाँ द्वितीय कोटि के शब्दों पर ही विचार करना लक्ष्य है ।

अप्रयुक्त

२४. मन में भ्रम उत्पन्न करनेवाले अप्रयुक्त (शब्द) का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अर्थ समान होने पर भी जाने के अर्थ में हन् (धातु) का कौन व्यवहार करेगा ?

वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रति साधवः ।
प्रयोक्तुं ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते ।। २३ ।।
नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतःसंमोहकारिणम् ।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि क यात्को हन्तिं गतिवाचिनम् ।। २४ ।।

अप्रयुक्त का अर्थ है—वह प्रयोग, जिसका पूर्ववर्त्ती लेखकों द्वारा नहीं किया गया हो। व्याकरण से शब्द निष्पन्न और शुद्ध हो तो भी यदि पूर्ववर्त्ती लेखकों ने उसका प्रयोग नहीं किया हो तो उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे निरर्थक भ्रम होता है। जैसे, संस्कृत में हन् धातु के दो अर्थ हैं—मारना और जाना (हन् हिंसागत्योः—पाणिनि-धातुपाठ) किन्तु उसका प्रयोग लेखकों ने मारने के ही अर्थ में किया है, जाने के अर्थ में नहीं। अब यदि कोई 'वह जाता है,' के लिए 'स हन्ति' कहे तो इससे श्रोता को भ्रम होगा।

दुर्बोध, अपेशल, ग्राम्य, निरर्थक शब्द का प्रयोग हेय

२५. श्रौत्र आदि दुर्बोध, दुष्ट आदि अपेशल, पिंडीशूर आदि ग्राम्य और डित्थ आदि निरर्थक (शब्दों का प्रयोग) नहीं करना चाहिए।

श्रोत्रिय से 'अण्' प्रत्यय करने पर श्रौत्र शब्द बनता है जिसका अर्थ है श्रोत्रिय का कर्म या भाव। इस अर्थ में श्रौत्र का प्रयोग सुगमता से समझ में आनेवाला नहीं है क्योंकि व्याकरण के अनतिप्रचलित नियमों से यह बना है। दुष्ट आदि शब्द अपेशल होने से अव्यवहार्य हैं। पिंडीशूर का अर्थ है भोजनभट्ट। उसमें ग्राम्यता है। अतः ऐसे शब्दों को काम में नहीं लाना चाहिए। वैसे शब्दों का भी प्रयोग हेय है जो निरर्थक हों, जैसे किसी का नाम हो डित्थ। तो, डित्थ से उसका बोध तो हो जायगा पर अर्थहीन होने से उसमें रमणीयता नहीं रहेगी। देहातों में अपठित जनता के बीच ऐसे बहुत सारे नाम मिलते हैं।

अप्रतीत

२६. धातु के अनेकार्थक होने मात्र से (उसका) वसे अर्थ में (प्रयोग) नहीं करना चाहिए जो अप्रतीत (अप्रसिद्ध) हो। (इसी तरह) लेशमात्र ज्ञापक से निष्पन्न का भी (प्रयोग) नहीं करना चाहिए, जैसे स हन्ति, ध्याति आदि।

२४वीं कारिका में जो कह चुके हैं उसे ही प्रकारान्तर से यहाँ भी कहते हैं। धातु-पाठ में बहुत सारे धातु अनेकार्थक कहे गये हैं किन्तु उनका सभी अर्थों में समान भाव से प्रयोग हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। अनेकार्थक होने पर भी अर्थविशेष में प्रयोग चल पड़ा, शेष अर्थ उपेक्षित हो गये। जैसे, कोश के अनुसार 'हरि' शब्द का अर्थ विष्णु भी है और अग्नि भी, पर विष्णु अर्थ प्रचलित है और अग्नि अप्रचलित। अब, यदि कोश में लिखित होने के कारण ही कोई कहे कि 'हरि' जलाओ तो श्रोता अग्नि का

श्रौत्रादिं न तु दुर्बोधं न दुष्टादिमपेशलम्।
ग्राम्यं न पिण्डीशूरादिं न डित्थादिमपार्थकम् ॥ २५ ॥
नाप्रतीतान्यथार्थत्वं धात्वनेकार्थतावशात्।
न लेशज्ञापकाकृष्टं स हन्ति ध्याति वा यथा ॥ २६ ॥

अर्थ नहीं समझ सकेगा। यहाँ धातु शब्द-मात्र का उपलक्षण है। तात्पर्य कि शब्द का प्रयोग करते समय प्रसिद्धि और प्रचलन पर ध्यान रखना चाहिए।

ज्ञापक का अर्थ है जतानेवाला। यदि कोई प्रयोग व्याकरण के नियम से सिद्ध नहीं हो रहा हो परन्तु दूसरे प्रयोग से स्वल्प साम्य के आधार पर किसी प्रकार उसे खींच-तान कर सिद्ध कर दिया जाय तो जिस प्रयोग के आधार पर उसे सिद्ध किया जाता है उसे उसका ज्ञापक कहते हैं। भामह ज्ञापक से निष्पादित प्रयोग को भी हेय मानते हैं, क्योंकि वह नियमतः सिद्ध नहीं होता, जोर-जबरदस्ती से सिद्ध कर दिया जाता है।

प्रथम दोष का उदाहरण है 'स हन्ति' (वह जाता है)। हन् धातु हिंसा और गमन अर्थ में पठित होने पर भी हिंसा में ही प्रसिद्ध है, गमन में नहीं। अतः गमन अर्थ में प्रयोग अनुचित है।

द्वितीय दोष का उदाहरण 'ध्याति' है। ध्या धातु का रूप लट् प्रथमपुरुष एक-वचन में 'ध्यायति' होता है। यदि कोई गणकार्य को अनित्य मानकर शप् विकरण का लुक् करके 'ध्याति' बना ले तो इसे ही ज्ञापक (गणकार्य की अनित्यता) से आकृष्ट (खींचा हुआ) कहेंगे। यह प्रयोग नियम से नहीं, खींचतान कर बनाया गया।

कारिका का अन्वय ऐसे करेंगे : धात्वनेकार्थतावशात् अप्रतीतान्यथार्थत्वं न (प्रयुञ्जीत), न (च) लेशज्ञापकाकृष्टं (प्रयुञ्जीत)।

अन्यथा (दूसरा) अर्थ है जिसका वह अन्यथार्थ, उसका भाव अन्यथार्थत्व, अर्थात् अर्थान्तर-वाचकत्वा अप्रतीत (अप्रसिद्ध) है अन्यथार्थत्व जिसका वह शब्द। तात्पर्य कि वह शब्द, जिसका अर्थान्तरवाचकत्व अप्रसिद्ध है (जिसका दूसरा अर्थ प्रसिद्ध नहीं है)।

लेशज्ञापकाकृष्ट—लेश (स्वल्प) ज्ञापक से आकृष्ट (खींचा हुआ), अर्थात् नाममात्र के ज्ञापक से निष्पादित (शब्द)।

२७. शिष्टों ने प्रयोग किया है, इसीलिए (असाधु शब्द का प्रयोग) नहीं करना चाहिए और न दूसरे शास्त्रों से साधित (शब्दों) का। 'छन्दोवत्' इस नियम के अनुसार वैदिक रूपों का भी व्यवहार नहीं करना चाहिए।

किसी सम्मानित लेखक ने असाधु प्रयोग किया हो तो यह सोचकर कि उसने किया है तो मैं भी क्यों न करूँ, उसे नहीं दुहराना चाहिए। भूल चाहे किसी की हो, भूल ही है, अतः अनुकरणीय नहीं। शब्द की शुद्धाशुद्धि के लिए व्याकरण के अतिरिक्त दूसरे शास्त्र का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करना चाहिए। 'तन्त्रान्तर' का कुछ लोग व्याकरणा-न्तर भी अर्थ करते हैं। तब उसका अर्थ होगा कि पाणिनि को छोड़कर दूसरे का व्याकरण भी अमान्य है किंतु यह अभिप्राय अतिवादी कहा जायगा। पाणिनि के प्रति श्रद्धा का

न शिष्टैरुक्तमित्येव न तन्त्रान्तरसाधितम्।
छन्दोवदिति चोत्सर्गान्न चापि च्छान्दसं वदेत्॥ २७॥

अतिशय तो समझा जा सकता है पर दूसरे वैयाकरणों के प्रति ऐसी अवमानना कहाँतक उचित होगी ? इसलिए 'तन्त्रान्तर' का अर्थ व्याकरणातिरिक्त शास्त्रान्तर लेना ही समीचीन है। **यूस्त्र्याख्यौ नदी** (१।४।३) इस पाणिनि-सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में महाभाष्यकार ने कहा है कि **'छन्दोवत् कवयो वदन्ति'**, अर्थात् कवियों का प्रयोग छन्द (वेद) के समान नियम से अनाबद्ध होता है। **'बहुलं छन्दसि'** इस सूत्र के अनुसार सभी नियम वेद में वैकल्पिक होते हैं—कहीं उनके अनुकूल कार्य होता है, कहीं नहीं होता है। जैसे, तृतीया बहुवचन में 'देवैः' भी होता है और 'देवेभिः' भी। अब उसकी देखादेखी कोई कवि कहे कि मैं 'देवेभिः' लिखूँगा तो यह गलत होगा।

प्रयोज्य शब्द

२८. परम्परागत, श्रवण-सुखद (उत्कृष्ट), अर्थयुक्त शब्द काम में लाना चाहिए। वर्ण-सौंदर्य दूसरे (सभी) अलंकारों से बढ़कर है।

२४वीं से २७वीं कारिकाओं तक में निरूपित जो दोष हैं उनके परित्याग का निषेध-मुख से कथन कर यहाँ विधि-मुख से प्रयोज्य शब्दों का विवेचन करते हैं। इस विवेचन में पूर्वोक्त सभी दोषों का निराकरण हो जाता है, जैसे परम्परागत कहने से अप्रयुक्त, दुर्बोध, अप्रतीतान्यथार्थत्व और ज्ञापकाकृष्ट का श्रवण-सुखद कहने से ग्राम्य और अपेशल का तथा अर्थयुक्त कहने से अपार्थक का। यहाँ व्यंजन-सौंदर्य शब्द-सौंदर्य का संग्राहक है। अलंकार-योजना की अपेक्षा कवि को शब्द-साधुत्व पर अधिक ध्यान देना चाहिए। पहले शब्द ही हृदयंगम होता है अतः उसे ही निर्दोष होना चाहिए। उसके निर्दोष होने पर ही अलंकार चमत्कार उत्पन्न कर सकेगा। अलंकार रहे ही और शब्द सदोष हो तो उससे आनन्द के बदले पाठक को उद्वेग होगा।

२९. जो शब्द वार्त्तिक से सिद्ध हो या भाष्य से प्रमाणित हो उसे ही ग्रहण करना चाहिए, प्रायः योगविभाग से निष्पन्न को नहीं।

उपसंख्यान का अर्थ है वार्त्तिक। चूँकि कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों में 'उपसंख्यानम्' (कहना चाहिए) का बहुल प्रयोग किया है इसलिए वह वार्त्तिक का वाचक बन गया है। इसी प्रकार 'दृष्टि' महाभाष्य का बोधक है।

क्रमागतं श्रुतिसुखं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत्।
अतिशेते ह्यलङ्कारमन्यं व्यञ्जनचारुता ॥ २८ ॥
सिद्धो यश्चोपसंख्यानादिष्ट्या यश्चोपपादितः।
तमाद्रियेत प्रायेण न तु योगविभागजम् ॥ २९ ॥

भामह का मंतव्य है कि मुख्यतः जो शब्द पाणिनि के सूत्रों से सिद्ध हैं वे ही प्रयोज्य हैं। उनके बाद वार्तिक अथवा महाभाष्य से प्रमाणित शब्दों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। किन्तु जो शब्द योगविभाग से निष्पन्न हैं उन्हें भरसक नहीं लेना चाहिए।

बहुत सारे प्रयोग पाणिनि के सूत्रों से सीधे नहीं बनते। उनकी सिद्धि के लिए वैयाकरण प्रायः सूत्रों को तोड़ देते हैं और दूसरे सूत्रों के साथ उनका अन्वय कर अभिमत शब्द सिद्ध कर लेते हैं। इसी प्रणाली को योग-विभाग कहते हैं। योग-विभाग एक प्रकार से खींचतान ही है, इसीलिए वह भामह को स्वीकार नहीं है।

उदाहरण

३०. यह कन्या, जिसका मुख चन्द्रमा जैसा है, प्रकृति से ही सुन्दर है। सोने के आभूषण उसके सौंदर्य को अत्यधिक बढ़ा रहे हैं।

यह उदाहरण वार्त्तिक-सिद्ध प्रयोग का है। पाणिनि का एक सूत्र है **कर्त्तृकरणयोस्तृतीया**—२।३।१८, इससे अनभिहित कर्त्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है; जैसे, 'रामेण पठितम्' यहाँ कर्त्तरि तृतीया है और 'रामः बाणेन रावणं हतवान्' में करणे तृतीया है। इसी प्रसंग में वार्त्तिक है **प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्**—प्रकृति आदि शब्दों के योग में भी तृतीया होती है; जैसे प्रकृत्या सुन्दरः, स्वभावेन कृपणः।

प्रस्तुत उदाहरण में 'प्रकृत्यैव मनोहरा' प्रकृति शब्द के योग में तृतीया विभक्ति का उदाहरण है। उनतीसवीं कारिका में भामह ने सूत्र, वार्त्तिक और भाष्य इन तीनों में से किसी एक के द्वारा निष्पन्न प्रयोग को ही ग्राह्य बताया है। यहाँ वार्त्तिक द्वारा निष्पन्न प्रयोग उदाहृत है।

३१. वृद्धि और वृद्ध्यभाव (इन दोनों पक्षों) में वृद्धिपक्ष का ही प्रयोग करना चाहिए, जैसे मृज् धातु का। आँसू की गिरती हुई बूँदें तुम्हारे अधर-राग को धो रही हैं।

यहाँ से इस परिच्छेद के अन्त तक भामह पाणिनि के कुछ सूत्रों को दृष्टिपथ में रखकर प्रयोगों की ग्राह्यता-अग्राह्यता का विचार करते हैं।

अष्टाध्यायी का पहला सूत्र है **'वृद्धिरादैच्'**। अतः सर्वप्रथम वृद्धि को ही लेते हैं। अ का आ, (लवण—लावण्य), इ का ऐ (इन्द्र—ऐन्द्र, ईश्वर—ऐश्वर्य) और उ का औ

इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा।
अस्यां सुवर्णालङ्कारः पुष्णाति नितरां श्रियम्॥ ३०॥

वृद्धिपक्षं प्रयुञ्जीत सङ्क्रमेऽपि मृजेर्यथा।
मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो बाष्पबिन्दवः॥ ३१॥

(सुन्दर—सौन्दर्य) हो जाना वृद्धि है। कहीं तो यह वृद्धि अनिवार्य है और कहीं वैकल्पिक। जहाँ अनिवार्य है (जैसे उपर्युक्त उदाहरणों में) वहाँ वृद्धि करनी ही होगी। जहाँ वैकल्पिक है वहाँ प्रयोक्ता की इच्छा; वह चाहे तो करे, न चाहे तो न करे। भामह का कहना है कि वहाँ भी वृद्धिपक्ष ही ग्राह्य है; वृद्धि नहीं करने की अपेक्षा कर लेना अधिक अच्छा है।

मृज् (माँजना, धोना) धातु के लट् प्रथम पुरुष एकवचन में वैकल्पिक वृद्धि होती है। वृद्धि होने पर रूप होता है मार्जन्ति और न होने पर मृजन्ति। इनमें भामह के अनुसार 'मार्जन्ति' का ही प्रयोग करना चाहिए (क्योंकि उसमें वृद्धि हुई है), मृजन्ति का नहीं।

प्राचीन वैयाकरणों के मत में **संक्रम** संज्ञा है कित्-ङित् प्रत्ययों की। जो प्रत्यय कित्-ङित् होते हैं, अर्थात् जिन प्रत्ययों में क् और ङ् का लोप हुआ रहता है उनके योग में न वृद्धि होती है, न गुण। अतः सामान्य रूप से 'संक्रम' वृद्धि के अभाव का वाचक हुआ।

३२. यदि सरूपशेष हो तो 'पुमान् स्त्रिया' (सूत्र से) अवशिष्ट का प्रयोग करना चाहिए; जैसे वरुणौ, इन्द्रौ, भवौ, शर्वौ, मृडौ आदि।

व्याकरण में एक प्रकरण है एकशेष। जैसा एकशेष नाम से स्पष्ट है, सरूप अनेक शब्दों में एक ही शेष रहता है, बाकी का लोप हो जाता है। पाणिनि का सूत्र है: **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** —१।२।६४, अर्थात् एक विभक्ति में समानरूपवालों में से एक ही शेष रहता है। इसीके बाद दूसरा सूत्र है : **पुमान् स्त्रिया** — १।२।६७, जिसका अर्थ है कि स्त्रीवाचक शब्द के साथ पुंवाचक शब्द का प्रयोग हो तो उसमें पुंवाचक शब्द रह जाता है और स्त्रीवाचक शब्द का लोप हो जाता है। जैसे 'हंसी च हंसश्च हंसौ'। 'हंसी' स्त्रीवाचक है और 'हंसः' पुंवाचक। इन दोनों में 'हंसः' अवशिष्ट रहा और 'हंसी' का लोप हो गया। दो के कारण 'हंसौ' में द्विवचन हुआ और उसीसे दोनों का बोध हो गया, क्योंकि **यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी।**

वरुण की स्त्री वरुणानी, इन्द्र की इन्द्राणी, भव की भवानी, शर्व (शंकर) की शर्वाणी, मृड (शंकर) की मृडानी। अब इन युग्मों में पूर्वोक्त 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र से पुरुषवाचक शब्द ही शेष रहेगा, स्त्रीवाचक लुप्त हो जायगा और दोनों को कहने के लिए द्विवचन आ जायगा; जैसे वरुणानी च वरुणश्च—वरुणौ; इन्द्राणी च इन्द्रश्च—इन्द्रौ; भवानी च भवश्च—भवौ; शर्वाणी च शर्वश्च—शर्वौ; मृडानी च मृडश्च—मृडौ। अर्थात् जहाँ वरुण की स्त्री और वरुण दोनों को कहना है वहाँ वरुणौ कहने से ही काम चल जायगा। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिए।

सरूपशेषं तु पुमान्स्त्रिया यत्र च शिष्यते।
यथाह वरुणाविन्द्रौ भवौ शर्वौ मृडाविति ॥ ३२ ॥

३३. जिस प्रकार प्रातिपदिक से णिच् करके 'पटयति' आदि (प्रयोग सिद्ध होते हैं), उसी प्रकार 'णाविष्ठवत्' इस इष्टि से 'क्रशयति' आदि (सिद्ध प्रयोग भी ग्राह्य हैं)।

तत्करोति तदाचष्टे एक वार्त्तिक है जिसका अर्थ है कि वह करता है, वह बोलता है, इस अर्थ में द्वितीयान्त पद से णिच् होता है। जैसे, घटं करोति घटयति—घड़ा बनाता है। पटुमाचष्टे पटयति—(किसी को) पटु कहता है। यहाँ करने (बनाने) और बोलने (कहने) के अर्थ में घट और पटु शब्दों से णिच् प्रत्यय करके घटयति, पटयति पद बने। इसीसे संबद्ध एक दूसरा नियम है **प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च**—प्रातिपदिक से धातु के अर्थ में णिच् होता है; इष्ठन् प्रत्यय होने पर जैसे प्रातिपदिक का पुंवद्भाव और र-भाव होता है वैसे णिच् में भी हो। कृशं करोति क्रशयति—पतला करता है। यहाँ कृश से 'करना' अर्थ में णिच् हुआ और ऋ का र होकर क्रशयति प्रयोग बना। इस तरह के णिजन्त प्रयोग भामह को अभिमत हैं।

३४. अदन्त अव्ययीभाव का प्रयोग करना चाहिए किन्तु पंचम्यन्त का नहीं। तृतीया और सप्तमी में अलुग्विषय का प्रयोग न करे।

अव्ययीभाव समास के प्रकरण में पाणिनि का सूत्र है : **नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः**—२।४।८३; न अव्ययीभावात् अतः अम् तु अपञ्चम्याः। अदन्त (अकारान्त) अव्ययीभाव से परे सुप् का लुक् (लोप) नहीं होता बल्कि पंचमी को छोड़कर उसका अम् आदेश हो जाता है। सामान्य नियम है कि अव्ययीभाव समास में सुप्-विभक्ति का लोप हो जाता है। उसका अपवाद है कि यदि अव्ययीभाव अदन्त हो तो सुप् का लोप नहीं होता बल्कि उसका अम् हो जाता है किन्तु यह अम् पंचमी में नहीं होता, पंचमी को छोड़कर शेष विभक्तियों में ही होता है। इसके साथ एक दूसरा सूत्र है : **तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्** (२।४।८४)—अदन्त अव्ययीभाव से तृतीया और सप्तमी विभक्तियों में बहुल अम्-भाव होता है, अर्थात् वहाँ वैकल्पिक है; कभी अम् हो भी सकता है, कभी नहीं भी हो सकता है।

इस प्रकार अम् को लेकर तीन कोटियाँ होती हैं : (१) पंचमी में निश्चित रूप से अम् नहीं होता; (२) तृतीया और सप्तमी में विकल्प से होता है; (३) शेष विभक्तियों में निश्चित रूप से होता है। जैसे 'दिशाओं के बीच' इस अर्थ में 'अपदिशम्' पद ले लें जो अव्ययीभाव से निष्पन्न है। तो इसके रूप होंगे—प्रथमा : अपदिशम्। द्वितीया—अपदिशम्।

यथा पटयतीत्यादि णिच्प्रातिपदिकात्ततः।
णाविष्ठवदितीष्ट्या च तथा क्रशयतीत्यपि॥ ३३॥
प्रयुञ्जीताव्ययीभावमदन्तं नाप्यपञ्चमी।
तृतीयासप्तमीपक्षे नालुग्विषयमानयेत्॥ ३४॥

तृतीया—अपदिशम्, अपदिशेन । चतुर्थी—अपदिशम् । पंचमी—अपदिशात् । षष्ठी—अपदिशम् । सप्तमी—अपदिशम्, अपदिशे ।

भामह का कहना है कि इनमें सामान्यतः अपदिशम् (अम् वाला) प्रयोग ही करना चाहिए ।

३५. तिष्ठद्गु प्रभृति में रात-दिन के वाचक (तिष्ठद्गु और वहद्गु) का प्रयोग करना चाहिए । जैसे, वह विद्वान् जब गाएँ खड़ी होती हैं, तब भी पढ़ता है और जब गाएँ चरती हैं, तब भी पढ़ता है ।

पाणिनि का एक सूत्र है: **तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च**—२।१।१७, जिससे तिष्ठद्गु आदि शब्द अव्ययीभाव समास के रूप में निपातित होते हैं और उनका प्रयोग क्रियाविशेषण के जैसा होता है । तिष्ठद्गु-गण में लगभग तीस शब्द हैं । उनमें **तिष्ठद्गु** और **वहद्गु** ये दो रात और दिन के वाचक हैं । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले स तिष्ठद्गु गोदोहनकालः, अर्थात् जिस समय गाएँ खड़ी हों उसे तिष्ठद्गु कहते हैं । दिन-भर चरने के बाद संध्या को गाएँ खड़ी होती हैं जब दुही जाती हैं । इस तरह संध्या को तिष्ठद्गु कहेंगे । वहन्ति गावो यस्मिन् काले स वहद्गु— जिस समय गाएँ चरती (चलती) रहें वह वहद्गु । गाएँ दिन भर चरती, अतः चलती रहती हैं. इसलिए वहद्गु दिन का वाचक हुआ । इस प्रकार तिष्ठद्गु और वहद्गु रात और दिन के बोधक हैं और पूर्वोक्त रीति से उनका प्रयोग हो सकता है : असौ विद्वान् तिष्ठद्गु च वहद्गु च अधीते— वह विद्वान् रात-दिन पढ़ता रहता है ।

३६-३७. केवल शिष्ट प्रयोग से या न्यासकार के मत से तच् के साथ षष्ठी-समास किसी प्रकार नहीं करना चाहिए । जैसे सूत्रज्ञापक मात्र से वृत्रहन्ता कहा गया । अक से भी वृत्ति (समास) न करनी चाहिए; जैसे तद्गमकः ।

पाणिनि का एक सूत्र है: **ण्वुल्तृचौ** —३।१।१३३, जिसका अर्थ है कि कर्त्ता (करनेवाला) अर्थ में धातु से ण्वुल् और तृच् ये दो प्रत्यय होते हैं । ण्वुल् का अक हो जाता है जिससे कारक, हारक, धारक आदि शब्द बनते हैं । तृच् प्रत्यय करने पर कर्त्ता, हर्त्ता, धर्त्ता आदि निष्पन्न होते हैं ।

पाणिनि का दूसरा सूत्र है : **तृजकाभ्यां कर्त्तरि** —२।२।१५, इससे तृच्

तिष्ठद्गुप्रभृतौ वाच्यौ नक्तंदिवसगोचरौ ।
यथा विद्वानधीतेऽसौ तिष्ठद्गु च वहद्गु च ॥ ३५ ॥
शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा ।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत् ॥ ३६ ॥
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः ।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा ॥ ३७ ॥

और अक प्रत्ययान्त शब्दों के साथ षष्ठी-समास का निषेध है, अर्थात् जिन शब्दों में तृच् या अक प्रत्यय लगा हो उनके साथ षष्ठी-समास नहीं हो सकता। जैसे 'घटस्य निर्माता' के बदले 'घटनिर्माता' नहीं होगा; दोनों पद असमस्त ही रहेंगे। इसी प्रकार 'ओदनस्य पाचक: में भी षष्ठी-समास नहीं होगा, क्योंकि पाचक: में अक है। इस नियम के अनुसार 'वृत्रस्य हन्ता' (वृत्रासुर को मारनेवाला) में भी समास नहीं होना चाहिए, क्योंकि हंता में तृच् प्रत्यय है, किंतु फिर भी वृत्रहन्ता प्रयोग हुआ है। कैसे ? ज्ञापक के आधार पर। स्वयं पाणिनि का एक सूत्र है : **जनिकर्त्तुः प्रकृतिः —१।४।३०,** जिससे उत्पद्यमान के कारण में पंचमी विभक्ति होती है। यहाँ 'तृजकाभ्यां कर्त्तरि' सूत्र के अनुसार षष्ठी-समास होना नहीं चाहिए, फिर भी हुआ है। 'जनेः कर्त्ता' का समास करके ही जनिकर्त्ता शब्द बना है जिसके षष्ठी-एकवचन में 'जनिकर्त्तुः' रूप बना है। यहाँ 'जनिकर्त्तुः' सूत्र का समास ज्ञापक है कि ऐसे स्थलों में षष्ठी-तत्पुरुष हो सकता है अन्यथा स्वयं नियम बनाकर पाणिनि उसका विघात क्यों करते।

पाणिनि के सूत्र की ज्ञापकता के अतिरिक्त न्यासकार ने भी तृच्-प्रत्ययान्त शब्द के साथ षष्ठी-तत्पुरुष का विधान किया है।

भामह का कहना है कि उपर्युक्त ज्ञापक और न्यासकार का समर्थन रहने पर भी तृच्-प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी-समास नहीं करना चाहिए, क्योंकि ज्ञापक की अपेक्षा समास का निषेधक सूत्र अधिक सबल माना जायगा। एक ओर षष्ठी-समास का स्पष्ट निषेध है; दूसरी ओर हल्का-सा ज्ञापक है। दोनों में कौन बलवत्तर है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

दूसरा उदाहरण 'अक' प्रत्ययान्त का है। तृच् के समान अक प्रत्यय से भी निष्पन्न शब्दों से षष्ठी-समास निषिद्ध है, क्योंकि 'तृजकाभ्यां कर्त्तरि' में तृच् और अक दोनों का ग्रहण है। यदि कोई चाहे तो **तत्प्रयोजको हेतुश्च (१।४।५५)** में अक-प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी-समास का ज्ञापक भी ढूँढ़ ले सकता है। 'तस्य प्रयोजक:' (अक-प्रत्ययान्त) के बदले स्वयं पाणिनि ने समास कर 'तत्प्रयोजक:' लिखा है। तो 'जनिकर्त्तुः' के जैसा इसे भी षष्ठी-समास का ज्ञापक मानकर 'तद्गमक:' (तस्य गमक: के बदले) प्रयोग बनावे तो वह असाधु होगा।

पाणिनि ने ऐसे स्थलों पर जो स्वयं समास किया वह लाघव की भावना से प्रेरित होकर, क्योंकि सूत्र-पद्धति में लाघव की महिमा 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' आदि वाक्यों से स्पष्ट है।

वृत्ति का अर्थ यहाँ समास है।

३८. द्विगु समास का स्त्रीलिंग में प्रयोग करना चाहिए, जैसे पञ्चराजी। तत्पुरुष का नपुंसक में, जैसे पुरुहूतसभम्।

पञ्चराजीति च यथा प्रयुञ्जीत द्विगुं स्त्रियाम्।
नपुंसकं तत्पुरुषं पुरुहूतसभं यथा ॥ ३८ ॥

'पञ्चानां राज्ञां समाहारः' (पाँच राजाओं का समूह) इस विग्रह में 'पंचराज' बना और उससे **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** इस वार्त्तिक से स्त्रीलिंग का विधान होने पर ङीप् (ई) स्त्री-प्रत्यय करके पंचराजी शब्द बना। इसीसे 'त्रयाणां लोकानां समाहारः' का त्रिलोकी पद होता है। तात्पर्य कि द्विगु का स्त्रीलिंग में प्रयोग वांछनीय है।

इसी प्रकार तत्पुरुष का नपुंसक प्रयोग ग्राह्य है, जैसे 'पुरुहूतस्य सभा' (इन्द्र की सभा) इस विग्रह में पुरुहूतसभम् बना। यहाँ नपुंसक **सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा**—२।४।२३ इस सूत्र से होता है। सूत्र का अर्थ है : जिस तत्पुरुष के अंत में सभा शब्द हो और पूर्व में राज-वाचक या अमनुष्य-वाचक शब्द हो तो वह नपुंसक होता है। यहाँ 'पुरुहूतसभम्' में पूर्वपद पुरुहूत अमनुष्य-वाचक (देव-वाचक) है और अंत में सभा है, इसलिए यह नपुंसक में प्रयुक्त होगा।

द्विगु का स्त्रीत्व और तत्पुरुष का नपुंसकत्व भामह को अभिमत है। द्विगु समास सामान्यतः नपुंसक होता है और तत्पुरुष का लिंग अंतिम पद के अनुसार चलता है परन्तु अकारांतोत्तर-पद द्विगु स्त्रीलिंग बन जाता है और सभाशब्दांत तत्पुरु प्रायः नपुंसक बन जाता है, इसका ध्यान रखना चाहिए, भामह के कथन का यही अभिप्राय है।

३९. भृशादिगणीय सभा (शब्दों) के हल् का लोप कहना चाहिए; जैसे, 'तेरी वह प्रिया उत्कंठित हो रही है; अरे शठ ! तू क्यों अभिमान करता है ?'

एक सूत्र है : **भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः**—३।१।१२, जिसका अर्थ है : अभूततद्भाव-विषयक भृशादि शब्दों से 'होता है' इस अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हो। अभूततद्भाव का अर्थ है कि जो न हुआ हो (अभूत) वह हो (तद्भाव), अर्थात् जो वस्तु पहले से नहीं हो वह यदि हो जाय तो उसे अभूततद्भाव कहते हैं। इस अर्थ में भृशादि गण में पठित शब्दों से क्यङ् प्रत्यय होता है, जैसे भृशायते, मन्दायते आदि। यदि शब्द हलन्त हों, जैसे सुमनस्, उन्मनस्, अभिमनस्, तो क्यङ् प्रत्यय करके हल् (स्) का लोप करेंगे। इस प्रकार सुमनस् से सुमनायते, उन्मनस् से उन्मनायते, अभिमनस् से अभिमनायते प्रयोग सिद्ध होंगे।

४०. क्विप (प्रत्यय) में तृतीया-एकवचन और षष्ठी आमन्त (बहुवचन) का प्रयोग करना चाहिए; जैसे कहा : बलभिदा (इन्द्र से), सुरुचां विद्युतामिव (सुंदर चमकनेवाली बिजलियों के समान)।

सर्वेभ्यश्च भृशादिभ्यो वदेल्लुप्तहलं यथा।
प्रियोन्मनायते सा ते किं शठाभिमनायसे ॥ ३९ ॥
तृतीयैकवचः षष्ठ्यामामन्तञ्च वदेत्क्विपि।
यथोदितं बलभिदा सुरुचां विद्युतामिव ॥ ४० ॥

क्विप् प्रत्यय जोड़कर धातुओं से संज्ञाएँ बनायी जाती हैं। क्विप् का कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, संपूर्णतः लोप हो जाता है और उससे निष्पन्न संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं।

भामह का मंतव्य है कि क्विप्-प्रत्ययान्त संज्ञाओं का प्रयोग केवल दो विभक्तियों में करना चाहिए—तृतीया-एकवचन और षष्ठी-बहुवचन; संभवतः इसलिए कि ये दो रूप सुनने में भले लगते हैं। क्विप्-प्रत्ययान्त से षष्ठी-बहुवचन में 'आम्' लगता है, इसलिए बहु-वचन न कहकर आमन्त कहा।

उदाहरण : बलभिद्—बलनामक असुर का भेदन (वध) करनेवाला, अर्थात् इन्द्र। यहाँ भिद् धातु से क्विप् होकर संज्ञा बनी—बलभिद्, जिसका रूप तृतीया-एकवचन में होगा, बलभिदा। इसी तरह सुरुक् और विद्युत् भी क्विप् प्रत्ययान्त हैं जिनके षष्ठी-बहुवचन में 'सुरुचां विद्युताम्' रूप होते हैं।

४१. जिसके अंत में अस् हो ऐसे वाक्य (पद) का भी उसी प्रकार (तृतीया-एकवचन और षष्ठी-बहुवचन में) प्रयोग करना चाहिए; जैसे अम्भसा (जल से), भासा (चमक से), यशसाम् (यशों का), अम्भसाम् (जलों का)।

क्विप्-प्रत्ययान्त शब्दों के समान ही असन्त शब्दों का प्रयोग भी तृतीया-एकवचन और षष्ठी-बहुवचन में अच्छा होता है। जैसे, अंभस् असन्त है (उसके अंत में अस् है)। तृतीया-एकवचन में उसका रूप होता है अंभसा। भास् भी असन्त है जिसके तृ० ए० व० में भासा होता है। यशस् का षष्ठी-बहुवचन में यशसाम् और अंभस् का अंभसाम्।

इस कारिका में 'वाक्य' शब्द से पद का ही ग्रहण अभिमत है।

४२. अछान्दस (लौकिक संस्कृत में) भी क्वसु-प्रत्ययान्त का पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग इष्ट है, जैसे स्वर्ग में गये हुओं का भी सौन्दर्य समाप्त नहीं होता।

पाणिनि के **क्वसुश्च** (३।२।१००) सूत्र से वेद में लिट् के बदले भूतकाल का वाचक क्वसु प्रत्यय होता है। यद्यपि यह प्रत्यय वैदिक भाषा में ही विहित है तथापि इसका प्रयोग कवियों ने लौकिक भाषा में भी किया है जिसके अनेक उदाहरण काव्यों में पाये जाते हैं। भामह भी अछान्दस (वेद-भिन्न लौकिक संस्कृत में) क्वसु के प्रयोग का समर्थन करते हैं।

असन्तमपि यद्वाक्यं तत्तथैव प्रयोजयेत्।
यथोच्यतेऽम्भसा भासा यशसामम्भसामिति ॥ ४१ ॥
पुंसि स्त्रियाञ्च क्वस्वन्तमिच्छन्त्यच्छान्दसं किल।
उपेयुषामपि दिवं यथा न व्येति चारुता ॥ ४२ ॥

उप-पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से क्वसु करने पर उपेयिवस् रूप सिद्ध होता है। 'उपेयुषाम्' उसी का षष्ठी-बहुवचन है। यह पुँल्लिङ्ग का प्रयोग हुआ। स्त्रीलिङ्ग का उदाहरण अगली कारिका में।

उदाहरण

४३. गजकुंभ-सदृश स्तन पर कंचुक धारण किये हुई, संभोग से अत्यंत क्लान्त वह बाला लोगों का मन हर रही थी।

संभोग से क्लान्त किसी नववयस्क तरुणी का वर्णन है। यहाँ 'दधुषी' (धारण किये हुई) क्वसु-प्रत्ययान्त धा धातु का स्त्रीलिंग रूप है।

४४. शबल आदि (शब्दों) से विहित 'णिच्' अत्यंत शोभता है। जैसे, हे सुश्रोणि; देखो, ये बलाकाएँ (बगुलियाँ) काले मेघों को (अपने वर्ण से) रंग-विरंगा बना रही हैं।

शबल कहते हैं रंग-विरंगे को। शबल से णिच् करके रूप बनेगा 'शबलयति' जिसका अर्थ होगा—रंग-विरंगा बनाता है। ऐसे णिजन्त प्रयोग भामह की दृष्टि में बहुत रमणीय होते हैं।

आकाश में काले मेघ छाये हैं। उनके नीचे पंक्तिबद्ध उजली बगुलियाँ उड़ रही हैं। काले और उजले रंगों का यह मिश्रण दर्शनीय है। कोई नायक अपनी प्रेयसी को यह दृश्य दिखा रहा है। श्रोणी का अर्थ है नितंब। उससे संबोधन-रूप 'सुश्रोणी !'

४५. हे सुश्रोणि ! शीतल जलवर्षा के फुहारों के समान (रमणीय) मलयपवन तुमको पंखा झल रहा है और तुम्हारी आँखें संभोग की थकान से अलसायी हुई हैं।

यह णिच् का दूसरा उदाहरण है। नायिका के प्रति नायक की उक्ति है।

४६. इस प्रकार णिच् का प्रयोग सर्वत्र परम शोभाधायक होता है। ताच्छील्य-विषयक णिनि का तीनों लिङ्गों में प्रयोग करना चाहिए।

इभकुम्भनिभे बाला दधुषी कञ्चुकं स्तने।
रतिखेदपरिश्रान्ता जहार हृदयं नृणाम्॥ ४३॥
शबलादिभ्योऽतितरां भाति णिज्विहितो यथा।
बलाकाः पश्य सुश्रोणि घनाञ्छबलयन्त्यमूः॥ ४४॥
शिशिरासारकणिकासदृशः सेतुगन्धवाट्।
त्वां वीजयति सुश्रोणि रतिखेदालसेक्षणाम्॥ ४५॥
एवं णिचः प्रयोगस्तु सर्वत्रालङ्कृतिः परा।
लिङ्गत्रयोपपन्नञ्च ताच्छील्यविषयं णिनिम्॥ ४६॥

इस कारिका के पूर्वार्ध में णिच् का उपसंहार और उत्तरार्ध में णिनि का निर्देश है।

ताच्छील्य का अर्थ है किसी वस्तु का स्वभाव : तत् शीलं (स्वभावः) यस्य सः तच्छीलः, तस्य भावः ताच्छील्यम्। तो, ताच्छील्य का बोध कराने के लिए णिनि (इन) प्रत्यय होता है। ताच्छील्य-बोधक णिनि का प्रयोग भामह को प्रिय है।

उदाहरण

४७. उसका मनोहारी स्तन-परिणाह, मनोहारी सुंदर मुख और अत्यंत मनोहारी शरीर कितना मन नहीं हरते !

हरना स्वभाव है जिसका, वह हारी। यहाँ णिनि-निष्पन्न 'हारी' का पूर्व कारिका में निर्दिष्ट प्रकार से तीनों लिंगों में प्रयोग है। स्तनाभोग का विशेषण हारी पुँल्लिग, वदन का नपुंसक और तनु का स्त्रीलिंग है।

४८. ताच्छील्य आदि में तृन् आदि सभी (प्रत्यय) इष्ट हैं, उसमें भी विशेष कर युच्, कुरच्, वरच् और इष्णुच् इष्ट हैं।

युच् आदि प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द सर्वथा प्रयोज्य हैं। युजन्त, जैसे चलन, कम्पन, जवन, क्रोधन, शब्दन, रवण, मंडन, भूषण। कुरच्-प्रत्यान्त, जैसे विदुर, भिदुर छिदुर। वरच्-प्रत्ययान्त, जैसे स्थावर, ईश्वर भास्वर, विकस्वर। इष्णुच्-प्रत्ययान्त, जैसे अलंकरिष्णु, निराकरिष्णु।

४९. क्तिन्नत (जिसके अंत में क्तिन् हुआ हो, का प्रयोग करना चाहिए; जैसे संगति, संहति। जागृ (धातु) से श और अ दोनों इष्ट हैं, अतः जागर्या और जागरा (दो रूप सिद्ध होते हैं)।

क्तिन्-प्रत्ययान्त शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग किया जा सकता है। जागृ धातु से 'श' प्रत्यय करने पर 'जागर्या' और 'अ' करने पर 'जागरा' शब्द बनते हैं। दोनों ग्राह्य हैं।

'जागुः' जागृ के पंचमी एकवचन का रूप है, जिसका अर्थ है जागृ (धातु) से। शाकारौ—शश्च अकारश्च—दोनों का द्वन्द्व, अर्थात् श और अ प्रत्यय।

तस्या हारी स्तनाभोगो वदनं हारि सुन्दरम्।
हारिणी तनुरत्यन्तं कियन्न हरते मनः ॥ ४७ ॥
ताच्छील्यादिषु चेष्यन्ते सर्व एव तृनादयः।
विशेषेण च तत्रेष्टा युच्कुरज्वरजिष्णुचः ॥ ४८ ॥
क्तिन्नन्तञ्च प्रयुञ्जीत सङ्गतिः संहतिर्यथा।
शाकारौ जागुरिष्टौ च जागर्या जागरा यथा ॥ ४९ ॥

५०. आस् (धातु) से नित्य युच् का प्रयोग करना चाहिए; जैसे उपासना; और कर्त्तरि ल्युट् का भी; जैसे देवन, रमण ।

आस् धातु बैठने के अर्थ में है। उप-पूर्वक आस् से युच् प्रत्यय करने पर उपासना शब्द निष्पन्न होता है। (युच् का अन और युजन्त से स्त्री-प्रत्यय टाप्)।

पूर्वार्ध का अन्वय : आसेः नित्यं युचं प्रयोजयेत्, उपासना इति च ।

उत्तरार्ध में ल्युट् का विधान है। ल्युट् प्रत्यय कई अर्थों में होता है; जैसे **ल्युट् च** (३।३।११५) इस सूत्र से **भाव अर्थ में**; यथा हसनं, पठनं, गमनं, दानम् आदि। **करणे ल्युट्** (क्रियते अनेन—जिससे कुछ किया जाय); जैसे यानम् (जिससे जाया जाय)। **अधिकरणे ल्युट्** जैसे आसनम् (आस्यते अस्मिन्—जिसपर बैठा जाय)। इसी तरह **कर्त्तरि ल्युट्** भी होता है; जैसे देवनः (दिव् क्रीडायां धातु से)— जूआ खेलनेवाला, रमणः—रमण करनेवाला।

भावादि अन्यार्थक ल्युट् की अपेक्षा 'कर्त्तरि ल्युट्' भामह को अधिक प्रिय है।

५१. अणन्त से भी ङीप् इष्ट है; जैसे पुरन्दर की (पौरन्दरी) लक्ष्मी। उसी प्रकार महारजन से अञ, लाक्षा और रोचना से ठक् (होता है)।

'पुरन्दर (इन्द्र) का' इस अर्थ में **तस्येदम्** (४।३।१२०) सूत्र से अण् प्रत्यय करके पौरन्दर शब्द बनता है और उससे ङीप् स्त्री-प्रत्यय होकर पौरन्दरी। अण-प्रत्यान्त शब्दों से ङीप् विधायक सूत्र है : **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (४।१।१५) अर्थात् टित्, ढ, अण्, अञ् आदि प्रत्ययवाले अकारान्त शब्द से स्त्रीलिंग में ङीप् (ई) होता है। पौरन्दर में अण् प्रत्यय है और अकारान्त है, इसलिए पूर्वोक्त सूत्र से ङीप् हुआ।

जिस रंग से कुछ रँगा जाय उस रंगवाचक शब्द में, सामान्यतः अण् प्रत्यय होता है। सूत्र है : **तेन रक्तं रागात्** (४।२।१) इस नियम के अपवाद के रूप में यहाँ दो प्रत्यय निर्दिष्ट हैं। महारजन (केसर या कुसुम) से रँगे को माहारजनम् कहते हैं। महारजन से अण् न होकर **हरिद्रामहारजनाभ्याम् अञ**' इस वार्त्तिक से अञ् होता है। **लाक्षा-रोचनाट्ठक्** (४।२।२) इस सूत्र से लाक्षा (लाह) और रोचन (रंजकद्रव्य विशेष) से ठक् होकर लाक्षिक और रौचनिक शब्द बनते हैं। ये प्रयोग भामह को अधिक इष्ट हैं।

उपासनेति च युचं नित्यमासेः प्रयोजयेत्।
ल्युटञ्च कर्तृविषयं देवनो रमणो यथा ॥ ५० ॥
अणन्तादपि ङीबिष्टो लक्ष्मीः पौरन्दरी यथा।
अञ्महारजनाल्लाक्षारोचनाभ्यां तथा च ठक् ॥ ५१ ॥

५२. कुमुद से ड्मतुप् इष्ट है; जैसे यह भूमि कुमुद्वती (कुमुदवाला) है। उससे जीतता है (तेन जयति) इस अर्थ में (अक्ष और शास्त्र से) ठक् होकर आक्षिक और शास्त्रिक (बनते हैं)।

कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् (४।२।८७) सूत्र से कुमुद, नड, वेतस् से ड्मतुप् प्रत्यय हो कर कुमुद्वत्, नड्वत् और वेतस्वत् शब्द बनते हैं। कुमुद्वत् से स्त्रीलिंग में ङीप् करके कुमुद्वती, जिसका अर्थ है कुमुदवाली। कुमुद उजले रंग का फूल है जिसका कवियों ने रात को खिलना वर्णित किया है।

एक सूत्र है : **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्**— ४।४।२। भामह को इसीका 'तेन जयति' अंश प्रिय है। जिस वस्तु से कोई जूआ खेले, खने या जीते उस (वस्तु-वाचक शब्द) से ठक् प्रत्यय होता है। जैसे, अक्ष से ठक् होने पर आक्षिक (पासे से जूआ खेलनेवाला), अभ्री से आभ्रिक (अभ्री— कुदाल से खननेवाला), शास्त्र से शास्त्रिक (शास्त्र से जीतनेवाला)।

५३ हित-प्रकरण में 'सर्व' से ण (प्रत्यय) प्रयुक्त होता है, जैसे 'सार्व', उसीसे इष्टि (वार्त्तिक) के द्वारा छ प्रत्यय होकर 'सर्वीय' भी बनता है।

अष्टाध्यायी में **तस्मै हितम्** (५।१।५) सूत्र से हित-प्रकरण चलता है। 'उसके लिए अच्छा' इस अर्थ में अनेक तद्धित प्रत्यय होते हैं। उनमें सर्व शब्द से 'तस्मै हितम्' अर्थ में होनेवाले दो प्रत्ययों का उल्लेख करते हैं। सर्व शब्द से ण होने पर 'सार्व' बनता है और छ होने पर 'सर्वीय'। ण प्रत्यय करने का सूत्र है : **सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ** (५।१।१०) अर्थात् सर्व और पुरुष से 'तस्मै हितम्' के अर्थ में क्रमशः ण और ढञ् प्रत्यय होते हैं। 'सर्वीय' प्रयोग सूत्र से नहीं, वार्त्तिक से निष्पन्न होता है। वह वार्त्तिक है **सर्वाण्णो वेति वक्तव्यम्** : अर्थात् सर्व से ण विकल्प से होता है। वैकल्पिक पक्ष में छ लगता है और छ का ईय होकर सर्वीय।

'सार्व' भामह को बहुत प्रिय था। तभी मंगलाचरण में भी उन्होंने इस शब्द का प्रयोग किया है।

५४. इमनिच्-प्रत्ययान्त का प्रयोग करना चाहिए, जैसे पटिमा, लघिमा। ईयसुन् विशेषतः इष्ट है, जैसे 'ज्यायान् कनीयसीम् आप' (अधिक उम्रवाले ने अपने से कम उम्र की कन्या पायी)।

ड्मतुबिष्टं च कुमुदाद्यथेयं भूः कुमुद्वती।
ठक् चापि तेन जयतीत्याक्षिकः शास्त्रिको यथा ॥ ५२ ॥
हितप्रकरणे णञ्च सर्वशब्दात्प्रयुञ्जते।
ततश्छमिष्ट्या च यथा सार्वः सर्वीय इत्यपि ॥ ५३ ॥
वदेदिमनिजन्तञ्च पटिमा लघिमा यथा।
विशेषेणेयसुन्निष्टो ज्यायानाप कनीयसीम् ॥ ५४ ॥

भाव में कई तद्धित प्रत्यय होते हैं, जैसे त्व, तल्, इमनिच्। पटु से त्व होने पर पटुत्व, तल् होने पर पटुता, इमनिच् होने पर पटिमा। इसी प्रकार लघु से त्व होने पर लघुत्व, तल् होने पर लघुता, इमनिच् होने पर लघिमा। भामह को त्व और तल् की अपेक्षा इमनिच् अधिक अभिमत है। दो में से एक का अतिशय सूचित करना हो तो तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं; जैसे दो में अधिक लघु, लघुतर या लघीयान्, दो में अधिक पटु, पटुतर या पटीयान्। इसके लिए पाणिनि का सूत्र है: **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ** (५।३।५७)। तरप् और ईयसुन् में भामह को ईयसुन् ही इष्टतर है। ज्यायान् और कनीयसीम् दोनों में ईयसुन् है।

५५. प्रमाणबोधक द्वयसच् और दघ्नच् इष्ट हैं, जैसे नदी घुटनों तक और सरोवर नारी के नितम्ब तक (गहरा) है।

प्रमाण बताने के लिए तीन प्रत्यय हैं: द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्। सूत्र है: **प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः** (४।२।३७)। इनमें प्रथम दो भामह को अधिक अभिमत हैं। उपर्युक्त उदाहरण में जलाशय की गहराई का नाप द्वयसच् और दघ्नच् की सहायता से ज्ञापित हुआ है।

जानुदघ्न—घुटने तक। नितम्बद्वयस—नितम्बपर्यन्त।

५६. मतुप्-प्रकरण में ज्योत्स्ना, तमिस्रा, शृंगिणः आदि (इष्ट हैं)। फल और बर्ह से इनच् करके फलिनः और बर्हिणः भी (इष्ट हैं)।

'उसको वह वस्तु है', इस अर्थ में 'मतुप्' होता है, जैसे उसको श्री है तो श्री+मतुप्=श्रीमत्—श्रीमान्। (मतुप् में उप् का लोप हो जाता है, मत् रह जाता है।) मतुप् से आरम्भ कर इस अर्थ में अनेक प्रत्यय होते हैं, इसीलिए उसे मतुप्-प्रकरण कहते हैं। मत्वर्थ में ज्योत्सना, तमिस्रा आदि शब्द निपातित होते हैं। सूत्र है: **ज्योत्स्ना-तमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः** (५।२।११४)। ज्योत्स्ना, तमिस्रा, शृंगिण, ऊर्जस्विन्, ऊर्जस्वल, गोमिन, मलिन, मलीमस इतने मत्वर्थीय शब्द निपात से सिद्ध होते हैं। जो शब्द अनियमित रूप से बनते हैं उन्हें निपात कहते हैं। ज्योत्स्ना आदि प्रयोग भामह को इष्ट हैं। 'फलबर्हाभ्यामिनच्' इस वार्तिक से फल और बर्ह (मोर का पंख) से इनच् प्रत्यय होने पर फलिनः तथा बर्हिणः शब्द निष्पन्न होते हैं। फलिनः, अर्थात् जिसे बहुत फल हों और बर्हिणः, जिसे सुन्दर बर्ह (पुच्छ) हो, अर्थात् मोर।

द्वयसज्दघ्नचाविष्टौ प्रमाणविषयौ यथा।
जानुदघ्नी सरिन्नारीनितम्बद्वयसं सरः॥ ५५॥
मतुप्प्रकरणे ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणादयः।
इनच्च फलबर्हाभ्यां फलिनो बर्हिणो यथा॥ ५६॥

५७ विद्वानों ने इनि और ठन् का प्रायः प्रयोग किया है। उसमें भी मेखला, माला और माया से ये अधिक अभिमत हैं।

इनि और ठन् भी मत्वर्थीय प्रत्यय हैं जिनका बहुल प्रयोग होता है। मेखला आदि तीन शब्दों से ये भामह को बहुत इष्ट हैं। इनि करने पर क्रमशः मेखली, माली और मायी बनते हैं और ठन् करने पर मेखलिक, मालिक और मायिक। ठन् में न् का लोप और ठ का इक हो जाता है।

५८. अभ्यस्त से झि का अद् आदेश होने पर (सिद्ध) दधति आदि भी (विद्वानों को इष्ट हैं)। इट् से युक्त सार्वधातुक (इष्ट है), जैसे रोदिति (रोता है), स्वपिति (सोता है)।

अभ्यस्त का अर्थ है दुहराया हुआ। कुछ धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होती है जिसके फलस्वरूप उनके पूर्ववर्ण को दुहराकर रूप बनाये जाते हैं। जैसे, धातु है दा (डुदाञ्) पर उसका रूप होता है ददाति; यों होना चाहिए था दाति। तो, यह द की जो आवृत्ति हुई उसे ही अभ्यस्त कहेंगे। जितने धातु अभ्यस्त-संज्ञक हैं उन सबसे झि (लट् प्रथमपुरुष-बहुवचन) प्रत्यय होने पर झि का अन्ति न होकर अति होता है। पठ् से झि लगाने पर रूप होता है पठन्ति (पढ़ते हैं) पर दा से ददति, ददन्ति नहीं। अन्ति का अति हो जाना अभ्यस्त-संज्ञा का परिणाम है। सूत्र है **अदभ्यस्तात्** (७।१।४)। तो अभ्यस्त होकर प्रथमपुरुष-बहुवचन में निष्पन्न दधति, ददति आदि प्रयोग विद्वानों को इष्ट हैं।

संस्कृत में कुछ धातुओं में तिङ् प्रत्यय के पहले इट् (इ) लगता है और कुछ में नहीं लगता। जिनमें लगता है उन्हें सेट् (स+इट्—इट् के साथ) कहते हैं और जिनमें नहीं लगता उन्हें अनिट् (न+इट्—इट् के बिना)।

लट्, विधिलिङ्, लोट् और लङ्— इन चार लकारों को सार्वधातुक कहते हैं। सार्वधातुक में रुद्, स्वप्, श्वस्, अन्, जक्ष् इन पाँच धातुओं से इट् होता है। सूत्र है: **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** —७।२।७६। इट् होने पर रूप होता है रोदिति, स्वपिति, श्वसिति, अनिति, जक्षिति।

इट्-सहित ये प्रयोग भी भामह को प्रिय हैं।

५९. अभ्यस्त, घुसंज्ञक और भृ धातु से शतृ का अदन्त प्रयोग करना

इनिः प्रयुक्तः प्रायेण तथा ठंश्च मनीषिभिः।
तत्रापि मेखलामालामायानां सुतरां मता॥ ५७॥
अभ्यस्ताज्झेरदादेशे दधतीत्यादयोऽपि च।
रोदिति स्वपितीत्यादि सहेटा सार्वधातुकम्॥ ५८॥
अभ्यस्तेषु प्रयोक्तव्यमदन्तं घुभृञोः शतुः।
असौ दधदलङ्कारं स्रजं बिभ्रच्च शोभते॥ ५९॥

चाहिए, जैसे वह अलंकार धारण किये हुए (दधत्) और माला पहने हुए (बिभ्रत्) शोभता है।

अभ्यस्त की व्याख्या हो चुकी है।

घुसंज्ञक दो धातु हैं दा और धा। दा-धा की घु-संज्ञा **दाधाध्वदाप्** (१।१।२०) सूत्र से होती है : भृ (डुभृञ्) धातु धारण और पोषण दो अर्थों में व्यवहृत होता है। शतृ प्रत्यय 'होता हुआ' अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे पठन्—पढ़ता हुआ, हसन्— हँसता हुआ। शतृ होने पर रूपों में नुम् (न्) लग जाता है, जैसे पठन्, हसन् में न् स्पष्ट ही है।

किन्तु अभ्यस्त-संज्ञक धातुओं से शतृ होने पर भी नुम् नहीं लगता; जैसे ददत्—देता हुआ, दधत्—धारण करता हुआ; बिभ्रत्—धारण या पोषण करता हुआ। इसी को कारिका में भामह ने कहा कि इनका शत् में अतृ के साथ प्रयोग होगा, अन् के साथ नहीं।

६०. तवर्ग का शकार के साथ कहीं भी संयुक्त (संधियुक्त) प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे, कमलनयने ! यह श्याम (एतच्छ्यामम्) वन शोभता है।

वन जल का भी पर्याय है। अतः वनज—जलज—कमल। वनजलोचने—कमल-नयने, स्त्रीलिंग-सम्बोधन। तवर्ग की श से संधि होने पर श का छ और तवर्ग का च् हो जाता है। **शश्छोऽटि** (८।४।६३)। इस प्रकार संधि से च्छ ध्वनि उत्पन्न होती है; जैसे यहीं एतत् और श्यामम् को मिलाकर एतच्छ्यामम् हुआ। यह च्छ ध्वनि सुनने में कठोर लगती है। अतः इसका परित्याग करना चाहिए।

६१ एक स्थान पर ओकार का बाहुल्य नहीं (होना चाहिए); गतो यातो हतो यथा। झय् से परवर्त्ती ह-कार का पद्धति को छोड़कर अन्यत्र पूर्ववर्ण-सावर्ण्य नहीं करना चाहिए।

६०-६१ इन दो कारिकाओं में संधि-सम्बन्धी चर्चा है।

संधि के नियमों के अनुसार अनेकत्र विसर्ग का ओ हो जाता है; जैसे मनः+रथ= मनोरथ, मनः+हर=मनोहर। भामह का कहना है कि एक ही स्थल पर ऐसे अनेक शब्दों

[न तवर्गं शकारेण क्वचित् सं]योगिनं वदेत्।
यथैतच्छ्याममाभाति वनं वनजलोचने॥ ६०॥
नैकत्रौकारभूयस्त्वं गतो यातो हतो यथा।
सावर्ण्यवज्झयो हस्य ब्रूयान्नान्यत्र पद्धतेः॥ ६१॥

को नहीं रखना चाहिए जिनके विसर्ग का ओ हो जाय, क्योंकि वह सुनने में अच्छा नहीं लगता। जैसे, उपर्युक्त उदाहरण में गतः यातः हतः यथा का गतो यातो हतो यथा हो गया है।

झय् कहते हैं पंचमाक्षर-रहित शेष २० वर्गाक्षरों को, अर्थात् क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, त थ द ध, प फ ब भ। इनके आगे यदि ह हो तो वह पूर्ववर्त्ती वर्ण का सवर्ण हो जाता है। संक्षेप में कहें तो जिस वर्ग का वर्ण पहले रहता है, ह उसी वर्ग का चतुर्थाक्षर हो जाता है, जैसे कवर्ग के बाद ह रहे तो उसका घ, चवर्ग के बाद झ, टवर्ग के बाद ढ, तवर्ग के बाद ध, पवर्ग के बाद भ।

उदाहरण : वाक्+हानि=वाग्घानि। अच्+हल्=अज्झल्। पद्+हति=पद्धति आदि।

भामह कहते हैं कि ह का पूर्ववर्णसावर्ण्य केवल पद्धति में ही करना चाहिए, और कहीं नहीं। यहाँ भी कारण श्रुतिपारुष्य ही है। पद्धति सुनने में अच्छी लगती है पर वाग्घानि नहीं।

६२. पाणिनि के इस मत को क्रम से कौन कह सकता है? अतः मैं इस विवेचन से विरत होता हूँ। यदि कोई व्याकरण-समुद्र और भयंकर जलवाले सागर का पार पा जाय तो यह आश्चर्य की बात होगी।

शालातुर तक्षशिला के निकटस्थ उस ग्राम का नाम है जहाँ पाणिनि उत्पन्न हुए थे। शालातुर में उत्पन्न होने से शालातुरीय भी पाणिनि को कहते हैं।

भामह ने षष्ठ परिच्छेद में व्याकरण-सम्बन्धी चर्चा पाणिनीय अष्टाध्यायी के निर्दिष्ट क्रम से ही की है। सम्पूर्ण व्याकरण का उद्धरण न संभव है, न आवश्यक। अतः काव्योपयोगी प्रयोगों का विचार करके ही ग्रंथकार संतोष कर लेते हैं।

६३. पाणिनि का मत (व्याकरण) संसार में श्रद्धा की वस्तु है। वह अन्य (सभी) विद्याओं का अजस्र आश्रय (आधार) है, साथ ही उन विद्याओं में प्रतिपादित विषयों का विरोध नहीं करता। (इस) मध्यस्थता के कारण व्याकरण किसके लिए प्रमाण नहीं?

शालातुरीयमतमेतदनुक्रमेण
को वक्ष्यतीति विरतोऽहमतो विचारात्।
शब्दार्णवस्य यदि कश्चिदुपैति पारं
भीमाम्भसश्च जलधेरिति विस्मयोऽसौ॥ ६२॥

विद्यानां सततमपाश्रयोऽपरासां
तासूक्तान्न च विरुणद्धि कांश्चिदर्थान्।
श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयं
माध्यस्थ्याद्भवति न कस्यचित्प्रमाणम्॥ ६३॥

चूँकि समग्र वाङ्मय शब्दार्थरूप है और शब्द तथा अर्थ का सम्यक् परिज्ञान व्याकरण पर ही निर्भर है अतः वह सारी विद्याओं का आधार है।

६४. सत्कवियों के मतों का अवलोकन कर और अपनी बुद्धि से काव्य के स्वरूप का विचार कर रक्रिलगोमी के पुत्र भामह ने, सज्जनों के बोध के लिए, यह ग्रंथ रचा।

६५-६६. साठ (कारिकाओं) में (काव्य का) शरीर विवेचित हुआ, एक सौ साठ में अलंकार, पचास में दोष-दर्शन, सत्तर में न्याय-निरूपण, साठ में शब्द-शुद्धि, इस प्रकार भामह ने पाँच विषयों को क्रमशः छः परिच्छेदों में आपलोगों (पाठकों) के लिए प्रतिपादित किया।

कारिकाओं की संख्या का यह निर्धारण स्थूल रूप से समझना चाहिए, क्योंकि उसमें थोड़ा हेरफेर भी दीखता है।

इति भामहीयः काव्यालङ्कारः।

अवलोक्य मतानि सत्कवीना-
मवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन
ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम् ॥ ६४ ॥
षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥ ६५ ॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः॥ ६६ ॥

परिशिष्ट १

भामह

भामह के सम्बन्ध में यदि निश्चित रूप से ज्ञात है तो इतना ही कि उनका नाम भामह था और पिता का नाम रक्रिलगोमिन्; शेष सब कुछ विवाद का विषय है।

परम्परा भामह को काश्मीर का निवासी बताती है।

काल-विषयक निश्चित ज्ञान के अभाव में पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती सीमाएँ ही निश्चित की जा सकती है।

१. उद्भटकृत काव्यालंकारसारसंग्रह के व्याख्याता प्रतीहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त हेमचन्द्र, रुय्यक आदि आलंकारिकों के उल्लेख से विदित होता है कि भामह के काव्यालंकार पर उद्भट ने कोई टीका लिखी थी। प्रतीहारेन्दुराज ने टीका का नाम भामह-विवरण[२] दिया है। उद्भट काश्मीर-नरेश जयापीड के सभापति[३] थे। जयापीड का राज्यकाल सन् ७७९ से ८१३ ई० तक है। अतः उद्भट का समय भी यही मानना होगा। दैनिक वेतन के रूप में एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ पानेवाला उद्भट के जैसा उद्भट विद्वान् किसी की रचना पर टीका लिखें, इससे दो सहज निष्कर्ष निकलते हैं—एक तो यह कि उसे वैसी महत्ता प्राप्त करने में अनल्प समय लगा होगा। यातायात और मुद्रण की सुविधाओं के अभाव के उस युग में किसी लेखक का कीर्त्ति-विस्तार समय-साध्य ही हुआ करता था। तात्पर्य कि भामह ७७९ ई० से पहले हुए।

२. बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित (७०५-७६२ ई०) ने अपने ग्रंथ 'तत्त्वसंग्रह' में अपोह-निरूपण के प्रसंग में भामह के काव्यालंकार[४] से किंचित् परिवर्त्तन के साथ तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं :

> **यदि गौरिति शब्दोऽयं भवेदन्यनिराकृतौ।**
> **जनको गवि गोबुद्धेर्दृश्यतामपरो ध्वनिः॥—त० सं०, ९१२**

---

१. **सुजनावगमाय भामहेन**
ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्।—काव्यालंकार, ६।६४।

२. **काव्यालंकारसारसंग्रह, बनहट्टी—संपादित, पृ० १४।**

३. **विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।**
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्त्तुः सभापतिः॥—राजतरंगिणी, ४।४९५।

४. **काव्यालंकार, ६।१७-१९।**

न तु ज्ञानफलाः शब्दाः न चैकस्य फलद्वयम् ।
अपवादविधिज्ञानं फलमेकस्य वा कथम् ।।—त० सं०,९१३
प्रागगौरिति विज्ञानं गोशब्दश्राविणो भवेत् ।
येनागोः प्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः ।।—त० स० ९१४

शान्तरक्षित के जैसा प्रौढ दार्शनिक किसी साधारण लेखक की उक्ति उद्धृत नहीं करेगा और भामह की उस कोटि की यशस्विता एवं मान्यता प्राप्त करने में समय लगा ही होगा। इस साक्ष्य के आधार पर भामह का **७०५ ई० से पहले** होना सिद्ध होता है।

३. ध्वन्यालोक[१] में रस की विशेषता प्रतिपादित करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि दृष्टपूर्व भी पदार्थ, रस का योग पाकर, वसन्त ऋतु के वृक्षों के समान देखने में नये जैसे लगने लगते हैं। इस के समर्थन में उन्होंने कई उदाहरण दिये हैं। उसी प्रसंग में काव्यालंकार का निम्नलिखित श्लोक—

शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः ।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम् ।।—३।२८

उद्धृत कर यह दिखाया है कि यद्यपि बाणभट्ट ने इसी की छाया लेकर

धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः[२]

आदि की रचना की है, फिर भी उसमें भामह की अपेक्षा अधिक चमत्कार है। यह इस बात का द्योतक है कि अपनी प्रतिभा के वैशिष्ट्य से रसधर्मी कवि प्राचीन उक्ति में भी नवीनता का संचार कर देता है। इससे सिद्ध है कि भामह बाणभट्ट से भी पूर्ववर्त्ती हैं। बाणभट्ट का समय ६०६-६४७ ई० है। अतः भामह का **६०० ई० के पहले** रहना निस्संदिग्ध है। यह निर्भ्रान्त **परवर्त्ती सीमा है।**

अब **पूर्ववर्त्ती सीमा** पर विचार करें।

काव्यालंकार के पंचम परिच्छेद में प्रमाण-निरूपण के अवसर पर भामह ने बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग का अनुसरण किया है। 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्',[3] जिसका उपयोग भामह ने किया है, वाचस्पतिमिश्र के अनुसार दिङ्नाग-कृत प्रत्यक्ष का लक्षण है। दिङ्नाग का समय ४०० ई० के आसपास माना जाता है। अतः भामह का समय उसके बाद होना चाहिए। इस प्रकार ४०० ई० और ६०० ई० इन दो सीमाओं **के बीच** भामह के आविर्भाव की संभावना स्पष्ट है किन्तु इन दो सौ वर्षों में उन्हें कहाँ रखा जाय, यह निर्णय सुकर नहीं है।

---

१. **दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात् ।**
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा ।। —ध्व० ४।४ ।

२. **हर्षचरित, षष्ठ उच्छ्वास ।**

३. **काव्यालंकार, ५।६ ।**

कीर्त्ति-विस्तार के लिए जिस समय-साध्यता की चर्चा हमने पहले की है यदि उसे आधार मानें, और मानना ही संगत प्रतीत होता है, तो जिस प्रकार भामह को बाणभट्ट का अनुकरणीय होने में कुछ समय लगा होगा, उसी प्रकार दिङ्‌नाग को भी लब्धख्याति होने में कुछ समय लगा ही होगा। इस तरह दिङ्‌नाग और बाणभट्ट के बीच भामह को रखना निरापद दीखता है। तात्पर्य कि जो साक्ष्य उपलब्ध हैं उनके आधार पर भामह का समय प्रायः **५०० से ५५० ई० के मध्य** माना जा सकता है।

भामह का बौद्धत्व ?

कुछ विद्वानों की कल्पना है कि **भामह बौद्ध** थे। इस कल्पना के कारण हैं—

१. मंगलाचरण में भामह ने बुद्ध को नमस्कार[1] किया है क्योंकि सर्वज्ञ[2] नाम बुद्ध का है।

२. भामह के पिता का नाम रक्रिलगोमिन् था और रक्रिल नाम राहुल, सोमिल, पोतल आदि बौद्ध नामों से मिलता-जुलता है। गोमिन् शब्द से भी इसकी पुष्टि होती है, कारण कि गोमिन् नाम बुद्ध के एक शिष्य का था। इस तरह रक्रिल और गोमिन् दोनों मिलकर भामह के पिता का बौद्ध होना सिद्ध करते हैं। इन्हीं दो निर्बल तर्कों के आधार पर नरसिंहियंगर [3] ने भामह का बौद्धत्व प्रमाणित किया है।

इन दो तर्कों की तुलना में वे तर्क कहीं अधिक और सबल हैं जो **भामह का बौद्ध न होना** सिद्ध करते हैं।

१. 'सर्वज्ञ' शब्द एकमात्र बुद्ध का ही वाचक नहीं है। एक तो सामान्य रूप से वह ईश्वर का वाचक है— जो सब कुछ जाने, वह सर्वज्ञ और दूसरा, वह शंकर [4] का पर्याय है। ऐसी स्थिति में 'सर्वज्ञ' का अर्थ केवल 'बुद्ध' कहना असंगत है।

२. केवल स्थूल ध्वनि-साम्य के आधार पर किसी नाम को संप्रदाय-विशेष का मान लेना अयुक्त है। इसलिए 'रक्रिल' बौद्ध नाम है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'गोमिन्' के साहचर्य से भी बात कुछ बनती नहीं। जैसा, श्रीत्रिवेदी [5] ने लिखा है, गामिन् गोस्वामिन् का संक्षेप है जो काश्मीर और उत्तर भारत में ब्राह्मणों के नाम के साथ उसी तरह जोड़ा जाता है जिस तरह दक्षिण भारत में आचार्य। प्रो० पाठक ने

---

१. **प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।**
काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते ॥ —का० लं०, १।१।

२. **सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।— अ० को०, १।१३।**

३. **प्रो० एम्० टी० नरसिंहियंगर, ज० रो० ए० सो० १९०५, पृ० ५३५—४५।**

४. **कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः।—अ० को०, १।३५।**

५. **प्र० रु० य० भूमिका, पृ० ३७।**

चान्द्र व्याकरण के प्रामाण्य पर 'गोमिन्' का अर्थ 'पूज्य'[१] किया है। यदि प्रो० पाठक की व्युत्पत्ति भी मान लें तो गोमिन् का अर्थ सामान्यतः पूज्य ही होता है और वह किसी भी मान्य व्यक्ति के नाम के साथ जुट सकता है।

३. काव्यालंकार में कहीं भी बुद्ध, बौद्धमत या बौद्ध कथाओं का उल्लेख नहीं है। इसके प्रतिकूल बौद्धों के अपोहवाद का सबल खंडन[२] है। इस खंडन को देखकर ही शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में भामह को या अपोहवाद का खंडन करनेवाले कुमारिल आदि अन्य विद्वानों को झुँझलाकर 'कुदृष्टि' और 'दुरात्मा'[३] तक कह दिया है।

४. भामह ने वैदिक विधियों और यज्ञों[४] के अनुष्ठाताओं का बड़े आदर से उल्लेख किया है।

५. वैदिक देवताओं—जैसे ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, पार्वती आदि का अनेकत्र निर्देश है।[५]

६. रामायण और महाभारत के पात्रों की चर्चा बहुशः हुई है।[६]

अधिक विवरण में न जाकर इन कतिपय तथ्यों पर ध्यान देने से ही स्पष्ट हो जाता है कि भामह वैदिक मतानुयायी थे, बौद्ध नहीं। यदि बौद्ध होते तो अपने मत के संबंध में सर्वथा मौन रह जाते, यह असंभाव्य प्रतीत होता है। न अधिक तो थोड़ा भी कहते, पर कुछ भी न कहना क्या आश्चर्यकर नहीं है?

रचनाएँ

१. **काव्यालंकार** भामह की सबसे प्रसिद्ध और असंदिग्ध रचना है। इसके अतिरिक्त भामह-रचित कुछ और ग्रंथों के संकेत भी यत्र-तत्र मिलते हैं।

२. वररुचि के प्राकृतप्रकाश (प्राकृत व्याकरण) पर **'मनोरमा'** नाम की एक वृत्ति है जो भामह के नाम से संबद्ध[७] है। पिशेल इस वृत्ति के लेखक और काव्यालंकार के रचयिता को अभिन्न मानते हैं।

३. वृत्तरत्नाकर की स्वकृत व्याख्या[८] में नारायणभट्ट ने 'तदुक्तं भामहेन' कह-

---

१. **गोमिन् पूज्ये। ४।२।१४४, इं० एं० १९१२।**
२. **का० लं०, ६।१७-१९।**
३. **अन्यापोहापरिज्ञानादेवमेते कुदृष्टयः।**
स्वयं नुष्टा दुरात्मानो नाशयन्ति परानपि ॥—त० सं०, पृ० ३१६।
४. **का० लं०, ४।४८।**
५. **वही, २।५५; ३।२४; ३।३६; ४।२१; ४।२७; ६।३२।**
६. **वही, २।४१; ३।५; ३।७; ३।११; ३।३२; ५।३७; ५।३९, ५।४१-४४।**
७. **वररुचिरचितप्राकृतलक्षणसूत्राणि लक्ष्यमार्गेण।**
बुद्ध्वा चकार वृत्तिं संक्षिप्तां भामहः स्पष्टाम् ॥—प्रा० प्र०, पृ० १।
८. **वृत्तरत्नाकर, पृ० ६-७।**

कर कई छंद उद्धृत किये हैं जिससे अनुमान होता है कि भामह ने कोई **छंद का ग्रंथ** भी लिखा था ।

४. राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुंतल पर अपनी 'अर्थद्योतनिका' नामक टीका में भामह के नाम से दो उद्धरण [1] दिये हैं जिनमें एक **छंद-विषयक** है और दूसरा **अलंकार-विषयक**, जो काव्यालंकार में नहीं हैं । इससे छंद-ग्रंथ की रचना की पुष्टि तो होती ही है, यह अनुमान भी होता है कि काव्यालंकार के अतिरिक्त भामह ने **काव्यशास्त्र का** कोई **अन्य ग्रंथ** भी लिखा था । इसका समर्थन काव्यालंकारसूत्र की कामधेनु-व्याख्या (गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल-रचित) के अनेक उद्धरणों से भी होता है । वे उद्धरण भामह के नाम से हैं पर काव्यालंकार में नहीं मिलते । भामह के जैसे सुधी आचार्य ने एकमात्र काव्यालंकार लिखकर संतोष कर लिया होगा, ऐसा संभव नहीं, पर उन्होंने और क्या-क्या लिखा, यह जानने का आज कोई साधन नहीं है ।

●

१. **अभिज्ञानशाकुन्तल (निर्णयसागर, १९०९ सं०), पृ० ४ और १० ।**

परिशिष्ट २

भामह द्वारा निर्दिष्ट ग्रंथों और ग्रंथकारों के नाम

नाम	परिच्छेद	कारिका
अच्युतोत्तर	२	१९
अश्मकवंश	१	३३
कणभक्ष (कणाद)	५	१७
न्यासकार	६	३६
पाणिनि	६	६३
पादकार	४	२२
मेधावी	२	४०
	२	८८
रत्नाहरण	३	८
राजमित्र	२	४५
	३	१०
रामशर्मा	२	१९
	२	५८
शाखावर्धन	२	४७
शालातुरीय (पाणिनि)	६	६२
सूत्रकृत्	४	२२

परिशिष्ट ३

पाठभेद

प्रस्तुत पाठभेद काव्यालंकार के जिन संस्करणों पर आधृत हैं उनका उल्लेख 'आमुख' में हो चुका है।

श्रीरामशास्त्री के संस्करण में पाठभेद-संबंधी विशेषता न होने से उसका निर्देश नहीं किया गया है।

आरम्भ की संख्या परिच्छेदान्तर्गत कारिका की है और क, ख, ग, घ उन संस्करणों के संकेत हैं जिनका निर्देश 'आमुख' में है। कारिका देखने से ही पूर्वार्ध अथवा उत्तरार्ध का बोध हो जायगा अतः उसका पृथक् निर्देश नहीं है।

प्रथम परिच्छेद

कारिका-संख्या	पाठ	संस्करण
८.	यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः।	क, ग, घ
	... ... काव्यलक्ष्मणि।	ख
९.	लोको युक्तिः कला चेति मन्तव्या काव्यगैर्वशी।	क, ग
	... ... काव्यगैर्ह्यमी।	ख
	... ... काव्यवैखरी।	घ
१२.	अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।	क, ग, घ
	नाकवित्व ... ... ।	ख
१३.	न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।	क, ग, घ
	... ... वनिताननम्।	ख
१८.	अनिबद्धञ्च काव्यादि तत् पुनः पञ्चधोच्यते।	क, ख, ग
	... काव्यज्ञैः ... ।	घ
२३.	न चाभ्युदयभाक् तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे।	क, ख, घ
	... ... ग्रहणस्तवौ।	ग
२५.	प्रकृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना।	क, ख, ग
	संस्कृता ... ... ।	घ

२६.	कवेरभिप्रायकृतैः कथानैः कैश्चिदङ्किता ।	क, ग
	··· कथनैः ··· ।	ख
	··· ग्रङ्कनैः ··· ।	घ
२८.	संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक् तथा ।	क, ग
	संस्कृते ··· ··· ··· ··· ।	ख
	संस्कृताऽसंस्कृता ··· ··· ··· ।	घ
३९.	वेगुदाकेरिति च तान्नयन्ति वचनाद्विना ।	क, ग
	··· ··· तां ··· ।	ख, घ
	वेणुदारे ··· ··· ··· ··· ।	ङ
४०.	क्लिष्टं व्यवहितं विद्यादन्यार्थं विगमे यथा ।	क, ग
	··· ··· दन्यार्थं ··· ।	ख
	··· ··· वित्तेरन्यार्थं ··· ।	घ
५२.	सङ्गमात्पाण्डुपत्रस्य गण्डः साधु यथोदितम् ।	क, ग, घ
	··· ··· ··· ··· ··· यथोदितः ।	ख

द्वितीय परिच्छेद

६.	स लोलमालानीलालिकुलाकुलगलो बलः ।	क, ख, ग
	··· ··· लीना ··· ··· ··· ।	घ
१२.	वाञ्छन्त्या यस्त्वं छिन्धि मुक्तानयस्त्वम् ।	क, ख, ग
	वाञ्छन् ज्यायस्त्वं ··· ··· ।	घ
२३.	निर्यान्तो मदयन्तीमे शक्रकार्मुककारणम् ।	क, ख
	··· मण्डयन्तीमे ··· काननम् ।	ग
	··· मदयन्तीमे शक्रकार्मुकवारणाः ।	घ
४५.	किञ्च काव्यानि नेयानि लक्षणेन महात्मनाम् ।	क, ख, घ
	किञ्चित् ··· ··· ··· ··· ।	ग
४७.	शाखवर्धनस्य ·· ·· ··· ।	क, ग
	शाखावर्धनस्य ·· ·· ·· ।	ख, घ
६२.	एतेनैवोपमानेन ननु सादृश्यमुच्यते ।	क, ख
	एकेनै ··· ··· ··· ·· ।	ग, घ
८८.	संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ।	क, ख, ग
	··· मेधावी ··· ··· ।	घ

९४.	आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन्मण्डलै रुदन् ।	क, ख, घ
	... ... र्नुदन् ।	ग

तृतीय परिच्छेद

१३.	शशिकान्तोपलच्छन्नं विवेद पयसां गणै: ।	क, ग
	... ... कणै: ।	ख, घ
१७.	तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात् क्रमशो यथा ।	क, ग
	... ... त्रिविधं ... ।	ख, घ
२०.	बहुसत्त्वाश्रयत्वाच्च सदृशत्वमुदन्वता ।	क, ग
	... ... सदृशस्त्व ... ।	ख, घ
४२.	प्रदाय वित्तमर्थिभ्यो स यशोधनमादित ।	क, ख, घ
	... ... मादित: ।	ग

चतुर्थ परिच्छेद

९.	विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं वि द्धं तूपदिश्यते ।	क, ख, घ
	निरुद्धार्थं ... ... ।	ग
११.	श्रेयसो विनयाधानमधुनातिष्ठ केवलम् ।	क, ग, घ
	श्रेय:सु ... ... ।	ख
१८.	इष्टं निश्चितये वाक्यं न वेलायेति तद्यथा ।	क, ख, ग
	... ... दोलायेत ... ।	घ
२२.	तमाप्तश्रावका: सिद्धे: शब्दहीनं विदुर्यथा ।	क, ग
	... श्रावकासिद्धे: ... ... ।	ख, घ
३४.	ऋषभात्पञ्चमात्तस्मात्सषड्जं धैवतं स्मृतम् ।	क, ख, ग
	... पञ्चम: ... ... ।	घ
३५.	इति सा धारितं मोहादन्यथैवावगच्छति ।	क, ग
	... साधारितं ... ... ।	ख, घ
४०.	तस्यैव कृतिन: पश्चादभ्यधापारशून्यताम् ।	क
	... ... च्चार ... ।	ख, ग, घ
४१.	अन्तर्योधशताकीर्णं सालङ्कायननेत्रकम् ।	क
	... ... नेतृकम् ।	ख, ग, घ
५१.	न चाभिमानेन किमु प्रतीयते ।	क, ख, ग
	... ... प्रतीतये ।	घ

पञ्चम परिच्छेद

६.	प्रत्यक्षं कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन ।	क, ग, घ
	... ... सतोऽ ... ... ।	ख
८.	तदपोहेषु च तथा सिद्धा सा बुद्धिगोचरा ।	क, ग, घ
	.. न ... ... ।	ख
९.	विज्ञानमात्र सादृश्याद्विशेषो स विकल्पना ।	क
	... ... विशेषोऽस्य ... ।	ग
	विज्ञानमात्रसादृश्याद् ... ... ।	ख, घ
१०.	अर्थादेवेति रूपादेस्तत एवेति न्यायतः ।	क, ख
	... ... नान्यतः ।	ग, घ
१२.	विविधास्पदधर्मेण धर्मी कृतविशेषणः ।	क, ख, ग
	विवादास्पद ... ... ।	घ
२१.	सन् द्वयोः सदृशे सिद्धो व्यावृत्तस्त द्विपर्ययात् ।	क, ख, घ
	... पक्षे ... ... ।	ग
६२.	लक्ष्मप्रयोगदोषाणां भेदेनानेकवर्त्मना ।	क, ग
	... . नानेन ... ।	ख, घ
३३.	तत्र लोकाश्रयं काव्यमागमास्तत्त्वदर्शिनः ।	क, ख, घ
	... ... संशिनः ।	ग
३४.	तदेव वापिसिन्धूनामहो स्थेमा महार्चिषः ।	क, ग
	... वापी ... ... ।	ख
	सदैव वारि ... ... ।	घ
३५.	रूपादीनां यथा द्रव्यमाश्रयो नश्वरीति या ।	क, ख, ग
	... ... नश्यतीति च ।	घ (३४)
४०.	परित्यागस्य कर्त्तव्यो नासां चतसृणामपि ।	क, ग
	परित्यागश्च ... ... ।	ख, घ
४१.	आहूतो न निवर्त्तेऽहं द्यूतायेति युधिष्ठिरः ।	क, ख, घ
	... ... निवर्त्तेय ... ... ।	ग
४६.	किमिन्द्रियद्विषा ज्ञेयं को निराकृतयेऽरिभिः ।	क, ग
	... ... निराक्रियतेऽरिभिः ।	ख, घ (४५)
४९.	कूजनात्कुरराणाञ्च कमलानाञ्च सौरभात् ।	क, ग
	... कुररीणाञ्च ... ... ।	ख, घ (४८)

५७. अयान् वृद्धानुशिष्टत्वात् पूर्वे कार्त्तयुगे यथा । क, ख, ग
... ... कृतयुगे ... । घ

६१. पदमेकं परं साधु नार्वाचीननिबन्धनम् । क, ख
... वरं ... ... । घ
... परं ... नार्वाचीनं ... । ग

६२. काव्यं कपित्थमामंवत् केषाञ्चित् सदृशं । क, ग
यथा ... ... यत् ... ... । ख
... ... यत् ... तादृशं ... । घ

६८. सृक्काकर्पूरचक्रागरुमनशिलाध्यामकाव्याप्ततीरः । क
... गरुक ... ... । ख
... ... गुरुमनः ... ... । ग
मुक्ता ... गरुक ... स्थासक । घ
शङ्खव्राताकुलान्तस्तिमिमकरकुलाकीर्णवीचीप्रतानो । क, ख, ग
... कुलोऽन्त ... ... । घ

षष्ठ परिच्छेद

३. शब्दरत्नं स्वयङ्गममलङ्कर्त्तुमयञ्जनः । क, ग
... स्वयङ्गम्य ... ... । ख, घ

५. नान्यप्रत्ययशब्दा वाग——मुदे सताम् । क, ग
... वागाविभाति ... । ख, घ

६. अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः । क, ख, घ
अन्ये ... ... । ग

१६. अन्यापोहश्च नामान्यवा (प ?) दार्थावा (पा ?) कृतिः किल । क
अन्यापोहश्च । नामान्यपदार्थापाकृतिः किल ... । ख, ग, घ

३४. प्रयुञ्जीताव्ययीभावमदन्तं नाप्यपञ्चमी । क, ख
... ... पञ्चमि । ग
... ... मदन्तादप्यपञ्चमि । घ
तृतीयासप्तमीपक्षे नालुग्विषयमानयेत् । क, ख, ग
... ... पक्षं ... ... । घ

४३. इभकुम्भनिभे बाला दधुषी कञ्चुके स्तनौ । क
... ... कञ्चुकं स्तने । ख, घ
निभौ ... ... । ग (४२)

४५.	शिशिरासारकणिकां सदृशस्ते तुकङ्कवत् ।	क
	... ... तु कङ्कवत् ।	ग
	... ... गङ्गवत् ।	ख
	... ... कणिकासदृशः सेतुगन्धवाट् ।	घ
	संवीजयति सुश्रोणि रतिखेदालसेक्षणाम् ।	क, ख, ग
	त्वां ... ... ।	घ
४८.	ताच्छील्यादिषु चेष्यन्ते सर्व एवात्र नादयः ।	क, ख
	... ... एव तृनादयः ।	ग, घ
	विशेषण च तत्रेष्टा युच्कुरज्वरजिष्णुचः ।	क, ख, घ
	विशेषणैव तत्रेष्टा युत्कुरज्वरजिष्णुचः ।	ग
५१.	अण् महारजनाल्लाक्षारोचनाभ्यां तथा च ।	क, ग
	ठक् अञ् ... ... ।	ख, घ
५४.	ततश्छमिष्ट्या च यथा सार्वः सर्वीय इत्यपि ।	क
	ततश्छमिष्ट्या ... ... ।	ख, ग, घ
६०.	... ... रं योगिनं वदेत् ।	क, ख, ग
	[न तवर्गं शकारेण क्वचित् सं] योगिनं . . ।	घ
६१.	सावर्ण्यवित्सयोभस्य ब्रूयान्नान्यत्र पद्धतेः ।	क
	सावर्ण्यवत् ... ... ।	ख
	... सयोर्भस्य ... ... ।	ग
	सावर्ण्यवज्झयो ह्रस्य ... ... ।	घ

संदर्भ-ग्रन्थों की सूची और संकेत

अ० शा०—अभिज्ञानशाकुंतल (कालिदास), निर्णयसागर प्रेस

अ० को०—अमरकोश

इं० एं०—इंडियन एंटिक्वेरी

का० प्र०—काव्यप्रकाश (मम्मट), वामन झलकीकर-कृत टीका-सहित, १९०५

का० द०—काव्यादर्श (दंडी), चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, १९५८

का० शा०—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), नि० सा० प्रेस, १९३४

का० सा० सं०—काव्यालंकारसारसंग्रह (उद्भट), द० ना० बनहट्टी-संपादित, पूना, १९२५

का०—काव्यालंकार (रुद्रट), नि० सा० प्रेस, १९०९

का० सू०—काव्यालंकारसूत्र (वामन) कामधेनु व्याख्या-सहित, कलकत्ता १९२२

च०—चंद्रालोक (जयदेव), गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बंबई, १९३९

ज० रा० ए० सो०—जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी

त० सं०—तत्त्वसंग्रह (कमलशील) बड़ौदा, १९२६

ध्व०—ध्वन्यालोक (आनंदवर्धन), नि० सा० प्रेस, १९३५

ध्व० लो०—ध्वन्यालोक-लोचन (अभिनवगुप्त), नि० सा० प्रेस, १९३५

प्र० रु० य०—प्रतापरुद्रयशोभूषण (विद्यानाथ), बालमनोरमा प्रेस, मद्रास १९५०

र० गं०—रसगंगाधर (पंडितराज जगन्नाथ), नि० सा० प्रेस, १९३९

व० जी०—वक्रोक्तिजीवित (कुंतक), डॉ० नगेन्द्र द्वारा संपादित, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९५५

वा० लं०—वाग्भटालंकार (प्रथम वाग्भट) चौखम्बा विद्याभवन, १९५७

स० कं०—सरस्वतीकंठाभरण (भोज), जीवानन्द-संपादित, कलकत्ता, १८९४

सा० द०—साहित्य-दर्पण (विश्वनाथ), हरिदास सिद्धान्तवागीश-कृत टीका-सहित, १८५६

श्लोकानुक्रमणी

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	कारिका	मुद्रित	शुद्ध
७	१३	तथान्यै	तस्यान्यै
७	१४	मलाङ्करं	मलङ्कारं
,,	,,	वाञ्छन्त्यङ्कृतिम्	वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्
२४	५०	गतिः	मतिः
२६	५४	माबब्ध	माबद्ध
३१	७ (अनु०)	अक्षर-भिन्न	अक्षर भिन्न
३६	१७	मंभिधेयैः	मभिधेयैः
३९	२३	वारणः	वारणाः
४१	२९	मरण्यानीः	ररण्यानीः
४४	३६	शखिनः	शाखिनः
५३	५८	ससृज्यमानः	संसृज्यमानः
५५	६६	लङ्कतयो	लङ्कृतयो
६५	९२	द्ग्धाद्ग्ध	दग्धादग्ध
६६	९४	वतारणीः	वतारिणीः
६९	७	'पार्थाय	पार्थाय
,,	,,	द्विः सन्दधाति	'द्वि सन्दधाति
७१	११	विहायोपवनं	विहायोपनतं
७५	२१	भृतार्था	भूतार्था
७७	२५	विदुबुधा	विदुर्बुधाः
,,	२६	धूरसौ	भूरसौ
८०	३७	यथोदिताम्	यथोदितम्
८४	५१	निशाकृतं	निशाकृतः
,,	५२	दुद्घटितेभ्यः	दुद्घट्टितेभ्यः
८५	५५	सौहृदस्या	सौहृदय्या

पृष्ठ	कारिका	मुद्रित	शुद्ध
९२	१५	स्उक्तय	उक्तस्य
९७	२७	र्हति त्वाद्य	र्हस्यद्य
९८	३०	गरुद्रमे	गुरुद्रुमे
१०६	५१	प्रतीयते	प्रतीतये
१०९	६	सतोऽर्थादिति	ततोऽर्थादिति
१११	८	न तथा	च तथा
११४	११	चापरं	चापरे
११६	१४	बाल्यास्सूनु	बाल्यात्सूनु
११७	१५	हेत्वपवादिनी	हेत्वपबाधिनी
१२०	२३	पादानं	पादाने
१२७	३४	यथा द्रव्य	यथाद्रव्य
१३२	४४	किमत्ययं	किमित्ययं
१४२	६९	कृती दृष्टवा	कृतीर्दृष्ट्वा
१५०	१५	विद्वद्भ्यो	विद्वद्भ्यः
१५१	१७	मृग्यता	मृंग्यता
१५४	२४	ब्रयात्	ब्रूयात्

(१) प्रथम परिछेद की १५वीं कारिका का पूर्वार्धं दो बार (पृ० ७ और ८ में) छप गया है। अर्थ की अन्विति की दृष्टि से ७वें पृष्ठ में ही उसे रहना चाहिए, ८वें पृष्ठ का अनपेक्षित है।

(२) पृ० ११ में १९वीं कारिका का पूर्वाध छूट गया है जो इस प्रकार है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत् ।

(३) पृ० १३२ से १३४ तक की कारिकाओं की संख्या में उलटफेर हो गया है जो इस प्रकार होना चाहिए—

किमिन्द्रयद्विषा ज्ञेयं ... ...
... ... सौकर्यं दर्शयत्यसौ ।।४६।।
हेतुस्त्रिलक्ष्मैव मतः ... ... ।
... ... केवलावर्थसिद्धये ।।४७।।
यथाऽभितो वनाभोग ... ... ।
... ... कमलानाञ्च सौरभात् ।।४८।।
अन्यधर्मोऽपि तत्सिद्धि ... ... ।
... ... प्रदेशस्यानुमामिव ।।४९।।
अपृथक्कृतसाध्योऽपि ... ... ।
... ... विनैवार्थगतिर्यथा ।।५०।।

(४) पृ० १५४ में महाभाष्य के उद्धरण के अनुवाद में 'यजुर्वेद की सौ शाखाएँ के बदले 'यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाएँ' होना चाहिए ।

(५) पृष्ठ ६३ की ८६ संख्यक कारिका में 'समुदायाभिधानस्य' का अर्थ अमुद्रित रह गया है :

समुदायाभिधानस्य=समुदाय के कथन का, अर्थात् संपूर्ण कथन का। हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार न मानने का कारण भामह यह देते हैं कि वहाँ संपूर्ण कथन में, अर्थात् काव्य के पूरे अर्थ में वक्रोक्ति का अभाव रहता है और जब वक्रोक्ति नहीं तो अलंकार कैसा ?

(६) पृ० ११४ की ११वीं कारिका के उत्तरार्ध का अनुवाद—

दूसरों के अनुसार ज्ञाता का नित्य संबंध से वस्तु को देखना अनुमान है।

नान्तरीय का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु के बिना नहीं रहना— यः अर्थः यम् अथम् अन्तरेण न भवति स नान्तरीयः, अर्थात् दो वस्तुओं का नित्य संबंध। आग और धुएँ के नित्य संबंध को जाननेवाला व्यक्ति जब-जब धुएँ को देखता है तब-तब उसे आग का ज्ञान होता है। यह ज्ञान आग और धुएँ के नित्य संबंध के आधार पर ही होता है। अतः यह भी अनुमान ही है।

दिङ्नाग के अनुमान-संबंधी इस मत में लिंग-कल्पना का अभाव है अन्यथा बात प्रायः वही है जो कारिका के पूर्वार्ध में कथित है।

(७) पृ० १३२ में ४६वीं कारिका के अनुवाद की तीसरी पंक्ति में (कृपण) के बाद पूर्ण विराम होगा।

उसके अनंतर जो अनुवाद का अंश है वह यों होना चाहिए—

'किम्' ऐसा जो यह आक्षेप है वह अर्थ के सौकर्य को प्रदर्शित करता है।

कारिका की प्रथम दो पंक्तियों में 'किम्' के द्वारा आर्थी प्रतिज्ञा की प्रतीति के जो उदाहरण हैं उन्हीं का यह स्पष्टीकरण है। उपर्युक्त उदाहरणों में प्रतिज्ञाएँ शाब्द न होकर 'किम्' के द्वारा आक्षिप्त हैं।